ऊर्मिला
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

ऊर्म्मिला

(प्रबन्ध काव्य)

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

अत्तरचन्द कपूर ऐण्ड सन्ज़

दिल्ली अम्बाला आगरा जयपुर नागपुर

प्रकाशक
अत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्ज़,
काश्मीरी गेट, दिल्ली।

प्रथमावृत्ति

मूल्य १२) रुपये

Printed at Kapur Printing Press, Delhi, by L. Guran Ditta Kapur.

अनुक्रम

पूजनीय दद्दा
(बाबू मैथिलीशरण गुप्त)
के वरद करों में
सादर

--बालकृष्ण शर्मा

श्रीलक्ष्मणचरणार्पणमस्तु

यह ऊर्म्मिला है। यह ग्रन्थ, वर्षों के उपरान्त अब प्रकाशित हो रहा है। इस विलम्ब को मैं क्या कहूँ? अपना बहुधन्धीपन? अपना प्रमाद? प्रकाशन के प्रति मेरा अपना विराग? मेरा नैष्कर्म्य-भाव? बड़ा कठिन है यह स्व-विश्लेषण-कार्य। मनुष्य स्वभावतः अपने प्रति पक्षपात करता है। अपने को यथावत् देखने में वह हिचकता है। अपनी नग्नता को वह निज के अचेतन और अर्धचेतन के आवरण में लपेटे रहता है। इस दुर्बलता से मैं मुक्त नहीं हूँ। इस कारण मेरे लिये यह कठिन है कि इस विलम्ब को यथार्थ रूप में जान सकूँ। कदाचित् जो बातें मैंने ऊपर गिनाई हैं वे सभी इस विलम्ब के लिये उत्तरदायी हैं जब यह प्रयास आरम्भ हुआ था, तब से अब तक परिस्थितियों में और मुझ में अनेक परिवर्तन हो गए हैं। और, एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि इन सब परिवर्तनों, इस सब उथल-पुथल के बीच, ऊर्म्मिला के स्तवन की लालसा और उस स्तवन को प्रकाश में लाने की इच्छा—चाहे वह इच्छा बाँझ ही क्यों न हो—मेरी जीवन-संगिनी रही है। मुझे इस गुण-गान में कितनी सफलता मिली है, इसका अनुमान मैं नहीं लगा सका हूँ। मेरे लिये इतना ही अलम् है कि मुझे ऊर्म्मिला माता की कथा कहने की प्रेरणा मिली। जीवन में साधना का अभाव है। माता ऊर्म्मिला के पुनीत चरित्र का बखान करने के लिये साधक होना, भक्त होना, श्रद्धायुक्त होना और सुष्ठु कलाकार होना आवश्यक है। मुझ में इन गुणों का नितान्त अभाव है। फिर भी, सती ऊर्म्मिला की कथा कहने की प्रवृत्ति मेरे मन में जागी,—यही क्या कम सौभाग्य की बात है?

हाँ, तो माता ऊर्म्मिला के स्तवन की लालसा मेरी जीवन-संगिनी रही है। मैंने इस कथा का आरम्भ जिस समय किया था, वह समय अब इतिहास में परिणत हो गया है। क्यों? इसलिये कि मैंने इस कथा को आज से सैंतीस वर्ष पूर्व आरम्भ किया था। सन् १९२१-२३ के डेढ़ वष के कारावास-काल में मैंने इसे लिखना प्रारम्भ किया। देश के प्रायः पचास-साठ सहस्र जन उन दिनों कारागार में डाल दिये गए थे। उत्तर प्रदेश के हम कई सहस्र प्राणी, जो राजनीति-चेतना-युक्त थे, पकड़ लिए गए थे। उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस समिति के सदस्य के नाते

मैं तथा मेरे और ५४ साथी, सन् १९२१ के दिसम्बर मास की १३वीं तिथि को, प्रयाग में, उक्त कांग्रेस समिति की बैठक करते हुए, धर लिये गए थे। ग्रेट ब्रिटेन के राजकुमार, जो पंचम जार्ज की मृत्यु के उपरान्त अष्टम एडवर्ड के रूप में ब्रिटिश साम्राज्य के सम्राट् हुए और तदनन्तर अब ड्यूक आफ विंड्सर हो गए हैं, उन दिनों भारत-भ्रमण कर रहे थे। कांग्रेस ने उनका बहिष्कार किया था। दमन का चक्र तीव्रता से चल रहा था। कांग्रेस संस्था अवैध घोषित कर दी गई थी। कांग्रेस जन कारागार में ढकेल दिये गए थे।

प्रयाग के मलाका कारागार की एक घुड़साल---अर्थात् बैरक—न्यायालय के रूप में परिणत की गई। उन दिनों, जहाँ तक स्मरण आता है, नॉक्स नामक एक अंग्रेज़ प्रयाग का ज़िलाधीश था। उसने हम पचपन लोगों को डेढ़-डेढ़ वर्ष का कारावास दण्ड दिया। हम लोग कई टोली में विभक्त कर दिये गए। कुछ नैनी केन्द्रीय कारागार भेजे गए। कुछ आगरा कारागार गए। और, कुछ बनारस। मैं बनारस पहुँचा अपने अन्य साथियों के साथ। प्रथम बनारस केन्द्रीय कारागार, तदुपरान्त बनारस जिला कारागार में हम रखे गए। पश्चात् प्रान्त भर के सब उच्च श्रेणी के बन्दी लखनऊ ज़िला कारागार भेज दिये गए। इस प्रकार घूमता-घुमाता मैं लखनऊ पहुँचा।

लखनऊ में सात बन्दी भयानक समझे गए। उनके नाम ये हैं---जवाहरलाल नेहरू, स्वर्गीय जॉर्ज जोज़ेफ, स्वर्गीय महादेव देसाई, पुरुषोत्तमदास टण्डन, देवदास गान्धी, परमानन्दसिंह (बलिया) और बालकृष्ण शर्मा। अतः ये सब एक छोटी घुड़साल में बन्द कर दिये गए। सब से अलग। इस सब मण्डली में देवदास गान्धी और मैं दो ही छोटे, अथच अध्यापनीय थे। अतः जवाहर भाई हम लोगों को अंग्रेजी तथा भूमिति (जियामेट्री) पढ़ाया करते थे। हम लोगों ने वहाँ, जवाहर भाई से मैकबेथ (शेक्सपियर का दुखान्त नाटक) आद्योपान्त पढ़ा। उसी समय से मैं समझा कि जवाहर लाल जी बड़े अच्छे शिक्षक हैं। उनका वह स्कूल मास्टरी का अभ्यास अभी तक नहीं छूटा है।

इसी समय मेरे मन में यह विचार आया कि ऊर्म्मिला पर कुछ लिखना चाहिये। अतः मैंने १९२२ ई० के नवम्बर के अन्त में या दिसम्बर के आरम्भ में ऊर्म्मिला लिखनी आरम्भ की। प्रथम सर्ग लखनऊ कारावास में, प्रायः एक-सवा मास में, लिखा गया। जनवरी सन् १९२३ के अन्त में हम लोग कारागार-मुक्त हुए। उसके उपरान्त बाहर के झंझट

में फँसा और ऐसा फँसा कि ऊर्म्मिला को फिर से प्रारम्भ करने का अवकाश ही न मिला। सन् १९३० में दो बार छः-छः मास का कारावास दण्ड मिला। तब लिखने का विचार आया। पर उस वर्ष कारागार में भी नेतागीरी ने मेरा पिण्ड न छोड़ा। ऊर्म्मिला-लेखन का विचार यों ही विफल रहा।

इसके उपरान्त सन् १९३१ के दिसम्बर मास में मैं फिर पकड़ लिया गया। इस बार मुझे ढाई वर्ष का कारावास दण्ड मिला। इस बार मैंने दृढ़ विचार कर लिया कि इस कारावास की अवधि में ऊर्म्मिला समाप्त करनी है। बाधाएँ तो बहुत आईं। कारागार के भीतर मार, पीट, लड़ाई, झगड़े, एक कारागार से दूसरे में स्थानान्तर आदि अनेक विपदाएँ झेलनी पड़ीं। पर, व्याघातों के आते हुए भी, सन् १९३४ के फ़रवरी मास में मैं जब बाहर निकला तो ऊर्म्मिला समाप्त कर चुका था। प्रथम सर्ग और बाद के सर्गों के लिखे जाने में प्रायः बारह वर्षों का व्यवधान है। हाँ, एक बात आश्चर्यजनक है। मैं जितना नित्य लिखता था तो नीचे तिथि डाल दिया करता था। एक बार मैंने पाण्डुलिपि से सब तिथियों को जोड़ कर यह जानना चाहा कि अन्ततः मुझे इसके लिखने में कितना समय लगा। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मैंने यह देखा कि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ को लिखने में मैंने सवा चार-साढ़े चार मास से अधिक समय नहीं लिया। समाप्त तो यह ग्रन्थ सन् १९३४ में हो चुका था। पर, प्रकाशित अब हो रहा है। प्रशंसा कीजिये-यह है मेरा योगः कर्मसु कौशलम्।

जब मैंने अपने एक मित्र को यह सूचना दी कि मैं ऊर्म्मिला समाप्त कर चुका हूँ, तो वे सूखे से मुँह से बोले--हूँ! फिर थोड़ी देर के पश्चात् बोले—यह तुमने क्या किया? ऊर्म्मिला पर काव्य-ग्रन्थ क्यों लिखा? वही पुरानी बात। यदि प्रबन्ध काव्य ही लिखना था तो कुछ और विषय चुनते। तुम ने ऊर्म्मिला पर लिखकर अपना समय ही गँवाया। स्मरण रखिये कि मैं इन मित्र का आदर करता हूँ। उनकी रसज्ञता एवं साहित्य-परख का मैं कायल हूँ। पर, मैं उनके इस कथन से सहमत नहीं हो पाया। मैं यह नहीं कहता कि प्रबन्ध काव्य के लिये नए विषय नहीं मिल सकते या नए विषयों को लेकर प्रबन्ध काव्य की रचना नहीं हो सकती। मेरा मतभेद तो उनके इस सिद्धान्त से है कि पुराने विषयों या व्यक्ति-विशेषों पर आज कल प्रबन्ध काव्य लिखना समय गँवाने के

सदृश है। पुराने विषयों को भी नवीनता से सुसज्जित किया जा सकता है।

और फिर, नया क्या है? फूल, कोकिल, पपीहा, शारदीया पूर्णिमा, रिम-झिम मेहा, लूक-लपट, आँसू, हिचकी, चुम्बन, परिरम्भण, संध्या, ऊषा, निशीथ, मिलन, मधुमय यामिनी, अंधकार, प्रकाश, सभी कुछ तो पुराने-धुराने हैं? मनोराग भी पुराने हैं और उनकी अभिव्यक्ति के साधन—ये शब्द--भी बहुत पुराने हो गए हैं। फिर भी नित्य प्रति कुछ न कुछ लिखा-पढ़ा जाता है और मानव समाज उस अभिव्यक्ति में नयापन अनुभव करता है। वस्तुतः अभिनवता, नवीनता, मौलिकता बहुत अंशों में कलाकार की अनुभूति पर अवलम्बित है। अतः काव्य के लिये ऐतिहासिक-पौराणिक विषय, केवल मात्र चर्वित-चर्वण के तर्क के आधार पर, त्याज्य या वर्ज्य नहीं हो सकते।

हाँ, प्रश्न यह अवश्य उठाया जा सकता है--और उठाया गया है--कि क्या आज का युग प्रबन्ध काव्यों के लिये उपयुक्त है? यह प्रश्न वास्तव में विचारणीय है। वर्तमान काल में प्रबन्ध काव्यों की रचना के लिये जो बातें बाधा-स्वरूप समझी जा सकती हैं वे हैं--(१) भाषा के गद्य स्वरूप का और छापेखाने का परिपूर्ण विकास (२) साहित्य में उपन्यास शैली का आविर्भाव, (३) पद्यात्मक शैली की अपेक्षा गद्यात्मक शैली की अभिव्यक्ति-सरलता एवं अर्थ-ग्रहण-सुकरता, (४) गद्य की अपेक्षाकृत बन्धन-मुक्तता–अर्थात् अनुप्रास, यमक, यति, गति, मात्रा आदि के बन्धन का गद्य में तिरोधान, (५) वर्तमान जीवन की द्रुतगतिमत्ता, अतः उसमें समय के अभाव की स्थिति, (६) विज्ञान-प्रभाव के कारण मानव की रोमांचवादी वृत्ति का लोप, (७) पुरातन कालीन दैवी तत्वों को काव्य में प्रविष्ट करने की वृत्ति का वर्तमान विचार के साथ असामञ्जस्य, (८) वर्तमान जीवन की संकुलता (complexity), अतः उस जीवन में ऋजुता और सहज विश्वास का अभाव, (९) सत्-भाव, सत्-विचार, सत्-आचरण के प्रति–अर्थात् जीवन के शाश्वत मूल्यों के प्रति अनास्था, अश्रद्धा और उपेक्षा, और (१०) पुरातन कालीन अनन्त, असीम, विशाल, विराट्, अपरिमितता (Vastness) का वर्तमान विज्ञान द्वारा लघ्वीकरण। इन कारणों को उपस्थित किया जा सकता है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिये कि वर्तमान काल प्रबन्ध काव्यों या विराट् काव्यों (Epics) के लिये उपयुक्त काल नहीं है।

सम्भव है, इन कारणों के अतिरिक्त और भी कुछ कारण हों जो महाकाव्यों और विराट् काव्यों के निर्माण के लिये वर्तमान युग की अनुपयुक्तता सिद्ध करने के पक्ष में दिये जाते हों। मैंने उपर्युक्त कारण किसी ग्रन्थ से नहीं लिये हैं। मैंने अपने ही मस्तिष्क को खरोंच-खरोंच कर ये दस कारण ढूँढ निकाले हैं। इन कारणों पर विचार करना उपयुक्त होगा या नहीं, यह प्रश्न मेरे सामने है। यह प्रश्न मेरे मन में क्यों उठा? इसीलिये कि साहित्य-कला-कृतियों के निर्माण सम्बन्धी कारणों के ऊहापोह को मैं एक सीमा तक ही उपयुक्त समझता हूँ। सामाजिक एवं बाह्य परिस्थितियों के ऊपर इस प्रकार कला के विकास को आधारित करना कुछ अंशों में लाभप्रद होते हुए भी, कुछ अंशों में अवैज्ञानिक भी है।

ग्रीस के—पेरिक्लीस कालीन एथेन्स के—कला विकास को तत्कालीन एथीनियन समृद्धि एवं एथेन्स के निवासियों की आर्थिक निश्चिन्तता पर पूर्ण रूपेण आधारित करना जिस प्रकार एक उपहासास्पद प्रयास है, यूरोपियन रिनाएसाँस—यूरोपीय साहित्य-कला-पुनरुज्जीवन-प्रवाह—को जिस प्रकार केवल तत्कालीन परिस्थितियों पर अवलम्बित मानना एक अवैज्ञानिक उपक्रम है, उसी प्रकार, उपर्युक्त कारणों के आधार पर वर्तमान युग को महाकाव्य या विराट् काव्य के अनुपयुक्त मानना अनुचित और अवैज्ञानिक है। ठीक है, पेरीक्लीस का एथेन्स नगर-राज्य धन-धान्य पूर्ण था, लोगों को निश्चिन्तता थी, अतः वह नैश्चिन्त्य और अवसर एक सीमा तक कला-विकास में सहायक हुआ। पर, अवकाश और नैश्चिन्त्य मात्र से सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, फ़ीडियास, अनेक दुःखान्त नाटकों के लोकोत्तर रचयिता, आदि, विभूतियाँ कैसे प्रसूत हो गईं? इसी प्रकार जो व्यक्ति यूरोपीय पुनरुज्जीवन काल को वणिक् वर्गीय, अभिजात वर्गीय मानते हैं, वे भी भूल करते हैं—अर्थात् वे लोग जो उस पहली वेगशालिनी जीवन-लहर को केवल मात्र भौतिक, सामाजिक परिस्थिति से निःसृत मानते हैं, वे वास्तव में अवैज्ञानिक और प्रतिक्रियावादी हैं। तत्कालीन युग में इटली में वेनिस और जिनोआ प्रदेश वणिक्-व्यवसाय-दृष्टि से बड़े समृद्ध नगर थे। वहाँ यूरोपीय पुनरुज्जीवन का कोई भी प्रतिनिधि कलाकार, साहित्य-स्रष्टा, तत्ववेत्ता उत्पन्न नहीं हुआ। उस पुनरुज्जीवन-प्रवाह के भागीरथ हुए उस फ्लोरेन्स प्रदेश में जो अभिजात वर्गीय प्रभाव से आक्रान्त

नहीं था। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य-विकास को एक कालीन युग-परिस्थिति पर आधारित करने का प्रयास बहुधा हास्यास्पद हो जाता है। और इसलिये मैंने अपने सम्मुख यह प्रश्न रखा था कि मैं महाकाव्य और विराट् काव्य की सृष्टि की असंभावना के वर्तमान कालीन कारणों पर विचार करूँ या न करूँ।

सूक्ष्म में मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि मैं वर्तमान युग को विराट् काव्य कृतियों या महाकाव्यों के सृजन के लिये अनुपयुक्त नहीं मानता। यों, यह बात तो प्रत्यक्ष है ही कि समूची मानवता के इतिहास में व्यास, वाल्मीकि, वर्जिल, कालिदास, गोएथे, शेक्सपियर, आए दिन पैदा नहीं होते। सिहन के लँहड़े नहीं। पर चूँकि शेक्सपियर अब नहीं होते—इसलिये यह तो नहीं कहा जा सकता कि अब नाटकों का युग समाप्त हो गया? इसी प्रकार यदि वाल्मीकि और कालिदास अब नहीं होते तो यह कैसे कहा जा सकता है कि विराट काव्यों या महाकाव्यों का युग समाप्त हो गया? अभी तक प्रबन्ध काव्यों, महाकाव्यों की सृष्टि होने की क्रिया चल रही है। मन्द या तीव्र गति का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रबन्ध-काव्यों की ओर आज भी प्रवृत्ति है। अतः मैं यह बात मानने में असमर्थ हूँ कि महाकाव्यों, प्रबन्ध-काव्यों का सृजन-प्रयास इस युग की प्रवृत्ति के प्रतिकूल है। हाँ, विराट् काव्यों (Epics) का सृजन इधर सहस्राब्दियों से नहीं हुआ है। कदाचित् आगे भी न हो। पर, इसके लिये किसी युग की परिस्थितियों को उत्तरदायी समझना उचित न होगा। विराट् काव्यों के रूप में प्रागैतिहासिक कालीन मनीषियों ने, जो थाती मानवता को दी है वह आगे आने वाले युगों तक उसके लिये पर्याप्त है।

मेरी इस "ऊर्म्मिला" में पाठकों को रामायणी कथा नहीं मिलेगी। रामायणी कथा से मेरा अर्थ है क्रम से राम-लक्ष्मण-जन्म से लगाकर रावण-विजय और फिर अयोध्या-आगमन तक की घटनाओं का वर्णन। ये घटनाएँ भारतवर्ष में इतनी अधिक सुपरिचिता हैं कि इनका वर्णन करना मैंने उचित नहीं समझा। इस ग्रन्थ को मैंने विशेषकर मनःस्तर पर होने वाली क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का दर्पण बनाने का प्रयास किया है। रामायणीय घटनाओं का राम, सीता,

सुमित्रा, कौशल्या, और विशेष कर लक्ष्मण और ऊर्म्मिला के मनों पर क्या प्रभाव पड़ा, वे उन घटनाओं के प्रति किस प्रकार प्रतिकृत हुए, आदि का वर्णन ही इस ग्रन्थ का विषय बन गया है। इस में जो कुछ कथा भाग है वह गृहीत है—वर्णनात्मक, अर्थात् घटना-विवरणात्मक नहीं।

मैंने राम वनगमन को एक विशेष रूप में देखने और उपस्थित करने का साहस किया है। राम की वन-यात्रा, मेरी दृष्टि में एक महान् अर्थपूर्ण आर्य-संस्कृति-प्रसार-यात्रा थी। "ऊर्म्मिला" में लक्ष्मण के मुख से जो यह बात मैंने कहलवाई है, वह कदाचित पुरातन विचार वादियों को न रुचे। पर, जितना भी मैं इस राम-वन-गमन पर विचार करता हूँ उतना ही मैं इस बात पर दृढ़ होता जाता हूँ कि राम की वन-यात्रा भारतीय संस्कृति-प्रसारार्थ, एक महान् यज्ञ के रूप में थी।

मैंने ऊर्म्मिला को 'जनकनंदिनी' कहा है। कुछ मित्रों ने मुझे बताया कि ऊर्म्मिला जनकदेव के अनुज सांकाश्या के राज कुशध्वज की पुत्री थीं। इस के सम्बन्ध में मैंने वाल्मीकि रामायण देखी। उस से मुझे ज्ञात हुआ कि सीता और ऊर्म्मिला - दोनों जनकदेव की ही पुत्री थीं। वाल्मीकि में श्लोक आते हैं कि जनकदेव ने रघुकुल के गुरु मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ को सम्बोधित करते हुए कहा—

सीता रामाय भद्रं ते ऊर्म्मिलां लक्ष्मणायच।
वीर्यशुल्कां मम सुतां सीतां सुरसुतोपमाम्॥
द्वितीयामूर्मिलां चैव त्रिददामि न संशयः।

—मैं बड़ी प्रसन्नता के साथ अपनी दो पुत्रियों में से वीर्यशुल्का तथा देवकन्या सदृश सुन्दरी सीता, राम को, और दूसरी कन्या ऊर्म्मिला, लक्ष्मण को दे रहा हूँ। यह बात मैं दृढ़ता के साथ तीन बार कहता हूँ।

आगे चल करके आदि-कवि ने महामुनि विश्वामित्र के मुख से राजा जनक को सम्बोधित करते हुए कहलाया है कि—

वक्तव्यं च नरश्रेष्ठ श्रूयतां वचनं मम।
भ्राता यवीयान् धर्मज्ञ एष राजा कुशध्वजः॥
यस्य धर्मात्मनो राजन् रूपेणाप्रतिमं भुवि।
सुताद्वयं नरश्रेष्ठ पत्न्यर्थं वरयामहे॥

भरतस्य कुमारस्य शत्रुघ्नस्य च धीमतः ।
वरयेम सुते राजंस्तयोरर्थे महात्मनोः ॥

—हे नरश्रेष्ठ ! मुझे आप से एक बात और कहनी है। उसे भी आप सुन लें। यह जो आपके लघु भ्राता कुशध्वज हैं, इन धर्मात्मा के भी अति सुन्दरी दो कन्यायें हैं। उन दोनों कन्याओं को भी मैं राम के भाई भरत तथा शत्रुघ्न के लिए आप से मांगता हूं।

इन अवतरणों से यह स्पष्ट है कि ऊर्म्मिला राजा जनक की और माण्डवी तथा श्रुतिकीर्ति जनक के अनुज राजा कुशध्वज की पुत्रियाँ थीं। आदि कवि ने स्पष्ट रूप से ऊर्म्मिला को जनक नन्दिनी ही माना है।

मेरा यह काव्य-ग्रन्थ पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। यह कैसा है, इसका निर्णय वे स्वयं करें। इस व्याज से मेरी भारती सीता-राम और ऊर्म्मिला-लक्ष्मण का गुण गा सकी—इसी में मैं उसकी सार्थकता मानता हूँ।

मेरे अन्य काव्य ग्रन्थों के सदृश, जो या तो प्रकाशित हो चुके हैं या हो रहे हैं, यह ग्रन्थ भी प्रकाश में न आता यदि आयुष्मान् पंडित प्रयाग नारायण त्रिपाठी मेरी सहायता न करते। पाण्डुलिपि से उतरवाने से लगाकर पुनरावृत्ति तक के सब कार्यों में चिरंजीवी प्रयाग नारायण मेरे सजग सहायक रहे हैं। उनके इस अकारण स्नेह से मेरा रोम-रोम भींजा हुआ है। उन्होंने मुझे जो साहाय्य प्रदान किया है उसके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं।

५, विंडसर प्लेस
नई दिल्ली।
२६ जनवरी, १६५७

बालकृष्ण शर्मा

प्रोत्साहन

१

चलो, हे मेरी टूटी कलम,
चलो उस ओर, किसी के पास ;
छोड़ दो कलियुग की मसि यहीं,
करो त्रेता युग में कुछ वास ;
किसी के हृदय-खंड की व्यथा,
सुनो; कर दो न्योछावर प्राण;
किसी की धीमी-धीमी आह
करे तुम को कुछ-कुछ म्रियमाण;
अश्रु का बिन्दु, शोक का सिन्धु,
व्यथा का असि रूपी नव इन्दु,
जहाँ है उदित, क्षुब्ध, निर्झरित
उधर को चलो छोड़ भव सिन्धु ।

२

तुम्हारे पीछे-पीछे चला--
आ रहा हूँ मैं भी, चंचले,
पुरातन त्रेता युग का मार्ग
हुआ है लोप, निशीथांचले ;
कहीं इस घनी कुहू को देख
न रहना बैठ, न जाना हार,
ढूंढने निकली हो तुम आज
मूक भावों का पारावार;
ढूंढ लाओ उसको तुम, अरी--
लेखनी, हो जाओ कृत कृत्य ;
शुष्क कागद के कोनों बीच,
हो उठे नव करुणा का नृत्य ।

३

पुरातन बाल्मीकि के गूढ़
भाव-भृंगों के मुखरित झुंड,
अछूता छोड़ गये जो पुष्प,
उसी के रस से पूरित कुंड,
विकल हो, ढूंढ निकालो, और
करो पीयूष चरित का पान,
बनो रस-सिक्त सुनाओ अखिल
विश्व को निज रस-सिक्ता तान ;
न हो आलस्य, न हो उद्रेक,
न लाओ अपने मन में भ्रान्ति,
ऊर्म्मिला की आहों को सुना
करुण रस में कर दो कुछ क्रान्ति ।

४

पूज्य तुलसी की माला बड़े–
वड़े मनकों से गुम्फित हुई,
राम-सीता के अविचल भक्ति–
भाव से ही है चुम्बित हुई ;
लेखनी, यह छोटा मनका, न–
कहीं दिखलाई पड़ता वहाँ,
हृदय की आकुलता कह रही :
आह ! यह छोटा मनका कहाँ ?
न लाओ बेर, लगाओ टेर,
सुनेगी वह मिथिला नन्दिनी,
सुमित्रा माँ की वह प्रिय बहू,
लखन के जीवन की चाँदनी ।

५

कई शत वर्ष गए हैं बीत
सहस्रों की गिनती हो रही ;
सुभग साकेत हुआ है खेत,
हाय! मिथिला शिथिला सो रही;
और वे भव्य भूरि प्रासाद
याद में भी कुछ-कुछ मिट गये ;
किन्तु, लेखनी, आज भी वही
गान हम को तो हैं नित नये ;
इसी से तुम से मैं बहु बार,
कह रहा हूँ--तुम डूबो आज,
अगम सम्पूर्ण भूत के गर्भ--
सिन्धु में सज जीवन के साज ।

६

सुनेगा कौन ?—अरी दुर्वृत्ति,
विश्व-गायन को किसने सुना ?
प्रकृति माता की शीतल पवन—
लोरियों को किस-किस ने सुना ?
दुधमुँहे शिशु का क्रन्दन करुण—
कौन सुनआ है ? देखो अरे,
अनोखी, विकृत, बावली तान—
सदा है शुष्क बुद्धि से परे ;

नहीं होगा यह कोई काव्य,
अरे, यह तो है स्पन्दन मात्र
कहीं यदि काँपा,—तो फिर देख,
सिहर उट्ठेंगे सारे गात्र ।

७

कई अव्यक्त भावना भरे—
बज उठेंगे वीणा के तार ;
कई प्यारे फूलों से गुँथे—
हिल उठेंगे क्रीड़ा के हार !
कई कोमल चुम्बन से पगे—
कँपेंगे नव व्रीड़ा के प्यार ;
कई ; हृत्खंड-बेधन-क्षम
होंगे कट्टर पीड़ा के वार ;

लेखनी, टूटी हो ? हाँ, बनी रहो,
सह जाओ यह गुरु भार,
ऊर्म्मिला-पद-पद्मों की धूलि
तुम्हें पहुंचावेगी उस पार ।

प्रार्थना

१

देवि, ऊर्म्मिले, तेरी अकथित गाथा गाता हूँ मैं ;
किंवा तव चरिताम्बुधि-मज्जन के हित आता हूँ मैं ;
अति अगम्य बलवती लहर है, थाह न पाता हूँ मैं ;
हृदय-शिला पर तव चरणों को, देवि, बिठाता हूँ मैं ।

२

सती, मुझे वर दो कि भारती मेरी हो कल्याणी ;
मैं लघु शिशु हूँ, बुद्धिहीन हूँ और निपट अज्ञानी ;
वैयाकरणी मैं न, असंस्कृत है यह मेरी वाणी ;
किन्तु कृपा की भीख माँगता हूँ, हे लक्ष्मण रानी ।

३

यह कर्कश रव रुके और मैं सुनूँ वही झंकार—
वह स्वर—जिसको नित रोते हैं तव चरणालंकार ;
निपट बली तेरे प्रियतम के धन्वा की टंकार,
और, सती, तव पद नख हर लें मम मूढ़ाऽहंकार ।

४

कोटि-कोटि कटुता में जीवन कटता है दिन रात ;
जीवन, शुष्क, शूल-कीर्णित है, औ' छिलते हैं गात ;
उद्विग्ना प्रवृत्ति भटकाती मन को सायं-प्रात;
किस से कहें ? कौन सुनता है ? किस के जोड़ें हाथ ?

५

जनक नन्दिनी, देवि ऊर्म्मिले, तू करुणा की मूर्त्ति ;
तव चरणों का ध्यान हृदय को देता है सुस्फूर्त्ति ;
तेरे आशीर्वचन करें मम इच्छा की सम्पूर्त्ति ;
भ्रमित चित्त मेरा होवे तव करुण शान्ति की मूर्त्ति ।

६

तेरे अटल भरोसे पे यह मैंने ओढ़ा भार ;
यही वन्दना तव मृदु चरणों में मेरी इस बार–
ये भाव प्रसून , जिन से मैं गूथूँगा यह हार,
सूख न जावें; यह माला हो विघ्न रहित तैयार ।

ध्यान

खचित शोक-रेखा है जिसके द्युति विहीन आभरणों में,
अलकावली-ग्रथित, श्रीहत हैं कुंडल जिसके कर्णों में,
अकथित करुण कथा बहती है जिसके कल-कल झरनों में,
नत हो जा, हे नास्तिक मस्तक, उसके युग श्री चरणों में ।

पुर-प्रदक्षिणा

१

चलो देखें जनक की राजधानी,
विराग 'रु भोग की नगरी पुरानी ;
नृपति जिस देश के हैं तत्त्वज्ञानी,
जिन्हें सम हैं ज्वलित अंगार, पानी ।

२

शिथिल-सी कल्पने, यह पुण्य धाम—
करुणरस मूर्त्ति का है पितृ-ग्राम ;
ठहर प्राचीर बाहर, एक याम,
करो सुप्रदक्षिणा नयनाभिराम ।

३

नगर प्राचीभिमुख है 'ब्रह्मद्वार,'
जिसे प्रति प्रात बालातप निहार—
सुमन-से मृदु करों का विमल हार—
मुदित मन दे रहा है बार-बार ।

४

विमोहक जगन्नाटक सूत्रधार—
सुगूढ़ ज्ञेय तत्त्वों का प्रसार—
सदा क्यों कर रहा है बार-बार ?
यही संकेत करता पूर्व-द्वार ।

५

न तुम भूलो कि यह है आर्य्य नगरी ;
यहाँ, ऐ कल्पने, हो जा सजग, री ;
निपट संकेतमय है यह सुभग, री ;
यहाँ है गूढ़ आशय-युक्त डगरी ।

६

सुदृढ़ है, शक्तिशाली द्वार यह है ;
प्रतापी राज-असि की धार यह है ;
पुरस्कृत शिल्प विद्या सार यह है ;
धरा-धारी धनुष का भार यह है ।

७

अनेकों क्रुद्ध रिपुओं के दलों को–
दलित करके चखाया कटु फलों को,
वही प्राचीर यह, आर्य्य-स्थलों को,
सुरक्षित कर रही है निर्म्मलों को ।

८

विपुल शस्त्रास्त्रों से पोषिता है ;
शतघ्नी-घोष से उद्घोषिता है ;
सुधन्वा धीर नर से ऊशिता है ;
धनुष-भाले-गदा से भूषिता है ।

९

द्विशत पादावली के अन्तरों पर–
बने हैं शिखरधारी बुर्ज सुन्दर ;
जहाँ से नौबतों की चोब सुनकर–
जनक-रिपु काँपते हैं भीत, थर-थर ।

१०

इधर यह 'दक्षिणेन्द्र-द्वार', नव है ;
जनाता चण्ड रवि का खर विभव है ;
विदेही नृपति का यह कीर्त्ति-दव है ;
जलाता जड़ अकर्म्मों का कुरव है ।

११

नृपति ने दिशा दक्षिण द्वार वर को–
निवेदित है किया इन्द्र प्रवर को ;
प्रखर संकेत कर, प्रति आर्य्य नर को–
दिखाता कर्म्म-पथ शर-चाप-धर को ।

१२

पुनीता साँझ को वन्दन समय जब,
जिधर, मुख फेरतीं नर नारियाँ सब
उधर को दीखता 'यम द्वार' है अब ;
कि मानो दीखता है विश्व विप्लव ।

१३

उधर यह पूर्व 'ब्रह्म-द्वार' प्यारा–
दिखा उत्पत्ति-तत्त्वों का पसारा,-
बहाता नव्य रस की गान-धारा ;
इधर 'यम द्वार' ने लय को सँभारा ।

१४

उधर उत्पत्ति है तो इधर लय है ;
उधर जीवन नवल का यदि प्रणय है,--
इधर तब क्षुब्ध सरिता शान्तिमय है ;
जनक-नगरी, अहो, निर्भ्रान्तिमय है ।

१५

सुपश्चिम द्वार बनवा कर, नृपति ने–
समर्पित है किया यम को सुमति ने ;
कि मानों पथ दिखाया समय-गति ने,
सुरति का हाथ पकड़ा या विरति ने ।

१६

उधर है उत्तरीय-द्वार भारी,
सुसेनापति षडानन ध्रुव प्रहारी–
जिसे रक्षित किये रिपु-मान-हारी,-
भगाते हैं व्यथाएं दूर सारी ।

१७

इसे शुभ 'कार्त्तिकेय-द्वार' कह कर–
नगरवासी सिहाते हैं निरन्तर ;
ध्वजा फहरा रही है यह मनोहर ;
बताती है रणांगन-मार्ग सत्वर ।

१८

नगर चहुँ ओर सुन्दर क्षेत्र सारे,
मनोहर हरित-सा परिधान धारे,
पवन सँग कर रहे हैं नृत्य प्यारे ,
कि मानों जलधि कल्लोलित हुआ, रे ।

१९

कहीं बैठे मुदित हैं भूमि-स्वामी ;
कहीं वे हो रहे वृषभानुगामी ;
कहीं गाएँ चराते हैं अकामी ;
मधुर यह स्थान 'गोपुर-धाम' नामी ।

२०

विमल उपवन इधर को आ मिले हैं;
सुरभिमय पुष्प जिन में ये खिले हैं;
जुही के भुज समीरण से हिले हैं;
चमेली-नयन-सम्पुट अध खिले हैं।

२१

निपट निःशंक विहँगों की अवलियाँ—
हठीली चूमती हैं फूल-कलियाँ;
निनादित हो रही हैं कुंज गलियाँ
चतुर मालिन चुनै है फूल डलियाँ।

२२

थकित-सी, कल्पने, सुप्रदक्षिणा यह—
हुई सम्पूर्ण, लो अब दक्षिणा यह—
चलो देखें पुरी सुविचक्षणा यह—
जनक नृप रक्षिता, शुभ लक्षणा यह।

———

जनकपुर-प्रवेश

१

धीरे, रम्ये, जनक नगरी, सौख्य सम्पत्ति धाम,
तेरे वासी सतत रत हैं ईश-सेवाभिराम ;
कोई दृग्गोचर नर नहीं हो रहा दुष्ट, वाम ;
शान्ते, तेरी सुभग धवला देहली में प्रणाम ।

२

आ पैठी तू, चकितमति, हे, चित्त की वृत्ति मेरी
खोई-सी क्यों इधर फिरती दर्शनौत्सुक्य-प्रेरी ?
खोले आँखें, मुदित मन हो, देख शोभा घनेरी–
रम्ये, होवे हृदय-तल की भावना पूर्ण तेरी ।

३

प्राचीरों के सुदृढ़ गढ़ को विज्ञ कारीगरों ने–
रक्खा है क्यों विलग पुर से, शिल्प-विद्याधरों ने ?
क्यों छोड़ा है नगर-गढ़ के बीच सुस्थान ख़ाली ?
कैसी वीथी-परिधि यह है वेदियों से सँभाली ?

४

ब्रह्म-ज्ञानी जनकपुर की शुद्ध-सी मेखला है ?
या नारी की मृदुल कटि की धर्म की शृंखला है ?
किंवा माला जनक-यश की शुभ्र पुष्पों मयी है ?
या लोगों के विमल हिय से गान-धारा बही है ?

५

मन्त्रोच्चारी. सु-पट पहने, ब्राह्मणों की कतारें—
प्रातः सायं पुर-परिक्रमा को यहाँ पाँव धारें ;
रम्या वीथी यह मुदमयी 'मंगलावीथि' नामा—
दु:ख-क्लेशोद्भव भय-व्यथा मेटती है अकामा ।

६

क्यों जाते हैं प्रतिदिन सभी पौर ये घूमने को ?
क्यों जाते हैं नगर भर की धूल को चूमन को ?
ये संकेताक्षर कठिन हैं, गूढ़ भावों भरे हैं !
सीधी-सादी यह परिक्रमा मूढ़ता के परे है ।

७

आकृष्टा हो जिस नियम से भू सदा घूमती है—
संलग्ना हो जिस नियम से डालियाँ झूमती हैं—
गूढ़ ज्ञानी, जनकपुर में, हैं वही देखते ये,
विश्वों की हैं द्रुत परिक्रमा-शृंखला पेखते ये ।

८

प्राची से, जो सुपथ, नृप का पश्चिमान्त प्रदेश—
बाँधे है, ज्यों ललित दुलही प्रेम की गाँठ शेष ;
शोभा में है अमित, वह है 'राजमार्ग' प्रसिद्ध,
व्यापारी के सकल जिससे कार्य-व्यापार सिद्ध ।

९

सींचा जाता नित जल-कणों से सदा राजमार्ग ;
मीठी-मीठी कलित कलिका गंध से पूर्ण मार्ग ;
क्या ही शोभामय यह पुरी है विदेही, अनंगा,
मानो भू में, अहह, प्रकटी आन आकाश-गंगा ।

१०

भारी-भारी अतुल रथ से मार्ग है खूब पूर्ण;
धीरे-धीरे शकट चलते हैं किए भूमि चूर्ण ;
हस्त्यश्वों के विकट रव से गूँजती हैं अटाएँ
शस्त्रास्त्रों की खर चमक है या कि विद्युच्छटाएँ ?

११

इन्द्रद्वारात्-प्रसृत पथ है उत्तरीया दिशा में,—
फैला यों, ज्यों स्वरित रव हो मूर्छिता-सी निशा में ;
देखो, है 'वामन सुपथ' की शान्त शोभा अखण्ड,
शिल्पी का है यह सुखद-सा शान्तिदा कीर्त्ति-दण्ड ।

१२

रम्योद्यानों मय यह पुरी शोभती यों अनूपा,
मानो कोई नवल तरुणी मोद-मुग्धा, सरूपा, अलंकार
क्रीड़ोत्कण्ठामय चपलता की हठीली लरी-सी,
फूलों वाली हरित लतिका से सजी वल्लरी-सी ।

१३

धीरे-धीरे पवन बहती, गुल्म औ' पुष्प नाना—
उद्ग्रीवी हो तरणिवर को चाहते हैं बुलाना ;
स्निग्धच्छाया मय सघन-से नीड़ से बोलते हैं—
पक्षी बैठे,—मुखरित, अहो, माधुरी घोलते हैं ।

१४

ले आए हैं सकल जग की स्नेह की येपिटारी,
आ बैठे हैं जनकपुर की वाटिका में विहारी ;
क्यों जाता है, पथिक, अब तू दूसरी ठौर ? आ, रे,
सारे त्रेता युग मधुर की माधुरी है यहाँ, रे !

१५

डाली-डाली मधुर स्वर से गूँजती है निराली;
मूर्च्छापूर्णाऽकुल झपकती आँख में है सुलाली;
सद्यःस्नाता सदृश, टहनी बिन्दुओं से भरी है,
मानो धीरा अचल वसुधा अर्घ्य ले के खड़ी है।

१६

तुष्टा हृष्टा जब चहकतीं पक्षियों की कतारें–
तो एकाकी झनक उठतीं कल्पना की सितारें;
सारे वासी इस नगर के, नादिता गान धारा–
की तानों में, मुदित करते पुण्य सुस्नान प्यारा।

१७

क्यारी-क्यारी मधुरस भरी यों सुहाती सलौनी,
ज्यों होली के नवल दिन में रंजिता, रंग लौनी,–
भ्रान्ता कान्ता, मधुरस भरी, हो सुहाती सुरम्या,
भू की भव्या सरस सुषमा डोलती हो अगम्या।

अलंकार

१८

कुंजों-कुंजों किरण कर से, रीझ के अंशुमाली–
पा जाते हैं सुमृदुल जुही की वही ओष्ठ–जाली;
फूली-फूली विपिन भर में डोलती है चमेली,
मानो मुग्धा, श्वसुर गृह में, पा गई प्रेम-बेली।

९१

न्यारी-न्यारी गुनगुन-मयी तान-झंकार पूरे–
ऐंठे से ये अलिगण सभी गान-झंकार पूरे–
उन्मत्तों के सदृश फिरते बाग में लुब्ध यों हैं,
मानों योगी विरत रस में लीन सम्मुग्ध ज्यों हैं।

अलंकार

२०

चौड़े-चौड़े, सुखद गृह-से, बाग में स्थान हैं ये-
मानों धारे थकित नर के शान्त-से प्राण हैं ये ।
माली माला ग्रथित करते हैं यहाँ मोहनी-सी,
स्नेहाकृष्टा विमल नवला ग्रीव में सोहनी-सी ।

२१

स्वच्छा वापी, विपुल जल से, प्रेम की गाँठ जोड़े,-
उत्पीड़ा से जनित भव की भ्रान्ति को दूर छोड़े,
बैठी यों है जनकपुर की प्रीति से रीति जोड़े,
जैसे कोई अविचल सती नेह का वस्त्र ओढ़े ।

२२

आ जाती हैं पुरजन प्रिया नेह में ये पगी-सी,
गोरी बाहें अमल सुपटावेष्टिता हैं, ठगी-सी ;
मानो कोई लचक लतिका भक्ति के भाव धारे,
पुष्पाविष्टा, मुदित मन हो, नाचती कुंज-द्वारे ।

२३

प्रातः सायं पुरजन यहाँ, भक्ति से वन्दना को,
शान्तिः सेवी शमन करते चंचला स्पन्दना को-
आते हैं ; ज्यों विकल बछड़े गाय के, रज्जु तोड़े -
दौड़े आते, भव-विभव का व्याधि-सम्बन्ध छोड़े ।

२४

ये वापी, ये कमल सर, ये रम्य-से कूप नाना,
कल्लोलों से कलित करते ग्राम्य के रूप नाना ;
मानों सारी जनक नगरी, प्रेम की जलपना को-
पानी द्वारा गदित करती कारुणी कल्पना को ।

२५

ये देखो, हैं जनकपुर की उच्च अट्टालिकायें ;
शिल्प्यार्यों की स्वकर ग्रथिता ये बड़ी मालिकायें;
आंखें देखें इस विभव की आर्य-आभा सलौनी,
मानी, रक्षारत, प्रिय, गुणी भूप की कीर्त्ति-छौनी।

२६

आर्यों के ये सुखद गृह हैं स्वच्छता के सुधाम ;
स्निग्धा, मन्दा सतत बहती वायु है अष्ट याम;
चौड़े वातायन सुभग से, झांकते अंशुमाली,
चन्द्र-ज्योत्स्ना, कलित कलिका डाल जाती निराली ।

२७

पूता वेदी चतुर कर ने प्रांगणों में गढ़ी है,–
मानो याञ्चा, नत शिर किये, हाथ जोड़े, खड़ी है ;
प्रार्थी नारी-नर जब यहाँ बैठते आस-पास,
नक्षत्रों का तब प्रकट हो दीखता भव्य रास ।

२८

सामाजीय-प्रगति-रथ के जो यहाँ सारथी हैं–
पुण्यश्लोका गहन जिनकी पुण्यदा भारती है–
वे हैं सु-ब्राह्मण दृढ़व्रती, धर्मधारी, तपस्वी,
योगाभ्यासी, विगत कामा, ,तत्वदर्शी, मनस्वी ।

२९

लम्बे-लम्बे सबल भुज से देश-स्वातन्त्र्य प्यारा–
रक्खे हैं जो अभय बन के, सींच हृद्-रक्त-धारा;
वीरों में हैं मुकुटमणि वे क्षत्रियों के सु-झुण्ड ;
छेत्ता हैं वे प्रखर असि से दस्युओं के नृ-मुन्ड ।

३०

धन्वाधारी यदपि, फिर भी हैं न ये क्रूर दुष्ट,
धारे हैं ये निज हृदय में पूर्ण निर्लोभ तुष्ट,
सौम्या निष्ठा इस दृढ़ सुहृद्देश से यों बही है,
पाषाणों को, त्वरित सरणी, तोड़ के ज्यों गई है।

३१

व्यापारी हैं, कृषक वर हैं, वैश्य ये द्रव्य वाले,
लक्ष्मीसेवी, सकल जग की वाटिका को सँभाले ;
ले-ले आते शकट भर के दूर से वस्तु सारी,
ज्यों फूलों से मधु, भ्रमर हैं खींचते, हो सुखारी।

३२

ये वे हैं जो सतत रत हैं--पूज्य सेवी बने हैं,
वृक्षों, पुष्पों सदृश नित सेवा-रसों में सने हैं ;
देते हैं ये सकल जग को गूढ़ शिक्षा सुरम्य;
'सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः'।

३३

उत्फुल्ला हैं , मृदुरस सनी हैं गृह-स्वामिनी ये ;
आर्य्या भू का अमल धन हैं मञ्जु-सी भामिनी ये ;
उत्संगों में सतत अपने देश की कीर्त्ति-लाज–
बैठाए ये नित कर रही हैं घरों में स्वराज।

३४

सौन्दर्यों के अमिय-वन के आम्र की कोकिलाएँ,
कर्त्तव्यों के कठिन स्वर में तान को हैं मिलाए,
वीरों के हृत्सर विमल की हैं निराली तरंगें,
वेदों के सुस्वर क्वणित की हैं अनूठी मृदंगें।

३५

हो जाता है नगर इनके श्री मुखों से प्रतिष्ठ;
छा जाती है सुखद सुषमा, दूर होता अनिष्ट ;
छाई मानों जनकपुर में ये नभो-तारिकायें–
आई हैं ये गलित करुणा से युता दारिकायें ।

३६

माताएं हो मुदित शिशु के खेल को जोहती हैं ;
मीठी-मीठी सरस बतियाँ चित्त को मोहती हैं ;
बाल-क्रीड़ा-मय भवन हैं, सौख्य-सौंदर्य-सिक्त,
आर्य्यों के हैं सदन शिरसा बाल-शोभाभिषिक्त ।

३७

शिक्षा पाते सुगुरुकुल में देश के ये कुमार ;
कैसा छाया सघन घन-सा शिक्षकों का दुलार ?
गुर्वाणी की यह बह रही वत्सला प्रीति धार,–
स्नानाकांक्षी पुर नगर के बाल आये अपार ।

३८

ऋग्वेदीय स्वरित रव से पूर्ण है सुप्रदेश ;
वेदांगों के जटिल विषयों की कथा है विशेष ;
विद्यार्थी की स्फुटित रसना संस्कृता हो रही है ;
प्रारब्धों की सुदृढ़ अथवा शृंखला खो रही है ।

३९

बैठे हैं यों गुरुजन यहाँ ब्रह्मचर्याश्रमों में ;
छाई हो ज्यों जल-घन-घटा राम गिर्य्याश्रमों में,
छोटे-छोटे विमल बटु हैं चातकों की कतारें–
बूँदों-बूँदों शमन करती प्यास हैं ज्ञान-धारें ।

४०

आओ, देखें अब जनक के राज्य के सूत्र नाना;
ढाँके हैं जो जनपद महा, रूप धारे विताना;
राज-प्रासाद निकट महा मन्त्रणागार दिव्य,
सामन्तों से, विबुध जन से हो रहा पूर्ण भव्य।

४१

धीमान् मन्त्री गण सकल हैं कार्य में पूर्ण दक्ष,–
निस्वार्थी हैं सतत रखते राज्य-सेवा समक्ष;
धर्म प्राणा सबल जनता की मनोकामनाएँ
होतीं पूरी सकल सुप्रजा की मनोभावनाएँ।

४२

तेजस्वी है सुजनपद का युद्ध सेना विभाग–
ऐसा तीव्र प्रखरतम है मूर्त्तिमान् सा निदाघ–
जो वैरी के सजल सर को सोखता है नितान्त,
आर्यों का है विमल धवला कीर्ति का मंजु कान्त।

४३

हैं अध्यक्ष प्रमुख इसके विग्रहों में यशस्वी,–
धारे हैं वे सचिव पद को, धीर हैं वे मनस्वी,
युद्धों में वे सतत रखते धर्म को हैं समक्ष,
रम्या 'जै' की मधुर ध्वनि हो पक्ष में या विपक्ष।

४४

मन्त्री संज्ञा परिचित किये है जिन्हें, वीतराग,–
हैं धारे जो निपुण कर में सन्धि वाला विभाग,–
वे ये मन्त्री सचिव वर के संग यों सोहते हैं।
जैसे-सन्ध्या-जल कण, शिरस्त्राण को मोहते हैं।

४५

साम्राज्यान्तर्गत विषय को देखते हैं अमात्य,
औदीच्यों की सकल सुविधा, ग्राम्य ये दक्षिणात्य–
पौर्वात्यों के नगर वन औ' पश्चिमी वीथियाँ ये,
सारी बातें, द्रुत सुलझतीं गूढ़-सी गुत्थियाँ ये ।

४६

राज्य-श्री को निरत चित से गोपते हैं सुमन्त्र,
निस्वार्थी हैं नित यह चलाते अहो राजतन्त्र–
मानो विश्वम्भर सजग हो पोषते हैं सुविश्व–
श्री लक्ष्मी से सतत नित संतोषते हैं सुविश्व ।

४७

त्रेता की है परम महती कीर्त्ति-गाथा अपार ;
जावेगी तू कब तक, कहाँ, कल्पने, हे असार ?
भूली-भूली अब तक फिरी है कहाँ से कहाँ तू ?
क्यों आई थी इस नगर में ? डोलती क्यों यहाँ तू ?

४८

तूने, मुग्धे, अब तक न खोजा है निज स्वामिनी को,
ए री बौरी, हृदय-नभ में क्यों भरा यामिनी को ?
मारी-मारी न फिर अब तू, चंचले, आ, चलें री,–
राज-प्रासाद मधुमय के, अञ्चले आ, चलें री ।

४९

ऊँचे-ऊँचे शिखरवर ये शोभते हैं निराले ;
या सोने के शुभ कलश हैं चाँदनी में सुढाले ;
सिंह-द्वारे सज कर खड़े अस्त्रधारी सुवीर–
क्षत्राणी के सजग सुत ये युद्ध के शूरवीर ।

५०

शिल्पी का, हाँ, यह महल है चातुरी का निशान,
आर्य्यावर्त्तीय सुचतुरता का अनोखा वितान;
भोगों का सम्पुट यह बना नेह का नव्य हार;
योगी की है यह गिरि-गुहा, ज्ञान का पुण्य द्वार।

५१

जीवन्मुक्त प्रखर नृप के योग की तीव्र धारा,–
स्नेहाविष्टा यह बह रही यों अनूठी अपारा,–
ज्यों सूखे से तरुवर महाऽश्वत्थ की एक डाली–
पत्राविष्टा नवल ऋतु में झूमती हो निराली।

५२

ऐसी पुण्या मधु सुरभि में, कल्पने, जायगी तू,
तेरी आशा-नवल-लतिका, हाँ, हरी पायगी तू,
माला गूँथे मत सुमन की;–साज कैसे सजेंगे ?
पावेगी जो मृदु चरण तो फूल तेरे लजेंगे।

× × × ×

प्यारे चरण मंगल करण
आ रही ह कल्पना मेरी तुम्हारे शरण
प्यारे चरण मंगल करण

३/६

प्रासाद-प्रांगण में

१

रुन-झुन, रुन-झुन, नन्हीं-नन्हीं पैजनियाँ झंकारें,–
चरण-चलन की प्रांगण भर में फैल रही गुंजारें;
किलक-किलक मधु स्रोत बहाती हैं विदेह की ललियाँ,
प्रात पवन में चिटखी हैं दो छोटी-छोटी कलियाँ ।

२

ये दो मुकुल जनकरानी की हैं जीवन प्रतिछाया,
वीतराग मिथिलेश-हृदय की ये हैं दोनों माया,
सीता और ऊर्म्मिला मानों सरस अमृत के कण हैं,
मौन प्रणय के पंचम स्वर में उद्गीरित गायन हैं ।

३

बाल-दशा मति-मुग्धाओं की, आओ, छवि अवलोकें,
आओ, प्यारे चरण-चिन्ह को चूमें इन विमलों के,
मधुरी-मधुरी, विश्व मोहिनी बतियाँ इनकी सुन ले,
हास-पुष्प-कीर्णित हैं, आओ, इन फूलों को चुन लें ।

४

काले-काले, लम्बे-लम्बे, केश-कलाप घने-से,–
उड़-उड़ कर समीर से क्रीड़ा करते प्रेम सने से,–
मानों गन्ध-लुब्ध सर्पों के कृष्ण झुण्ड मतवाले–
नाच रहे हैं, लोट-पोट हो, सुन्दर प्रातःकाले ।

५

तरल, तरंगित चिकुर-जाल यह कोमल और अमल है,–
तन्तुवाय के सूत्र-जाल सा अतिशय मृदुल, चपल है,
किसने एक-एक कुन्तल की यह बारीकी पेखी ?
ज्यामितिज्ञ की मनःकल्पना-रेखा जिस ने देखी ।

६

पास-पास विष्टरासीन जब ये दोनों होती हैं–
शुक्ति सम्पुटों में तब भासित होते दो मोती हैं ;
किंवा जनक-भवन में नभ से मिथुन-राशि आई हो,
अथवा दामिनि की दो किरणें पास-पास छाई हों ।

७

जब दोनों वेणियां परस्पर, उड़कर, जुट पाती हैं–
तब कृष्णा यमुना की गुँथ दो धारायें जाती हैं,
या दो कुहा निशायें करतीं आलिंगन लुब्धा हो,–
या दो परछाँही हैं भुज भर भेंट रहीं मुग्धा हो ।

८

सौम्य ललाट-शुभ्रता में है शुचिता खेल रही यों–
श्वेत कमल में अमल धवलता रह-रह खेल रही ज्यों,
भाल देश के ऊर्ध्वभाग में केश-वर्त्तुला-रेखा–
शोभित है ज्यों सान्ध्य-क्षितिज में अन्धकार की लेखा ।

९

जब ललाट पर अलकावलियाँ उड़-उड़कर आती हैं–
आँख मिचौनी तब केशों में मानों छिड़ जाती है ;
केश-पुंज-वेष्टित ललाट ये यों शोभित होते हैं–
ज्यों विहाग के स्वर ऊषा की गोदी में सोते हैं ।

१०

ये चारों ही चपला आँखें यों दौड़ी फिरती हैं,–
ज्यों गिर्योत्संगों से चपला धाराएँ गिरती हैं,–
शिशु-क्रीड़ा के निश्छल भावों की यह अविरल धारा–
बह-बह कर जीवन के दुख को कर देती है न्यारा।

११

भोली-सी ये चार अँखड़ियां डोल रहीं आँगन में,
फूली-फूली आनन्दित हैं फिरती इस प्रांगण में,
मानों वेदों की श्रुतियाँ हैं श्रवण छोड़ कर आईं,–
अथवा चतुष्कामनाओं ने अपनी छटा दिखाई।

१२

जनकप्रिया के मातृ-हृदय की ये आँखें लाडिलियाँ–
भक्तिप्रेम के यज्ञ-कुण्ड की हैं घृत-आहुति-पलियाँ,
श्यामा खचित भ्रू लताओं ने नयनों को जकड़ा है,
चंचलता के मन में मानों मोहन पाश पड़ा है।

१३

आँखों के द्वारे कुछ कुछ है कृष्ण लोम की शोभा,–
पक्ष्में, मानों, सम्मार्जनियां बन आईं निर्लोभा,
पलकें जब-जब झँपती हैं तब, मानों दो-दो तारे,–
बार-बार, मेघावृत होकर चमक रहे हैं न्यारे।

१४

लम्बी-सी सुडौल नासा में मुक्ता लटक रहे हैं,
अधर लालिमा से रंजित ये मोती मटक रहे हैं,
मानों मानसरोवर-तीरे राजहंस-हंसिनियाँ–
मुदित पान करती हैं सुन्दर मुक्त प्रेम की कणियाँ।

१५

इस जोड़ी के अधरों पे है लाली राज रही यों–
प्राची के मस्तक पर कुंकुम-बिन्दी भ्राज रही ज्यों,
ओष्ठ चतुष्टय पतले-पतले शोभित यों होते हैं–
मानों ढांपे दशन-मोतियों को रक्षक सोते हैं ।

१६

जब विकसित होती हैं दांतों की ये शुभ्र अवलियाँ–
तब उद्यानों में सकुचाती हैं सब नूतन कलियाँ ;
हास-पाश जब फैलाती हैं ये दोनों सुकुमारी–
तब अशक्त-सी बँध जाती है जनक-विराग-खुमारी ।

१७

कौन यहाँ से चला जायगा भवसागर तरने को ?
कौन अगस्त्य सोख सकता है इस छोटे झरने को ?
किसका है सामर्थ्य करे जो उल्लंघन यह सीमा ?
कहाँ छुपा है विरति-राग वह, जो न पड़ेगा धीमा?

१८

सीता के ताटण्क, ऊर्म्मिला की वह सुन्दर नथनी–
दूर फैंक देगी विदेह की वह विराग की कफनी ।
अखिल विश्व के पितृ-हृदय को मोहित कर सकती है,
वह वत्सलता है जो पत्थर लोहित कर सकती है ।

१९

खेल-खेल में शिर दोनों हिल जाते हैं मुदमय हो,
तब चारों कुण्डल हिलते हैं,–ज्यों मछली गुणमय हो,–
तड़प-तड़प कर प्रकटाती है निज हिय की व्याकुलता ।
कहो, कहीं देखी है ऐसी शोभामयी विपुलता ?

२०

गोल-गोल इन गालों की है अरुणाई कमनीया,
विश्व रचयिता के प्रमोद की गेंदें हैं रमणीया ;
आ बैठी है शतपत्री की इन में सब पाटलता,–
मिथिला की राज्ञी के हृत्तल की सारी कोमलता ।

२१

जब मधुरी मुसक्यान छबीली, मुख पर छा जाती है–
तब मृदु गण्ड-तरंग अनोखी छटा दिखा जाती है ।
इन छोटे मधुरस-कूपों की दुर्गम गहराई है–
हास-देश से हँसी अमिय-घट भरने को आई है ।

२२

गोरी-गोरी, छोटी-छोटी बाहें झूम रही हैं,
मृग-शावक-मण्डली उन्हें हो मोहित चूम रही है !
माता का ये कण्ठहार हैं चारों भुज वल्लरियाँ,
जनक देव ने रीझ सुनयना को दी हैं ये लरियां ।

२३

सीता, श्री ऊर्म्मिला बहन के डाल गले में बहियाँ,–
पुलकित हो बोली, मानों नव रस की बरसी फुहियाँ,
"प्यारी बहन ऊर्म्मिले, तुम हो मेरी अच्छी रानी,
आज सुनाओ तुम अच्छी सी मुझको एक कहानी ।"

२४

'सीता जीजी, तुम्हीं कहो कुछ पहले नई कहानी,
देखो, आँख मींच कर बैठी हूँ मैं बन कर ज्ञानी–
जैसे तात बैठते सुनने पूत वेद की गाथा,–
वैसे ही बैठी हूँ सुनने आज तुम्हारी बाता ।"

२५

यों कह कर ऊर्म्मिला ध्यान में मग्ना बैठ गई जब,–
सारी बाल-चपलता मानों हो एकत्र गई तब ;
देने लगी चुनौती मानों धीर भावनाओं को,–
ध्यानी के उन्नत ललाट की सहज सांत्वनाओं को ।

२६

झकझोरने लगी उसको हँस-हँस सीता सुकुमारी,
और, अचल-सी रही कनिष्ठा धीरा जनक दुलारी ;
"सीता जीजी," यों आँखों को मूँदे-मूँदे बोली–
"कथा कह रही हो कि खेलती हो तुम मुझ से होली ।"

२७

चुटकी से उसके गालों को सीता ने तब थामा,
वचनावलियाँ उच्चारित कीं उस ने ये अभिरामा,
"खोलो आँख ऊर्म्मिले, तुम पर जाऊँ मैं बलिहारी,
सन्ध्या करने को तो मैंने कहा नहीं था, प्यारी ?

२८

एक कहानी के बदले यह सन्ध्या क्यों करती हो ?
ऐ, री ढीठ, क्यों न मम बातें निज मन में धरती हो ?"
सुन सीता के वचन ऊर्म्मिला ने निज आँखें खोलीं,
मानों छोटी-सी हरिणी ने खोलीं आँखें भोली ।

२९

बड़े चाव से सीता उस से बोली प्यार पगी-सी,
मानों रह-रह कर होती है जागृत लगन लगी सी,
"बहन ऊर्म्मिले, चलो खेलने चलें अन्तरुपवन में,
माँ के लिए फूल तोड़ेंगी हम तुम उस उपवन में ।"

३०

"जीजी, माँ उन सब फूलों के हार गूँथ डालेंगी,
तात चरण को माला देंगी, वे निज व्रत पालेंगी,
एक बात मुझको बतला दो, मेरी जीजी रानी–
तात चरण आते हैं तब क्यों हँसती माँ कल्याणी ?

३१

मुसका कर माँ अपनी माला क्यों उनको देती हैं ?
फिर उन में से एक मांग कर आप पहन लेती हैं ?
एक बार मैंने माँ से यह बात पूछ जब ली थी,
तब बस उनने मेरी चुम्मी जल्दी से ले ली थी।

३२

किन्तु चूमकर, सुनो, रंच भी मुझे न बात बताई,
मुझसे कहा, अनोखी है, री, तेरी यह पगलाई !
इस में क्या पागलपन है, री जीजी, तुम्हीं बता दो ?
माँ की इन करतूतों का तुम मुझ को हाल जता दो।"

३३

सीता यह सुन उठी खिलखिला, मानों बिखरे मोती;
खिसक गई मस्तक से छोटी सी वह शुभ्रा धोती,
"सुन प्यारी ऊर्म्मिले, मुझे ये बातें ज्ञात नहीं हैं,
माता ने मुझको भी तो ये बातें नहीं कही हैं।"

३४

यों आपस में बातें करती चल दीं दोनों बहनें,
रूप रंग में हैं समान, ये विदेह-गृह के गहने,
उपवन में दोनों बहनों की जब आ बैठी जोड़ी,
तब फूलों में लगी परस्पर होने होड़ा-होड़ी।

३५

कहने लगा गुलाब,–"गुलाबीपन ? यह तो मेरा है,"
बोला कमल–"नेत्र विस्फारण, क्या यह भी तेरा है ?"
जुही चहकने लगी–"ग्रहो, यह कोमलता किसकी है ?"
पारिजात बोला–"स्वर्णीया रेखा यह जिसकी है ।"

३६

विहगों में भी होड़ लग गई वहाँ ग्रतीव ग्रनूठी,
शुक सारिकादि विहगावलियाँ ग्रापस में सब रूठीं,
"मेरा है यह रव"–यों मैना बोल हुई मतवाली,
"यह चापल्य ?–बतादे तू ही रे उपवन के माली–"

३७

यों कह खञ्जन लगा फुदकने पत्तों डाली-डाली ;
पिक बोला–"मैं ने ही तो यह कण्ठ-ध्वनि है ढाली,"
सारे उपवन में, वृक्षों से चहके वृन्द विहग के,
स्वागत-सूचक जय-ध्वनि निकली कण्ठों से सब खग के ।

३८

प्रति डाली का फूल किये था ग्रर्पण ग्रपने मन को,
इन कर कमलों में देने को उत्सुक था निज तन को,
प्रति कुञ्जों से यही भावना मयी तान उठती थी,
ग्रात्म-निवेदन की मंगलमय गान धार लुटती थी ।

३९

उड़ ग्राते निर्भीक खञ्जनों के वे दल चंचल थे,
प्रकटाते कन्धों पर बैठे-बैठे प्रेम ग्रचल थे ;
कभी नासिका देख ऊर्मिला की सकुचाता शुक था,
सीता के नयनों से खञ्जन को होता कुछ दुख था ।

संस्कृत भाषा का प्रभाव
समास-शैली

४०

पर्यंकों पर बैठ गईं वे दोनों इस उपवन में,
मानों लावण्यों की जोड़ी उदित हुई कानन में,
सीता-भुज-वेष्टिता-ऊर्म्मिलाऽविष्टा-सीता मुग्धा,—
एक दूसरी से होती थीं शोभित दोनों लुब्धा ।

४१

"देखो जीजी, एक कहानी माँ ने मुझे कही थी,
एक कपोती जब उपवन में उड़-उड़ खेल रही थी ;
माँ आई थीं कुसुम-चयन को सँग आई मैं भी थी,
तब यह कथा सुनाई थी, मैं गोदी में बैठी थी "

४२

वचन ऊर्म्मिला के सुन सीता हो उत्फुल्लित बोली—
मानों डोल उठी उपवन में पञ्चम स्वर की टोली—
"अच्छी है ऊर्म्मिला, —कहेगी मुझसे वे सब बतियाँ—
जैसे चकई कथा सुनाया करती सारी रतियाँ ।"

४३

"जीजी, मैं तो पहले तुम से सुन लूँगी कुछ बातें,
तब अपनी रसना खोलूँगी, जान गई ये वातें,—
तुम सुन-सुन कर चुप हो जाती, मुझको नहीं बताती,
एक कहानी कहने में तुम मुझसे हो सकुचाती ।"

४४

तब सीता निज मृदुल ओष्ठ द्वय को अति धीरे-धीरे—
खींच ले गई बहन ऊर्मिला के कर्णाम्बुधि तीरे,
और कहा कुछ, जिसको सुन कर कनीयसी मुसकाई,
मानों भ्रमर-गीत को सुनकर कलियाँ हों हरखाई ।

४५

"आहा ! कहो, अरी जीजी, तुम यह तो कथा कहो, री,
कहो, कहो, मत देर लगाओ, बातों में न बहो री ;
फिर मैं, अहा, सुनाऊँगी, री, तुमको एक कहानी,
जिसको सुन, तुम हो जाओगी जीजी, पानी-पानी ।"

४६

"सुन रानी ऊर्म्मिले, कई-सौ बीत चुकी हैं बरसें–
युद्धोद्यता एक बाला तब निकली थी निज घर से,
तात चरण ने हो प्रसन्न जो कथा कही है मुझसे–
वही कह रही हूँ मैं, मेरी बहिन, ऊर्म्मिले, तुझसे ।

४७

पौर जानपद का प्रिय सुयशी एक नृपति नरवर था,
शुभ गान्धार देश पर उस का शासन अति शुभ-कर था;
दुष्ट वैरियों के दलने में सूर्य समान प्रखर था,
प्रजा पालने में वह राजा पूरा इन्द्र प्रवर था ।

४८

एक सर्वगुण सम्पन्ना थी उसकी अच्छी रानी,
सफल राज्य में सींच रही थी वह करुणा का पानी,
लहराती थीं प्रजा जनों की मनोवाञ्छायें यों–
इन्द्रलोक में देव-गणों की सब आकांक्षायें, ज्यों ।

४९

सब ओरों से पर्वत माला घेरे थी जन-पद को,
माता के समान, रखती थी दूर सदा कुविपद को,
शुभ्र हेम-हिम से आच्छादित उसकी शिखरें सारी,
नवल उषा उन पर मोहित हो, जाती थी बलिहारी ।

५०

स्वर्ण छटा से जब आलोकित होती पर्वत श्रेणी,
तब मानों रवि किरण गूँथती थी उसकी शुभ वेणी,
पर्वत माला अपने हिय का हिम पिघला-पिघला कर,
सूर्य देव को जलार्घ्य देती थीं हिय को विकसा कर।

५१

गा कल-कल-विभास-स्वर झरने सब दौड़े फिरते थे,
एक दूसरे के अङ्कों में हो प्रसन्न गिरते थे;
उस पार्वत्य प्रदेश-भूमि में नित ऐसी लीलायें,—
नृत्य सदा करती थीं होकर अति क्रीड़ा शीलायें।

५२

रंगमञ्च गान्धार देश था चिर नर्तकी प्रकृति का,
जहाँ खेल होता रहता था प्रकृति नटी की कृति का,
दुर्गम छोटे-छोटे पर्वत-मार्ग अनेक खचित थे—
मानों भूधर के ललाट पर चिन्ता-चिन्ह रचित थे।

५३

पर्वत पादस्था उपत्यका शोभित यों होती थी—
आरोहण की लय अवरोहण में मानों सोती थी;
पर्वत की शुभ्रता और भू की कालिमा निराली,—
मानों श्वेत कृष्ण केशों की बनी हुई थी जाली।

५४

ऊपर से झरने गाते थे, नीचे से सब पक्षी,
मानों लगा रहे थे प्राणों के पण आन विपक्षी,
आँख फाड़ कर देख क्या रही हो, ऊर्म्मिला सलोनी?
कथा सुन रही हो कि नहीं, री, तुम छोटी सी छौनी?"

५५

"जीजी, दो-दो काम कहो मैं कैसे करूँ? बताओ?
कथा सुनूँ? या शोभा देखूँ? यह मुझ को समझाओ;
ऐसी-ऐसी बड़ी-बड़ी ये बातें तुम ने जानीं?
जीजी, तुम तो बन बैठी हो बस पूरी गुर्वाणी!

५६

जब तुम झरने, फूल, पक्षियों की बातें करती थीं,–
जब तुम पर्वत-शोभा कह कर मेरा मन हरती थीं,–
तब मैं समझ रही थी मानों तात चले आये हैं–
कह-कह कर ये बातें मेरे मन को उलझाये हैं।"

५७

"मैं जब अच्छी कथा कह रही होती हूँ तब तुम यों–
सदा, ऊर्म्मिले, बीच-बीच में बकती जाती हो क्यों?
मैं क्या करूँ? तात ने जैसी बातें मुझे बताईं–
वे सब मम हिय में चित्रित हो आज उभर कर आईं।

५८

अब न बीच में गड़बड़ करना, तुम अब सुनती रहना–
प्यारी-प्यारी यह छोटी सी सारी गाथा, बहना!
हाँ, तो मैं क्या कहती थी? हाँ, हाँ, गान्धार नगर में–
राज्य कर रहा था नृसिंह इक राजा उस प्रान्तर में।

५९

उस राजा के एक कुँवर था, और एक थी कुँवरी,
सुनती हो?"–"हाँ, एक कुँवर था और एक थी कुँवरी।"
"राजा शिक्षायें देता था शास्त्र शस्त्र की उनको,
दी थी गुरु ने निर्म्मल दीक्षा कई अस्त्र की उनको।

६०

वे दोनों राजा रानी के, जीवन के तारे थ,
कई उन्होंने अपने ऐहिक सुख उन पर वारे थे,
माँ की प्यारी गोदी में जब दोनों छुप जाते थे–
स्नेह-भाव रानी के उस क्षण अद्‌भुत सुख पाते थे।"

६१

"जीजी, क्या ही अच्छा होता यदि तुम-हम वे होते,
मैं भगिनी, तुम तात चरण के होतीं बस इकलौते,
हम तुम दोनों ख़ूब देखते पर्वत की शोभा को,
दीप्तिमान शिखरों की सारी आभा मन-लोभा को।"

६२

"फिर बोलीं तुम?"–"अच्छा, अच्छा अब न कभी बोलूँगी
कहे चलो तुम, कभी न अपनी अब जिह्वा खोलूँगी।"
"अच्छा, फिर बस इसी तरह कुछ बरस कट गये उनके,
दोनों भाई-बहन, सुनो, आगार हो गये गुन के।

६३

राजा की उस प्यारी बेटी की सुकान्ति कमनीया–
चमक-चमक कर दिग्दिगन्त में व्याप्त हुई रमणीया,
वह पार्वत्य प्रदेश हुआ अति मुखरित उस की छबि से–
ज्यों प्रातर्वेला होती है मुखरित आगत रवि से।

६४

प्रबल प्रतापी राजकुँवर वह आर्य्य मुकुट का मणि था,
वह था नर शार्दूल, दस्युओं का दल करि-करिणी था,
उसके सन्निधान में बैरी कभी न टिक पाते थे,–
उसके बाण, दस्यु-तम, रवि-कर-सदृश काट आते थे।

६५

उसी राज्य के निकट ग्रनार्य्यों का राजा बसता था–
जो गान्धार देश के राजा से लड़ता रहता था,
कई बार उस ने परास्त होकर हा-हा खाये थे
ग्रार्य्यों की उदारता से फिर स्वाधिकार पाये थे ।

६६

उसी देश के उस यःकश्चित् राजा ने जब देखा–
सिंह-शावकी ग्रार्य्य सुन्दरी को, जब उसने पेखा,–
तब वह फिर से युद्धोद्यत हो गया ग्रौर यों बोला–
कृतघ्नता का दुष्ट भाव ज्यों जगती में हो डोला ।

६७

मेरी पुत्रवधू होगी यह ग्रार्य्य सुन्दरी लौनी,
ग्रथवा भेरी बजा चलेगी फिर मेरी ग्रक्षौणी,
कर दूँगा गान्धार देश का गर्व चूर्ण मैं क्षण में,
ग्रब की बार मिलाऊँगा मैं उस नगरी को कण में ।

६८

ग्रार्य्य नृपति गान्धार देश के यह सुन क्रुद्ध हुए यों–
दिनमणि ग्रपने विस्तृत नभ-पथ में ग्रवरुद्ध हुए ज्यों,
भौहों में बल पड़े, ग्राँख से निकले ग्रग्नि-ग्रँगारे,
ग्रसि खनकी, धनु तने, बज गये भेरी ग्रौर नगारे ।

६९

हिम मण्डित गान्धार देश की श्यामल घाटी-घाटी–
हुई निनादित, वीरों ने निज तन से वह सब पाटी;
उमड़ चली शोणित की सरिता, ग्रार्यवीर सब कड़के !
ढेर लग गए मुण्ड-झुण्ड के ग्रौर सहस्रों धड़ के ।

७०

राजकुमार अनार्य्य दलों में ऐसे टूट पड़ा था,—
पूर्वकाल में इन्द्र वृत्र पर जैसे टूट पड़ा था।
किन्तु बहन ऊर्म्मिले, अरी कुछ बात हो गई ऐसे—
बैरी की कौटिल्यमयी कुछ घात हो गई ऐसे—

७१

नर शार्दूल नृपति को, नरवर राजपुत्र को, प्यारी,
दुष्ट वैरियों ने छल-बल से बन्धन युक्त किया, री,
इसे देख कर आर्य्य वीर दल सब हत-बुद्ध हुआ, री,
प्रत्यंचाएँ ठिठकीं, धीमा-सा कुछ युद्ध हुआ, री।

७२

सुनती हो ऊर्म्मिले?"—"कहे जाओ तुम, मैं सुनती हूँ,
बहुत ध्यान से, जीजी, मैं सारी बातें गुनती हूँ,
फिर क्या हुआ बताओ जल्दी, कहाँ गई सुकुमारी?
आर्यों के, गान्धार देश की थी जो परम दुलारी?"

७३

"सुनो, बात जब यह पहुँची उस सुन्दर राज-भवन में,
लगी आग तब राजकुमारी के कोमल, मृदु तन में,
तमक उठी वह, कस कर बाँधी उस ने अपनी वेणी,
कटि बाँधी, तूणीर कसा, फिर बोली वह पिक बैनी,—

७४

'आर्य्यों की बेटी हूँ, माँ, मैं इस खल को समझूँगी,
तेरा दूध पिया है मैंने, अब रण में जूझूँगी।
हूँ गान्धार देश की बाला, देखूँगी इस शठ को,
ठोकर मार चूर्ण कर दूँगी इसके कच्चे घट को।

७५

यह कृतघ्न निज दर्प-मृत्तिका का कच्चा घट लाकर,–
आर्यों की मेदिनी-शिला से टकराता है आकर ?
विश्व देख ले आज कि किसको आर्य-सुता कहते हैं,
यह भी देखे विश्व कि किसको अग्नि-हुता कहते हैं।

७६

फूल उठी माता सुन उसके विकट वीर वचनों को,
अपनी प्यारी पुत्री के उन निपट धीर वचनों को,
वह बोली––मैं धन्य हुई हूँ, मेरी बेटी प्यारी,
चलो आज हम चलें जूझने की करके तैयारी।

७७

दासी, अश्वों को लाओ, मम शस्त्रों को भी लाओ,
आज राज-महिषी के सारे युद्ध-वस्त्र ले आओ।
यों कह वीर राजरानी जब खड़ी हुई सज्जित हो,–
तब कोमलता वीर सरोवर में आई मज्जित हो।

७८

उछल तुरंगों पर वे बैठीं तेज-पुञ्ज ज्वालाएँ,
राजमार्ग में दीप्त हो उठीं यथा अग्नि-मालाएँ।
तब सारे गान्धार नगर में उमड़ा एक उदधि था,–
छोड़ रहा वीरत्व उछल कर निज सीमान्त-परिधि था।

७९

तब श्यामल घन-गर्जन-स्वर से बोली राजकुमारी,
मानों बिजली कड़क-कड़क कर दूर करे अँधियारी,
'सुनो वीर, गान्धार देश की वीरांगना, सुनो तुम–
जल्दी साजो अपनी अपनी तुरगांगना, सुनो तुम।

८०

आई अति भारी विपत्ति है आज देश पर अपने,
नीच अनार्य्य शशक आया है सिंह देश में खपने,
मेरे पिता और भाई को उस ने छल के बल से,
बन्धन-युक्त किया है; आओ हम जूझें उस खल से ।

८१

भाई, पिता, पुत्र जो अपने करने युद्ध गये हैं–
वे नरपति के पकड़े जाने से हत-बुद्धि हुए हैं,
चलो, आज इस पूर्ण यज्ञ में बहनो, आहुति डालो,
अपने-अपने तीर धनुष को तुम सब आज सँभालो ।

८२

कहे न कोई––आर्य-देश की ललनाएँ कायर हैं,
दिखला दो तुम : हृदय तुम्हारे मृदु हैं पर पत्थर हैं ।
कस लो बेणी, कटि-पट बाँधो, लेलो धन्वा, भाले,
चलो, करो ऐसे प्रहार जो अरि के हिय में शाले ।

८३

आर्य्य देश के वृद्ध पितामह, आप सभी हैं ज्ञानी,
भेजें आप सुताएँ , वधुएँ, दे निज आशीर्वाणी ;
अपने शोणित को देकर निज देश स्वतन्त्र करें वे,–
निष्फल अरि की कुटिल नीति का यह कटु मंत्र करें वे ।

८४

आज आग लग जाए ऐसी, धुआँ उठे चहुँ ओर !
आर्य पुत्रियां, रणचण्डी बन थामें निज धनु-डोर !
अरि के कलुषित हृदय-देश को बेधें, कर दें क्षीण !
आज दिखा दें वे अपने असि-धनु के हाथ प्रवीण ।

८५

स्वर्गादपि गरीयसी प्यारी, जन्मभूमि का पल्ला–
खींचा है दुष्टों ने, बोला है स्वदेश पर हल्ला,
कौन हृदय है जो कि न उबले निज समाज की क्षति में ?
कौन आँख है देख सके जो माँ को इस दुर्गति में ?

८६

आज लहलहाती उपत्यका रक्त धार से सींचो !
रोष कँपा दे तुम्हें, कोष से खर तलवारें खींचो !
भूखी सिंहिनियों के सम बस टूट पड़ो तुम रण में !
कर दो प्यारी मातृभूमि की व्यथा दूर तुम क्षण में !'

८७

क्रोधित राजकुमारी के सुन उन वचनांगारों को–
थर्रा गई मेदिनी, सुन कर धनु की टंकारों को !
उछल पड़ा बल्लियों हृदय का रोष, कृपाणें चमकीं,
डोल उठे दिग्गज मतवाले, और दिशाएँ दमकीं ।

८८

वृद्ध नागरिक बोल उठे,–सुन बेटी, राजदुलारी,–
इन्हीं भुजाओं ने तो की थी मातृभूमि-रखवारी ?
खड्ग थाम सकती हैं, यद्यपि अब कुछ निबल पड़ी हैं,
हृदयों में प्राणों की धारा अब भी प्रबल बड़ी है ।

८९

यह धारा जब बह निकलेगी तब अरि दल काँपेगा,
कण्ठ हमारा कड़खे का स्वर फिर से आलापेगा !
चलें आज हम, और हमारी बहुएँ संग चलेंगी,
आज हमारी ये तलवारें अरि का झुण्ड दलेंगी ।

९०

फिर तो, मेरी विमल ऊर्म्मिले, चली अनोखी सेना,
अश्व हिनहिनाए, कुँवरी का चमका भाला पैना !
आगे वृद्ध वीर थे, पीछे थीं गान्धारी नारी,—
विजय-भावना ने ज्यों मति का शुभ अनुगमन किया, री।

९१

रणोन्मत्त वृद्धों ने अपनी सुध-बुध सब बिसराई,
मानों अश्वों पर आ बैठी मूर्तिमती ठकुराई,
शुभ्र केश दाढ़ी के मारुत में यों लहराते थे——
विजय निशान आर्यगण के वे मानों फहराते थे ।

९२

जिन कर में भाले थे, वे थे वृद्ध किन्तु बलशाली,
उन पर पड़ कर नाच रही थीं रवि-किरणें मतवाली ;
उन बूढ़े हाथों में शोभित होते थे यों भाले,—
मानो स्थविर सँपेरे लाये विषधर काले-काले ।

९३

थीं वधूटियाँ अति कठोर धनु-धारण-क्षमता-शाली,
अरि-दल के कलुषित हृदयों में तीर बेधने वाली ;
उनकी कृष्ण वेणियां सुन्दर पट से यों आवृत थीं,
यज्ञ-धूम्र-कुण्डलियाँ मानों वेदी से परिवृत थीं ।

९४

चाप-मौर्वी ने उन कोमल स्कन्धों को घेरा था,
कोमलता के घर कठोरता ने डाला डेरा था,
वह कोमल सुस्कन्ध देश औ' वह कठोर प्रत्यञ्चा,—
रण देवी से आर्य्य-विजय की करती थी शुभ याञ्चा ।

९५

घिरी मेखला से कटियाँ, थीं लटक रहीं तलवारें,
उद्गीरित होती थीं कण्ठों से जय की ललकारें,
रण में रंग खेलने चल दी थीं ये सब पार्वतियाँ,
चल दी थीं गान्धार देश की लज्जा रखने सतियाँ ।

९६

ये बालाएँ पहुँच गईं क्षण भर में युद्ध-स्थल में,
नये प्राण आए योद्धाओं के विशृङ्खल दल में,
मां, बहनों, पुत्री, नारी को देख बढ़े हिय उन के,
फिर क्या था ? वे लगे बेधने अरि-दल को चुन-चुन के ।

९७

क्षण भर में गान्धार देश की अक्षौहिणी बढ़ी यों,–
सहसाऽक्रमण कारिणी सरिणी की हो धार चढ़ी ज्यों ।
योद्धाओं की हुंकारों से दिशा गूँज उट्ठी सब,–
गिरि-गिरिसे प्रति-गर्जनकी ध्वनि घहर-घहर उट्ठी तब।

९८

परशु परशु से लड़ा, भिड़ पड़ीं आपस में करवालें,
गदा गदा से जुटी, झन-झनाए भालों से भाले,
धन्वा से उड़ चले बाण, वे बरसीं तीखी बरछी,
करने लगे प्रहार वीर सब लिये कटारें तिरछी ।

९९

रण-चण्डी-सम जूझ उठी वह राजसुता सुकुमारी,
उसकी आँखों में छाई थी रण की एक ख़ुमारी,
उस कृतघ्न राजा की छाती में था उस ने साधा,–
अपना तीर, और फिर उसको ख़ूब जकड़ कर बाँधा ।

१००

बस, फिर तो अनार्य-दल भागा पीठ दिखाकर ऐसे,–
भाग खड़े होते हैं मृग सब देख सिंह को जैसे,
आर्य्य नृपति नरवर कुमार हो मुक्त आ गए दोनों,
देख दृश्य, वे निज आँखों का सुफल पा गए दोनों।

१०१

राजा ने सब ललना-गण को दण्ड प्रणाम किया तब
अपने लोचन के पानी से सबको अर्घ्य दिया तब,
हो प्रसन्न भाई ने चूमा निज भगिनी के शिर को,–
ज्यों हेमन्त चूम लेता है अपनी बहिन शिशिर को।

१०२

मेरी कथा समाप्त हुई है, अब तेरी बारी है,–
क्यों न ऊर्म्मिले ? तू तो मेरी नन्हीं-सी प्यारी है,
माँ ने तुझे कहानी जो थी कही, उसे तू कहना,
देख कहीं पागलपन कर के चुप बैठी मत रहना।"

१०३

"सीता जीजी, सकुचाती हूँ अब मैं वह कहने में,
भला समझती हूँ मैं अपना बस अब चुप रहने में,
की है श्रवण तुम्हारे मुख से यह सुन्दर-सी गाथा–
जिस में वर्णित अद्भुत बल उस आर्य सुन्दरी का था।

१०४

मेरी कथा बहुत छोटी-सी है, क्या उसे सुनाऊँ ?
उसको कह कर के, जीजी, मैं कैसे तुम्हें लुभाऊँ ?
रहने दो, वह मेरी गाथा तुम्हें नहीं भाएगी,
मम गाथा, तव गाथा-पटु मन नहीं लुभा पाएगी।"

१०५

यह सुन सीता रूठ गईं, कुछ होकर तनी-तनी-सी,
कहने लगीं ऊर्म्मिला से वह कुछ-कुछ रोष-सनी-सी,
"मुझसे कभी कहलवाना अब तुम कुछ नई कहानी–
तब मैं जानूँगी, हाँ, हो तुम नटखट और सयानी।"

१०६

देखो, मैं तुम से अब, जाओ, कभी नहीं बोलूँगी
आज अकेली ही मैं सारे उपवन में डोलूँगी,
मां से कह दूँगी कि तुम्हारी छोटी बेटी प्यारी–
खूब भूल जाती है कहकर निज की बातें सारी।"

१०७

"बात बात में रूठ बैठना, तुम ने कब से सीखा ?
मेरी जीजी बनी मानिनी मुझ को अब यह दीखा।
तनिक-तनिक-सी बातों पर क्या मुझ से मुँह मोड़ोगी?
अपनी बहिन ऊर्म्मिला को क्या जीजी, यों छोड़ोगी ?"

१०८

यह सुन सीता हँसकर उससे लिपट गई प्रमुदित हो–
ज्यों गिरिजा से आ लिपटी हो नव शशि-कला उदित हो,
फिर धीरे से बोली, "प्यारी बहिन ऊर्म्मिला मेरी,–
कहो कहानी जल्दी से, क्यों लगा रही हो देरी ?

१०९

देखो, मैंने तुम्हें सुनाई कैसी सुघर कहानी,
अब तुम क्यों संकोच-जाल में बैठी हो अरुझानी ?
मुँह तो खोलो रंच, करें हम-तुम बातें घुल-घुल के–
कहो कहानी अपनी, फिर, हम चुनें फूल मिल-जुलके।

११०

लो, माँ बैठीं, हम दोनों की बाट जोहती होंगी,
सूची सूत्र लिये, मालिन-सी, सुघर सोहती होंगी,
अपनी आख्यायिका कहो तुम, यों सकुचाती क्यों हो ?
छुई-मुई-सी आज कहो तो तुम मुरझाती क्यों हो ?"

१११

"अच्छा जीजी, वही कहानी मैं हूँ तुम्हें सुनाती,
है छोटी सी तो भी वह है मुझ को बहुत सुहाती,
मेरी गाथा में न मिलेगी वह शोभा पर्वत की,
फिर भी, सुनो, है नहीं इस में यदपि चमक मर्कत की ।

११२

किसी एक जंगल में रहता झुण्ड कपोतों का था,
हो स्वतन्त्र उस वन-प्रदेश में वह विचरा करता था,
फैला कर अपने पंखों को वे घूमा करते थे,
वन की निर्जनता को अपने कूजन से हरते थे ।

११३

बड़े-बड़े वृक्षों से पूरित शोभित था वह वन यों,—
वृद्धिगत पुण्यों से होता शोभित नर का मन ज्यों,
वे विशाल पादप पृथ्वी के प्यारे वक्षस्थल पर—
शिशु-क्रीड़ा करते थे नित प्रति हिल-डुल मचल-मचल कर ।

११४

अखिल निम्न भूभाग जिस समय सोता था निंदिया में,-
अन्धकार का राज जिस समय रहता था दुनियाँ में,—
उस अवसर में प्रात समीरण आकर हलके हलके—
जागृत करता था वृक्षों को धीरे-धीरे चल के ।

११५

वृक्षों की लहलही डालियाँ, ऊँची-ऊँची उठ कर–
अपरस्परवेष्टिता, नृत्य वे नित करती थीं जुट कर,
पत्ते भू पर इधर उधर गिर कर मारे फिरते थे,–
मानों नृत्य-तरंगित-भुज से कनक वलय गिरते थे।

प्र.वि

११६

प्रात:काल स्वर्णमय डालें नित्य हिला करती थीं,
आतुर-सी वे बाल सूर्य्य के गले मिला करती थीं;
तब कपोत समुदाय, फड़फड़ा कर अपने पंखों को,
कर तल ध्वनि कर, रवि-कर-अर्पित करता था अंगों को।

११७

जब रवि अपने प्रखर करों में ज्वाला ले आता था,–
झुलसाने को पृथ्वी जब वह क्रोधित हो जाता था,–
तब वे सघन वृक्ष उस भू की करते थे रखवारी,
ज्यों सपूत बालक करता है रक्षित, निज महतारी।

११८

छन-छन कर वृक्षों से आती थीं सूरज की किरणें-
वसुन्धरा के ललाट से जल मुक्ताओं को बिनने,
मानमर्दिता आततायिनी मानों लड़ते-लड़ते–
धीरे से चल दी हो हा हा खाने डरते-डरते।

११९

अपने-अपने नीड़ों में नित सब कपोत मतवाले–
कूजन करते थे पी-पी कर तोष-सुरस के प्याले,
वे प्रमुदित हो सदा चिढ़ाते थे निदाघ की ज्वाला
शान्तिरूपिणी उन के नीड़ों की थी मंजुल माला।

१२०

संध्या को अन्तिम प्रणाम जब रवि करता था वन को–
तब कुंकुम से नहला देता था निलयों के तृण को
गुटुर-गुटुर कर सब कपोत गण धन्यवाद देते थे,
फिर उस विस्तृत नैशाञ्चल को आप ओढ़ लेते थे ।

१२१

अरी ऊर्म्मिले !" "हाँ," "क्या मेरी वे बातें थीं ऐसी–
जिन को सुनते-सुनते तुम अति चकित हुई थी वैसी ?"
"हाँ जीजी," "चल पगली, भूल न जाओ तुम अपने को
सुन तव बातें लगी देखने मैं चित्रित सपने को ।

१२२

आज तुम्हारे मुख से यह वन-वर्णन सुनकर रानी,–
मैंने सोचा, आज आ गई वन-देवी कल्याणी ।"
"जीजी, यों न बनाओ, माँ की बातें यदि तुम सुनतीं–
तब मेरी बातों को मन में यों न कभी तुम गुनतीं ।

१२३

हां, तो सुनो, निरापद वन में सब कपोत रहते थे,
नत्य निपट निःशंक कपोती-संग उड़ा करते थे,
एक नीड़ में एक प्रफुल्लित कबूतरी बसती थी–
निज कपोत की गुटुर-गुटुर सुन वह प्रसन्न हँसती थी ।

१२४

एक दिवस वह शुभ्र कबूतर कबूतरी से बोला–
सुन प्यारी कबूतरी, मेरा मन है कुछ-कुछ डोला,
आज दूर उड़ कर जाऊँगा मैं अति निर्जन वन में,
और बिताऊंगा अपना कुछ काल आत्म-चिंतन में ।

१२५

सूख गई चिन्ता से, उसके सुन ये वचन, कपोती,
ढलक पड़े उसकी आँखों से आतुरता के मोती,
सूख गया कल कण्ठ, रुक गई गुटुर-गुटुर की तानें,–
तड़प उठा हिय, मानों मारा बाण खींच व्याधा ने।

करुण रस

१२६

उसकी दशा देख पारावत व्यग्र हो गया हिय में,
देख आँसुओं की धारा को दुखित हुआ वह जिय में,
उस ने बड़े प्यार से पोंछी उस की आँखें गीली,
संवेदन की धारा उमड़ी हिय-तल बीच रसीली।

१२७

फिर बोला, 'हे प्रिय कबूतरी मेरी, क्यों रोती हो ?
वृथा, हृदय में शोक-अग्नि से क्यों विदग्ध होती हो ?
मैं जल्दी ही आ जाऊँगा उस निर्जन कानन से,
क्षण भर भी न भुलाऊँगा मैं तुमको अपने मन से।'

१२८

यह सुन, हिय पर पत्थर रख कर कबूतरी वह बोली,–
अपनी हृदय-नीवियाँ उसने धीरे-धीरे खोलीं,
मानों शान्त नीड़ में धधकी दावानल की ज्वाला,
अथवा नेह-कमल-सर में पड़ गया निराशा-पाला।

१२९

'हे कपोत, उट्ठी कैसी यह हिय में विकृता लय है ?
किन हाथों ने, हाय, उजाड़ा मेरा सुखद निलय है ?
तुम यह क्या कहते हो ? मैं कुछ समझ नहीं पाती हूँ,
सुन ये वचन, दुःख-सागर में मैं तो उतराती हूँ।

१३०

तुम यदि जाओगे तो मैं भी संग चलूँगी, प्यारे !
मैं कैसे निकाल सकती हूँ निज आँखों के तारे ?
वन की निर्जनता में तुम को मैं न कष्ट कुछ दूँगी,
मधुर तुम्हारी गुट्टुर-गुट्टुर को सुन मैं मस्त रहूँगी ।

१३१

ख़ूब आत्मचितन तुम करना, मैं तुम को ध्याऊँगी,
यों आत्मोन्नति-पराकाष्ठा को मैं, प्रिय, पाऊँगी;
किन्तु छोड़ कर मुझे न जाना तुम कपोत, हे मेरे !
मेरी नैश जीवनावधि के हो तुम सुभग सवेरे ।'

१३२

"फिर क्या हुआ ऊर्म्मिले?" "सुन ये रसमय वचनावलियाँ—
व्याकुल हुआ देखकर अर्पित चिर सनेह की कलियाँ,
फिर धीरे से निज कबूतरी से पारावत बोला—
मानों प्रेम भाव को उस ने त्याग भाव से तोला :

१३३

'हे चंचले, वृथा शोकाकुल इतनी तुम होती हो—
नेह-पाश में बँधी हुई तुम क्यों धीरज खोती हो ?
मैं जल्दी ही आ जाऊँगा, करो न यों तुम चिन्ता,
रहो नीड़ में सौख्य शान्ति से कुछ दिन हो निश्चिन्ता ।'

१३४

अन्य कपोतों के नीड़ों में उड़-उड़ कर तुम जाना—
यों अपनी वियोग की घड़ियाँ सुख से, अहो, बिताना,
कभी बुला लेना निज गृह में अन्य कपोती-गण को,
कभी निमन्त्रण देना अपनी उस गिलहरी बहन को ।

१३५

नन्हे-नन्हे कबूतरों की सुनना गुटुर-कहानी,
प्यारी, अर्द्धस्फुटिता, तुतली उनकी बातें, रानी;
कभी डालियों पर प्रमुदित हो उड़ कर बैठी रहना,
कभी-कभी सखियों से तुम सब अपनी बातें कहना।

१३६

जल्दी से वियोग की घड़ियाँ कट जाएँगी सारी,
मैं आ जाऊँगा जल्दी तब सुखद नीड़ में, प्यारी,
मेरी अनुपस्थिति में तुम नित धीरज धारे रहना,
रहो यहीं, मेरी कबूतरी, मानों मेरा कहना।

१३७

यती कबूतर ने, कबूतरी को यों बातें कह कर—
हिय से लगा लिया उत्सुक हो स्नेह-धार में बह कर,
उड़ा कबूतर फिर, वह उसके अश्रु-सिक्त पत्रों से—
कानन में बरसीं फुहियाँ, जल-सिञ्चित सुपतत्रों से।

१३८

आह बिचारी वह कबूतरी बैठी-बैठी-बैठी—
रोती रही, शोक-सागर में पैठी-पैठी-पैठी;"
"अरी ऊर्म्मिले, तव कबूतरी ऐसी थी क्यों पगली?
अपने प्रिय कपोत के सँग वह क्यों न विपिन में निकली?

१३९

यदि कबूतरी मैं होती तो कभी न रहती घर में,
साथ-साथ मैं उड़ती फिरती वन में और नगर में;
कभी न उसका संग छोड़ती चाहे जो हो ज़ाता,
चाहे वह कपोत कितने ही मेरे हा-हा खाता।"

१४०

"सीता जीजी, कह सकती हो तुम ये बातें कैसे ?
हठ धर्मी कैसे कर सकती तुम कपोत से ऐसे ?
वह कबूतरी बड़ी मृदुल थी वह हठ कैसे करती ?
इन बातों पर वह कपोत से, बोलो, कैसे लड़ती ?

१४१

अस्तु, कबूतर उड़ा और वह बैठी रही कपोती,
अटवी में अपनी आहों को नित रहती थी खोती ;
पल बीते, घटिकाएँ बीतीं, युग की बारी आई,
क्षण-क्षण उसके जीवन-पथ में घन अँधियारी छाई ।

१४२

बाट जोहती रही प्रति दिवस, पर, न कबूतर आया,
दाना खाना छोड़ा उसने, छोड़ी जग की माया,
छोटी-छोटी सब कपोतियाँ उसको समझाती थीं,
बड़ी-बड़ी सब सखियाँ उसका तन मन बहलाती थीं ।

१४३

पर उसके जीवन में धक-धक-धक जलती थी ज्वाला,
एक धुआँ मँडराया करता था वह काला-काला,
एक दिवस जब अस्ताचल से रवि की किरणें आईं,
तब उन किरणों ने कबूतरी प्राणहीन थी पाई ।

१४४

अब तुम क्यों चुप बैठी हो ? है यही कहानी मेरी,
क्यों उदास हो देख रही हो जीजी, रानी मेरी ?"
"सुनो, बहन ऊर्म्मिले, मुझे अब ऐसी कथा न कहना ।
रोने-धोने की बातों से अच्छा है चुप रहना ।"

१४५

"अच्छा, अच्छा, चलो चलें अब फूल तोड़ने को हम,
माँ की पूजा-सामग्री को चलें जोड़ने को हम,
देखो, कैसी खड़ी हुई है फूली सुघर चमेली,
क्या सूरज ने आकर इससे आँखमिचौनी खेली ?"

१४६

आहा ! उठ कर चल दीं दोनों ये बालिका सलौनी,—
मानो वायु उड़ा लाई हो दो मालिका सलौनी,
प्रति डाली से, प्रति पत्ती से, प्रति अधखिली कली से—
"आओ, आओ !" का रव गूँजा प्रति मृदु कुंज-गली से।

१४७

"देखो जीजी, मैंने कैसी अच्छी कलियाँ तोड़ीं ।"
"अरी ऊर्म्मिले, मैं ने तेरे लिए जुही है छोड़ी,"
"जीजी, देखो, यह गुलाब है कैसा अभिमानी-सा,—
खड़ा-खड़ा दे रहा दान है यह तामस दानी-सा ।"

१४८

"यह केतकी, ऊर्म्मिले, है सब कञ्जूसों की नानी ।
काँटों से अपनी कलियों को है ढँक रही सयानी ।"
"देखो जीजी, छिन्न मुकुल ये पड़े क्यों यहाँ पथ में ?"
"इनको पौधों ने बिखराया है तेरे स्वागत में ।"

प्र० वि

१४९

"जीजी, तुम्हें याद है फूलों की कुछ कथा-कहानी ?"
"पूछो किसी कपोती से, हो कपोतियों की रानी !"
"क्या गान्धार देश की बाला तुम से कुछ न कहेगी ?"
"बक-बक करती जाएगी या तू अब मौन गहेगी ?"

१५०

"ओहो! जीजी! डाँट-डपटना कब से तुम को आया?
किस गुर्वाणी ने तुमको यह नव गुरुमन्त्र पढ़ाया?"
"नट-खटपन करती जाओगी या तुम फूल चुनोगी?
माँ बिगड़ेंगी यदि तुम मेरी बातों को न सुनोगी।"

१५१

जो प्रासादोद्यान स्वनित था होता इस मृदु स्वर से,—
जहाँ तरंगित होता मारुत था इस स्वर हिय-हर से,—
वहाँ एक क्षण तू रह पाता यदि हे रंक, भिखारी,—
तो फिर, वह निर्वाण-मधुरता तुझ को लगती खारी।

१५२

यों हँसती, क्रीड़ाएँ करती, दोनों जनक-दुलारी,—
पुष्प-चयन कर, चलीं हर्म्य को दोनों नवल कुमारी,
भुज लतावलम्बित करण्डकों के प्रसून हँसते थे,
विमल भक्ति के भाव कुसुम की पँखुरी में फँसते थे।

१५३

धीरे-धीरे जब वे दोनों पहुँचीं जनकालय में,
तब मानों उद्यानों से उड़ आए विहग निलय में,
सीता और ऊर्म्मिला दोनों लिपट गईं माता से,—
मानो दो बछड़ियाँ गाय की चिपट गईं माता से।

१५४

"सीते, तुम हो बड़ी अनोखी, मैं बैठी हूँ कब से?
मार्ग देखती रही तुम्हारी, अरी ऊर्म्मिले, तब से।
इतनी देर लगाई क्यों तुम दोनों ने उपवन में?
भला कहीं, होता विलम्ब है इतना पुष्प-चयन में?

१५५

क्या तुम करने लगीं वहाँ पर, कहो, ऊर्म्मिले मेरी ?
क्या तव तात चरण उपवन में तुम्हें आ मिले थे, री ?"
"ना, माँ, मैं सीता जीजी से कहने लगी कहानी,
वही कहानी, मां, जिसमें थी कबूतरी बिलखानी ।"

१५६

"और सुनाई थी मैंने उसे पुण्य देश की गाथा,—
जिसमें बाला ने अनार्य्य का झुका दिया था माथा,
माँ, ऊर्म्मिला बड़ी रोनी-सी बात कह रही थी, री,
और मुझे सँग लिए दुःख में आप बह रही थी, री ।

१५७

ऐसी-ऐसी बातों को तुम क्यों कहती हो, री माँ,
तुम क्या ऐसी बातों से भी सुख लहती हो, री, माँ ?"
"बेटी सीता, अच्छा होता है ये बातें सुनना,
एकाधिक तारों से जीवन-पट पड़ता है बुनना ।

१५८

किन्तु कहानी सुन कर मन में तुम दुख क्यों करती हो ?
बातों से प्रेरित होकर क्यों आहें तुम भरती हो ?
आर्य बालिका है वह ही जो दुख के आ जाने पर—
पर्वत तुल्य अचल रहती है, घोर घटा छाने पर ।"

१५९

"मां, मैं कुछ पूछूं ?" यों उत्सुक विमल ऊर्म्मिला बोली,
"हँसना मत" यों कथन कर उठी उस की पृच्छा भोली ;
"तुम हँस दी थीं उस दिन पूछी वे बातें जब मैंने,
भेद नहीं पाया है अब तक उन का माता, मैंने ।"

१६०

"री, नन्ही ऊर्म्मिले, जानती हूँ सब बातें तेरी,
ऐसी पगली कहाँ मिलेगी जैसी तू है मेरी,"
"क्या है बात मुझे भी कह दो," सीता यों उठ बोली,
मूर्तिमती उत्सुकता ने ज्यों अपनी आँखें खोलीं ।

१६१

"सीता जीजी, बड़ी भुलक्कड़ हो, तुम भूल गई क्या ?
उपवन की वे बातें विस्मृति-सरिता-कूल गईं क्या ?"
"क्या कपोत वाली बातें ? हूँ ! कहाँ उन्हें मैं भूली ;"
"जीजी, कपोतियों के पीछे डोल रही हो फूली ।"

१६२

"देखो, माँ इसकी बातें, तुम निज बेटी को देखो,–
अपनी नन्ही सरल ऊर्म्मिला के रँग-ढँग तो पेखो ?
स्पष्ट रूप से कहने में तुम यों सकुचाती क्यों हो ?
यदि मैं भूल गई हूँ तो फिर मुझे खिझाती क्यों हो ।"

१६३

"जीजी री, बिगड़ो मत, माला वाली बात वही है,
जो मैंने उपवन में तुम से पूछी, और नहीं है ।
तात चरण की ग्रीवा में, माँ क्यों पहनाती माला ?
क्यों उनकी आँखों में उस क्षण आता नव उजियाला ?"

१६४

"हाँ, हाँ, माँ, बतलाओ, री, तुम ऐसा क्यों करती हो ?
कभी मूँद कर आँखें किस का विमल ध्यान धरती हो ?
तात चरण जब आते हैं तब तुम क्यों हँस देती हो ?
अपनी माला उनको देकर फिर क्यों ले लेती हो ?"

१६५

"हाँ, हाँ, पूछी मुझसे इस ने ये बातें उपवन में,
मैं क्या बतलाती ? मैं भी कुछ समझ न पाई मन में;
अब तुम बतलाओ, री माँ, तुम हो अच्छी माँ, मेरी।"
बोल उठीं दोनों नन्दिनियाँ यों जिज्ञासा-प्रेरी !

१६६

आन ऊर्म्मिला ने पीछे से अपनी दोनों बाहें,–
डाल गले में दीं,–मानो दो छोटी-छोटी चाहें,–
किसी वानप्रस्था की तन्मय विरत ग्रीव में आ कर,–
झूल रही हों, उस ग्रीवा को मुद पर्य्यंक बना कर।

१६७

माँ का अञ्चल खींचा सीता ने गोदी में गिर कर,
ढांका निज मुख ज्यों किचपलता क्षणिक शान्ति से घिरकर,
सुख-आशा में एक निमिष को स्तब्ध बैठ जाती है,
त्यों ही मेरी स्वप्निल आँखें सीता को पाती हैं।

वात्सल्य रस

१६८

"नन्ही सी ऊर्म्मिले, और तुम सीते, हठ धरती हो,
मेरी छोटी-सी छायाओ, तुम यह क्या करती हो ?
माला मझे गूँथ लेने दो, न अब और बिलमाओ।
सूची-सूत्र मुझे लाकर दो, उठो, दौड़ कर जाओ।"

१६९

"परिचारिके, यहां आओ" यों बोली ऊर्म्मिल लौनी–
"माँ, अपने विचार को तुम अब रख न सकोगी मौनी,
मैं गुर्वाणी बन बैठी हूँ, आज परीक्षा लूँगी
मैं दीक्षित हूँ और आज मैं तुम को दीक्षा दूँगी।"

१७०

जनक-प्रिया ने ये बातें सुन कर अपने हाथों से,
छोटी बेटी को थामा, बह चला नेह गातों से,
आँखों में उस मुग्ध भाव की छटा अनोखी छाई;
हृदय उल्लसित हुआ, कपोलों पर कुछ लाली आई।

१७१

बड़े प्यार से गोरे गालों को रानी ने चूमा,–
ज्यों वात्सल्य-भाव षट्पद बन नव गुलाब पर झूमा;
सीता बजा उठीं निज दोनों गौर करों से ताली;
मानो, नाच उठे नँद-गृह में द्वापर के वनमाली।

१७२

"अच्छा बैठो मेरी नन्हीं दोनों तुम गुर्वाणी,
आज सुनाऊँगी मैं तुम को अच्छी एक कहानी।"
"कथा कहानी कौन सुनेगा? हम तो नहीं सुनेंगी,
हम क्या करें कहानी सुनकर, हम तो वही सुनेंगी।"

१७३

"देखो, सीता, तुम तो फूले-से प्रसून लाई हो,
और ऊर्म्मिले, तुम अच्छी-सी कलियाँ ले आई हो,
कैसी माला गूँथूँ? बोलो चपल ऊर्म्मिला रानी,
सेंत मेंत में बन जाओगी क्या मेरी गुर्वाणी?

१७४

तुम न बताओगी यदि मुझ को इस माला का गुम्फन,–
तो तुम को देने होंगे दस-बारह मुझ को चुम्बन;
और सुनो, शिक्षिके, तुम्हारे कानों को खींचूँगी,
सुघर तुम्हारी आँखों को मैं अञ्चल से मींचूँगी।

१७५

हाँ ! फिर अंधी-सी हो करके खड़ी खड़ी तुम गाना,
और ऊर्म्मिले, हम देखेंगी वह तव मृदु मुसकाना,
यदि तुम चाहो जल्दी से इस कठिन दंड से बचना,
तो रानी, मुझको बतलाओ इस माला की रचना ।"

१७६

"ओ माँ, देखो, मैं तुमको अब सब कुछ बतलाती हूँ,–
अपनी माला-गुम्फन-विधि मैं तुम को समझाती हूँ,
पहले एक गुलाब-कली इस धागे में पहिनाओ,
फिर इस शीतभीरु को उसके तुम समीप ले जाओ ।

१७७

इस प्रकार तुम पूरी माला गूँथो औ' मुसकाओ
और साथ ही मेरे मन की बात सुनाती जाओ ।"
"माँ, उर्म्मिला, ठीक से माला-रचना नहीं बताती,
यों ही अपनी मनमानी कुछ की कुछ बकती जाती ।"

१७८

"मेरी बड़की मुन्नी, देखूँ तुम अब क्या कहती हो,
देखूँ ललित-कला-धारा में तुम कैसे बहती हो ?
तुम भी मुझे बता दो अपनी हिय की सारी विधियाँ,
निज सुबुद्धि-मञ्जूषा की तुम प्रकट करो सब निधियाँ।"

१७९

"देखो माँ," यों कह उठ बोली नवल उल्लसित सीता,
मानो स्वर-भाजन को कर्णों में करती हो रीता,
"कोमल पारिजात कलियाँ तुम प्रथम सूत्र में डालो;
फिर मौलश्री के फूलों से अपनी माल सँभालो ।"

१८०

अपनी दोनों ललियों की सुन बातें प्यारी-प्यारी,
उस विदेह रानी ने अपनी सुध-बुध सभी बिसारी;
दोनों को दोनों हाथों से खींच लिया गोदी में,
दोनों ने मिलकर जननी का नेह पिआ गोदी में ।

१८१

जनक सुगृहिणी उन दोनों से बोलीं उत्फुल्लित हो,—
लाड-प्यार के पारिजात से गिरे कुसुम मुकुलित हो,
"तुम दोनों तो माला-गुम्फन मुझे बता न सकी हो,
दौड़ा-दौड़ा बुद्धि-अश्व निज तुम तो आज थकी हो ।

१८२

तुम्हें बताती हूँ, देखो, इन सब फूलों को अब मैं,—
साथ-साथ, बारी-बारी से लो, गूँथूँगी जब मैं,—
तब नवरत्नों की-सी माला सुन्दर बन जाएगी,
आर्यपुत्र के वक्षस्थल पर यह शोभा पाएगी ।"

१८३

माता मिथिला-साम्राज्ञी ने सूची ली यों कह के,—
लगीं गूँथने प्रेम-पाश वे धीरे से, रह-रह के,—
मानो विश्व-मोहिनी माया, ले सुराग-फूलों को,
छिटका जीवन-पथ में, हरती हो विराग-शूलों को ।

१८४

तीक्ष्ण कण्टकों में जीवन जब उलझ-उलझ जाता है,
तब ऐसे ही पुष्पों में वह प्राणों को पाता है;
महा तपस्वी जनक देव के राग-रहित उपवन में,
फूल रहे हैं ये सांसारिक मधुर पुष्प उस मन में ।

१८५

इसीलिए द्वापर में प्रभु ने निज पुण्या वाणी से—
कर्मवीर की तुलना की है जनक देव ज्ञानी से,*
स्थितप्रज्ञ के सब गुण अंकित हैं इनके जीवन में,
इन ने ऐक्य-भाव पाया है घर में, निर्जन वन में ।

जनक चरित्र चित्रण

१८६

शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि इन संस्पर्शज भावों में,—
प्रतिकूला, अनुकूला स्थिति में, सब दैहिक चावों में,—
विकट कर्मयोगी ने स्थापित किया साम्य-भावों को;
सह सकते हैं निश्चलता से ये तीखे घावों को ।

१८७

माता को चुप चाप गूँथते देख ऊर्म्मिला बोली-
ध्यान भंग करने आई हो ज्यों चञ्चलता भोली,
"कैसे गूँथ रही हो चुपके-से तुम अपनी माला ?
किसने तुम पर, री माँ, मोहन मूक मंत्र यह डाला ?

१८८

कब से पूछ रही हूँ मैं, पर तुम तो चुपके-चुपके—
टाल रही हो, आँखमिचौनी खेल रही हो छुप के,
यदि न बताना हो तो माँ, फिर वैसा ही तुम कह दो,
जाओ कभी न पूछूँगी यदि ऐसा ही तुम कह दो ।"

१८९

अपनी छोटी-सी को मां ने स्वप्निल नयन उठाकर—
नख से शिख तक देखा धीरे-धीरे से मुसका कर,
उसकी आँखों में अनमनपन-सा कुछ-कुछ छाया था,
कमल विनिन्दित मुख पर कुछ-कुछ रोष-भाव आया था।

---

*कर्मणैवहि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः
—गीता अ० ३ श्लोक २०

१९०

तब माता सीता से बोली—"सीते, बेटी प्यारी,
तुमने कभी रुदन की कोई मूर्ति लखी है क्या, री ?"
"ना, माँ, मैंने उसकी मूरत कभी नहीं देखी है;
क्या तुम ने अपने जीवन में कभी उसे पेखी है ?"

१९१

"हाँ, सीते, अब एक चित्रपट तुम्हें दिखाऊँगी मैं,
रोनी सूरत देख चीन्हना तुम्हें सिखाऊँगी मैं,
मेरे सन्निधान में रोदन-मूर्ति रखी है, देखो;
लो, इसकी प्रति चर्या को तुम अपने हिय में लेखो।"

१९२

माता ने यों कहा ऊर्म्मिला को जब इंगित करके,
हास्य-उदधि तब उछला अपनी सीमा लंघित करके,
उठी खिलखिला सीय जनकजा, औ' रानी मुस्काई,
विहँस ऊर्म्मिला ने गोदो में अपनी ज्योति छिपाई।

१९३

"लली ऊर्म्मिले, मुझे बताओ पहला प्रश्न तुम्हारा,
जिसके कारण चंचल मन है आज सतृष्ण तुम्हारा;
सच्ची गुर्वाणी के सम तुम एक-एक पृच्छा को,
पूछ-पूछ कर सुनती जाओ, तृप्त करो इच्छा को।"

१९४

"वाह, अरी मेरी माँ, कैसी अच्छी माँ तुम हो, री,
मेरी एक-एक बातों को अब तुम बतलाओ, री,
तात चरण के आने पर तुम क्यों मुस्काती हो, माँ ?
मुख पर क्यों लाली आती है, यह तुम बतलाओ, माँ ?"

१९५

"बेटी, तुमने कभी, सवेरे ऊषा को देखा है ?
कभी रक्तवर्णा प्राची दिशि को क्या अवलोका है ?
रवि की प्रखर किरण से जल को क्या खिचते देखा है ?
घन मेघों से भू-हृत्तल को क्या सिचते देखा है ?

१९६

जिन नियमों से अग्नि-शिखा में लाली आ जाती है,
जिन नियमों से प्राची, सुन्दर अरुणाभा पाती है,
उसी नियम से, जनक देव से मैं याँ आन मिली हूँ;
उसी नियम से उनके उपवन में मैं आन खिली हूँ।

१९७

अब तुम समझीं ? जैसे प्राची में लाली आती है,
त्यों तव तात चरण के आते लाली छा जाती है,
मेरे मुख पर, मेरी बेटी, और कहूँ क्या तुझको ?
तू नन्हीं-सी ही है, इस क्षण किमि समझेगी मुझको ?"

१९८

"माँ, मैं समझी हूँ कुछ-कुछ वह यह कि पिता भी मेरे–
सूर्य सदृश, तुम-सी प्राची को, हाँ, रहते हैं घेरे ;
अब तुम यह बतलाओ, माँ, तुम माला क्यों देती हो ?
क्यों उनकी ग्रीवा से तुम फिर उसको ले लेती हो ?"

१९९

"अरी ऊर्म्मिले, तूने निशि में देखा है वह चन्दा,
अखिल तारिकायें जिसके मन में डाले हैं फन्दा ?
तेरे तात चरण को मैं यह भक्ति-पाश देती हूँ,
उसके बदले में मैं उन से नेह-पाश लेती हूँ।

२००

जब तुम बड़ी लली हो जाओ तब तुम भी यह करना,
अपने पति के वक्ष:स्थल में प्रेम-पाश यों धरना ;
देखो, री ऊर्म्मिले, तुम्हारी सीता जीजी बैठी,–
चुपके चुपके सुनती जाती है यह मेरी बेटी ।"

२०१

सीता बोली–"पति,यह क्या है? यह तो तुम बतलाओ?
क्यों विवाह करते हैं ? यह सब तुम मुझको जतलाओ;
इतने ही में सन्निधान में दासी आ राज्ञी के–
बोली––"श्रीराजाधिराज गृह आये सम्राज्ञी के ।"

२०२

सीता और ऊर्म्मिला यह सुन नाच उठीं प्रमुदित हो–
जैसे नभ में मिथुन राशि है करती नृत्य उदित हो,
सीता फिर बैठी माता की वत्सल गोदी आ कर,
और ऊर्म्मिला माँ के कन्धे लिपट गई हरषा कर ।

२०३

"सती, मन्त्रणागार बना है क्या यह भवन तुम्हारा ?
ये दोनों क्या आज कर रहीं हैं शुभ स्तवन तुम्हारा ?
किसी सुगूढ़ विषय की बातें आज हो रही हैं क्या ?
कोई प्रश्न छिड़ गया है यह आज भोर ही से क्या ?"

२०४

प्राणनाथ के इन वचनों को सुनकर जनक प्रिया ने–
सीता को अवलोका; पुलकित होकर सुता सिया ने–
कहा––"तात, ऊर्म्मिला आज कुछ माँ से पूछ रही है,
माता ने भी हम से सुन्दर सुन्दर बात कही है ।"

२०५

मिथिला-राज्ञी मन्द विहँस कर बोली उत्फुल्लित हो,–
ज्यों दाम्पत्य-भावना आई मुखरित औ' मुकुलित हो,–
"ये दोनों बहनें बन बैठी हैं मेरी गुर्वाणी–
आज परीक्षा, अहो, ले रही हैं ये दोनों ज्ञानी ।

२०६

मुझको घेर रही हैं सन्तत पूछ-पूछ कर बातें,
आप स्वयं आकर के इन को क्यों न यहाँ समझाते ?
सीता पूछ रही है ; माता व्याह किसे कहते हैं ?
सब समाज में पति-पत्नी के जोड़े क्यों रहते हैं ?

२०७

तृप्त कीजिए आप सलोनी सीता की इच्छा को,
शान्त कीजिये मम गुर्वाणी की अबोध पृच्छा को ;
मैं उत्तर दे चुकी ऊर्म्मिला की प्यारी बातों के ;
है ऊर्म्मिला तुष्ट सुन उत्तर उन सारी बातों के ।"

२०८

यों कह प्रमुदित हो रानी ने पहिनाई वह माला ।
मिथिला-पति धीरे से बोले–"मोह-पाश क्यों डाला–
तुम ने मुझे बाँध रखने को, इस कच्चे धागे में ?
कर्म-युक्त हूँ बँधा तुम्हारे भावों के आगे मैं ।"

२०९

"प्रिय, जगदीश्वर की ग्रीवा में प्रकृति प्रिया ने डाला–
उन्हीं ईश के नियमों का यह पाश अमित गुण वाला ।
मैंने भी गूँथी है माला उन प्यारी कलियों से,–
चुनी गईं हैं जो त्वदीय इन दो प्यारी ललियों से ।"

२१०

धीरे से यों वचन निवेदित कर रानी मुसकाई,
उस सुस्मिति पर मैं ऊषा की वारूँ ललित निकाई,
उपमे ! तुम अब कहाँ छिपी हो यों बन लज्जाशीला ?
जनक-प्रिया की सुस्मिति-रेखा की देखो यह लीला।

२११

पितृदेव के अंक-स्थित हो विमल ऊर्म्मिला बोली,—
ज्यों, कुहुकिनी कोकिला ने स्वर की मञ्जूषा खोली,
"तात, आप कहिए वे बातें, पूछीं जो जीजी ने,
क्यों कोई माता से उसकी प्यारी पुत्री छीने ?"

२१२

"हाँ, बेटी ऊर्म्मिले, तुम्हें मैं यह सब समझाऊँगा,
पर, तुम समझ सकोगी तुम को मैं जब समझाऊँगा ?
देखो, बड़ी-बड़ी नदियाँ ये सब बहती जाती हैं,
विस्तृत पथ के इस प्रवाह-श्रम को सहती जाती हैं।

२१३

क्या तुम मुझे बता सकती हो कोई कारण इसका ?
प्रेरित करता है इन सबको आधिपत्य वह किसका ?
इस विशाल सरणी की धारा की गति है सागर में,
इसीलिए यह चली जा रही है निज गहरे घर में।

२१४

और सुनो, देखो, सजीव ये पक्षीगण हैं जग में,
कैसे साथ चले जाते हैं ये निज जीवन-मग में !
हैं कपोत के संग कपोती-गण क्रीड़ा शीलाएँ ;
देखो, ये सब मिल-जुल करती हैं अनेक लीलाएँ।

२१५

स्वयं ईश से उनकी मुग्धा माया लिपटानी है,
उसने जग के इस मस्तक पर यह चद्दर तानी है;
इसी न्याय से नर समाज में आन मिली है नारी,
इसी न्याय से माँ से बेटी छिन जाती है प्यारी ।

२१६

समझीं सीते, जाओ अब तुम गुर्वाणी के गृह में,
तुम सब पहुँचोगी कुछ दिन में इन प्रश्नों की तह में,
देखें, आज कौन जल्दी से सूत्र-पाठ करती है,
क्यों ऊर्म्मिले ?" "तात, हम पाठों से कभी न डरती हैं।"

२१७

यों कह कर दोनों धीरे से चल दीं शिक्षालय को,
एक दूसरी के सँग पहुँचीं वे शुभ दीक्षालय को ।
"तुम कुछ समझीं तात चरण की सब, जीजी,वे बातें ?"
"अरी ऊर्म्मिले, ब्रह्म सूत्र की सोचो तुम अब बातें ।"

२१८

इधर नृपति राज्ञी से बोले—"सुनो, अहो कल्याणी,
क्या-क्या बातें पूछ रही थीं ये दोनों गुर्वाणी ?"
"पूछ रही थीं, पितृदेव के आते ही यह लाली
आन बिछा देती है क्यों तव मुख पर सुन्दर जाली ?

२१९

और पूछती थीं कि मालिका क्यों उनको देती हो ?
फिर उस में से एक माल क्यों उन से ले लेती हो ?
पूछ-पूछ कर ऐसी ही कुछ बातें, ये कलिकायें—
पुलक-पुलक कर विकसित होती थीं ये नव ललिताएँ।"

२२०

रानी के कोमल कर अपने दृढ़ हाथों में लेकर,–
बोले वचन नृपति, कान्ता को अपनी माला देकर–
"सुनो, सुनयने, मुझे ऊर्म्मिला-सीता के जीवन में,–
अति द्रुत परिवर्तन दृग्गोचर होता है क्षण-क्षण में।

२२१

इन के भावी पथ को निश्चित करने की तैयारी,–
इसी समय से करना कैसा तुम समझोगी, प्यारी ?"
"आर्यपुत्र, मेरी नन्हीं-सी दोनों हैं बालायें ;
उनको उलझाए हैं मेरी गोद और शालायें ।

२२२

सम्प्रति बन्धन में न डालिए इस लौनी लघुता को,
यों न निमन्त्रित करिए, इन के मृदु शिर पर गुरुता को;"
"तुम मेरे सारे भावों को, प्रिये, न समझ सकी हो,
इसीलिए तुम इस आशंका में आकर अटकी हो ।

२२३

मैं अपनी प्यारी कन्याओं के प्रवास के पथ में–
डालूँगा न कुबाधा उनके भावी जीवन-रथ में ।
मेरी केवल यह इच्छा है,–ये दोनों मम तारे–
दो आर्यों के शुभ्र वक्ष-नभ में खिल जाएँ प्यारे ।

२२४

इसीलिए बस इसी समय से एक यज्ञ के मिस से,–
आर्य सिंहगण के छौनों को मैं देखूँगा, जिस से,–
कुछ दिन में कोई सुयोग्य नर बीर-द्वय मिल जावें,
जो मम अन्तस्तल की छाया को पा कर सुख पावें ।

२२५

इस में तुम क्या कहती हो ? हे प्रिये, तुम्हारे मन में,–
यदि ऐसा प्रस्ताव ठीक हो लगता, तो गुणिगण में–
जाकर इसकी विमल वार्ता करूँ समय पाकर मैं,
देखूं, तुम क्या कहती हो मम प्रश्नों के उत्तर में।"

२२६

"देव, आपकी सम्मति में ही मेरी भी सम्मति है,
अहो, आपकी शुद्ध बुद्धि में मेरी सारी गति है।
किन्तु माण्डवी का भी रखिये ध्यान आप, हे प्यारे,
और सुघड़ श्रुतिकीर्ति लली को भी मत आप बिसारें।"

२२७

हे मेरी कल्पने बता दे मुझे करेगी अब क्या ?
धनुर्यज्ञ का वर्णन कर तू सकुचाएगी तब क्या ?
पूजनीय ऋषि वाल्मीकि ने करके उस वर्णन को–
अरी कल्पने, धन्य किया है अपने कवि जीवन को।

२२८

जिसको, री, अपनी माला में कालिदास कविवर ने
गूँथा है,–ज्यों दिन की माला गूँथी है रविकर ने,
ऐसे कुशल फूल माली के स्वकर, ग्रथित हारों में–
उस विवाह-वर्णन में तू फँस जाएगी तारों में।

२२९

देख, आदि कवि के उन शब्दों को ही पढ़ते-पढ़ते–
मन जाता विवाह-वेदी ढिग क्रमशः चढ़ते-चढ़ते,–
जिस से त्रेतायुग में उठकर धूम्र-यज्ञ ने जगको,–
प्रेमादर्श दिखाया करके पावन जीवन मग को।

२३०

तद्वत् कालिदास की गतिमय तीव्र कल्पना-धारा–
परशुराम के प्रखर परशु का तेज दिखाती सारा,
अब तू फिर क्या जाएगी उस अति चित्रित उपवन में ?
क्या तू स्वाद, अरी, पाएगी इस चर्वित चर्वण में ?

२३१

पूजनीय श्री तुलसी ने भी निज अन्तर्दशन से–
मनोहारिणी छटा दिखाई है भावाकर्षण से–
वह बगिया की सैन-बैन, वह गौरी का मृदु पूजन,–
तुच्छ, सुना क्या तू सकती है वैसा कोई कूजन ?

२३२

इसीलिए तू कर प्रणाम उन प्यारे मृदु चरणों में–
किंकिणि-रव के क्वणित,प्रवाहित,नादित कल झरणों में।
जीवन की कालिमा मेट तू लगा चरण-रज-चन्दन,
आ, ऊर्म्मिला कुमारी के पद-पद्मों में कर वन्दन ।

२३३

पट-परिवर्तन होते ही वह लक्ष्मण-रानी होगी,
अपनों को ऊर्म्मिला तजेगी और बिरानी होगी ;
श्वशुरालय में देवि सुमित्रा उस पर बलि जाएँगी,
वह माता कौशल्या का मृदु लाड़ प्यार पाएगी ।

२३४

कुछ वर्षों में गाढ़ प्रणय का हार ग्रथित होवेगा;
अचल प्रेम मन्दिर से हिय का सिन्धु मथित होवेगा ।
मान-मनौवल की अनेक शत प्रिय लहरें लहराकर,–
लाएंगी स्मितियुत सम्भाषण के शत-शत रत्नाकर ।

२३५

पूज्या श्वश्रू की सिखवन की मीठी-मीठी बातें—
जब-तब श्री ऊर्म्मिला सुनेंगी, गृह में आते-जाते;
जब शत्रुघ्न कहेंगे "भाभी !" तब वह पुलक उठेंगी;
सखियों के सुगूढ़ वचनों को सुन वह किलक उठेंगी।

२३६

अपने बांके प्रिय की प्यारी उस बांकी-सी छवि पर,—
दिन में सौ-सौ बार करेंगी अपने को न्यौछावर;
ननँदी के तीखे कटाक्ष को सुन वह खीझ उठेंगी ;
लक्ष्मण की वीरता-कहानी सुन-सुन रीझ उठेंगी।

२३७

अरी कल्पने, कुछ वर्षों में यह सब हो जाएगा,
यदि तेरा सुदूर दर्शन कुछ-कुछ नव बल पाएगा;—
तो तू करना इन सब बातों का वर्णन, हे बौरी,
तब स्वामिनी तुझे न रखेगी निज करुणा से कोरी।

२३८

अब तू चल साकेत नगर को इस पुनीत नगरी से,
वहाँ उदधि को तू उलीचना छोटी-सी गगरी से,
जब तक हे शिथिले, पहुँचेगी तू कोशलपुर वर में,
श्री ऊर्म्मिला पहुँच जायेंगी तब तक पति के घर में।

२३९

किन्तु, ठहर तो तनिक उधर को तू चल धीरे-धीरे,—
जिधर ऊर्म्मिला, माता के सँग, कमल-सरोवर-तीरे,—
आकस्मिक तैयारी की हलचल से आकर्षित हो—
फुल्ल कमल को लजा रही है आँखों से, विस्मित हो।

२४०

इन-विस्मित विस्फारित आँखों की छबि को तू हिय में,–
हलके-हलके धर ले, चित्रित कर ले, छोटे जिय में ।
यह निश्चिन्त भाव, चंचलता यह, यह उच्छृंखलता,–
बन जायेंगी–चिन्ता गहरी गम्भीरता, विकलता ।

इति श्री प्रथम सर्ग

श्री लक्ष्मणार्पणमस्तु

अथ श्री द्वितीय सर्ग

(१)

सखि कल्पने, देख तो यह आनन्द और उल्लास महा।
किस आकर्षण से खिंच आया, क्यों यह सहसा उमड़ रहा ?
राग-रंग यह क्यों छाया है ?
यह कैसा प्रवाह आया है ?
परम-प्रतीक्षा-सरिता का तट,–
कहो, आज क्यों सरसाया है ?
अवधपुरी के द्वार-द्वार पर बँधे हुए हैं बन्दनवार।
कौन आ गई हैं जिन के हित आज सजे ये नन्दन द्वार ?

(२)

गगन विचुम्बित नर-पति गृह के सिंह-द्वार खुले हैं आज,
चतुर शिल्पियों की चतुराई सर्व दिशा में रही विराज।
राज-भवन का कोना-कोना–
चमक रहा ज्यों निर्मल सोना;
चेतन तो क्या ? जड़ भी प्रमुदित–
स्वागतार्थ है बना सलोना।
सखि, कुछ तो कह, यह सब क्या है, कौन शुभ घड़ी आई है ?
आज किस लिए कोशलपुर की गली-गली हुलसाई है ?

(३)

शहनाई बज रही, नगाड़ों का रव गूँज रहा सब ओर,
मानो मूर्त्तिमान हर्ष-ध्वनि गगन भेदने चली अथोर ।
लक्ष-लक्ष पुरजन आए हैं,
दशरथ नृप के गृह छाए हैं,
अपना भक्ति-भाव लाए हैं,
प्रेम-मुदित हैं, हरषाए हैं ।
इन्हें कौन-सा कोष मिला है ? क्यों य हर्षोन्मत्त हुए ?
वृद्ध अवध-पति के लोचन क्यों आज नेह से सिक्त हुए ?

(४)

सुनो राजगृह में गाती है गणिका मधुर-मधुर कड़ियां,
प्रीति-काव्य की गूँथ रही है चतुरा सुखद स्निग्ध लड़ियाँ ;
सुनो उठ रही वह स्वर-लहरी–
स्वागत गीतों की रह-रह, री,
उसको सुनें और हम जानें,
क्यों उमड़ी हर्ष-ध्वनि गहरी ।
त्रेता के कोशलपुर वासी क्यों यह हर्ष मनाते हैं ?
तब हम जानेंगे किस कारण ये इतने इठलाते हैं ?

(५)

कौशलेन्द्र दशरथ बैठे हैं राजसभा में मस्त हुए ।
मनवांछित फल पाकर उनके पूरित है श्री हस्त हुए ।
इधर राम-लक्ष्मण के श्री मुख–
वृद्ध पिता का हरते हैं दुख ;
उधर भरत-शत्रुघ्न विराजे ;
सरसा तात-हिए में नव सुख ;
नरपति के दाएँ-बाएँ में खिले पुरातन उपवन फूल,
हुए अंकुरित वृद्ध विटप में अथवा नव पल्लव सुख मूल ।

(६)

एक बार सूखा जाता था एक बृहन्नद किसी प्रकार,
पर चारों दिशि से बह आए सोते चार—मिले मँझधार ;
फिर तो सुनद लगा घहराने,
लहरें उठीं, लगीं लहराने,
नाम नाश का त्रास मिटा यों,
ज्यो तम, रवि कर जब फहराने ;
अवध नृपति आनंद मग्न हैं, मन में अमित सिहाए हैं,
अपने चारों ओर देख निज नूतन रूप लुभाए हैं ।

(७)

बहुत दिनों तक धारण की जो रघुकुल-यश: पताका थी,—
अपने ही कन्धों पर हिय में चुभती दु:ख शलाका थी ;
उस को कौन सँभालेगा अब ?
कौन सुदृढ़ कर थामेगा अब ?
रघु का धनुष-बाण क्या होगा ?
किमि अरि-हिय में शालेगा अब ?
इसी प्रकार सोचते थे नृप, इतने ही में बहा समीर,—
अग्निकुंड से अष्ट भुजायें उठीं सँभाल धनुष-तूणीर ।

(८)

सचिव, अमात्य, सुमन्त्र मन्त्रियों से आवृत वे रघुकुल वीर—
राज सभा में अति शोभित हैं ; बैठी महाजनों की भीर ;
लोल विलोचन अति मुकुलित हैं,
सब के रोम-रोम पुलकित हैं,
नव प्रसन्नता की रेखा से
ओष्ठ सुसम्पुट मृदु विकसित हैं ।
मधुर-मधुर गातीं गणिकायें जन-मन की अब थाह नहीं,
सखि कल्पने, लगा तू डुबकी ; और दूसरी राह नहीं ।

(९)

कई सहस्र वर्ष पहिले का रम्य गीत वह गा दे,
भूतकाल के उदधि-गर्भ से सीप शंख कुछ ला दे।

(राज-सभा में गणिकाओं का गीत)

री सखि, आज अयोध्या नगरी—उमड़ी आज अयोध्या नगरी;
चार जुगुल जोड़ी ने कर दीं, आठ दिशायें ये जगमग, री,
उमड़ी आज अयोध्या नगरी।
विकसित है नभ-कुंज, विहंगम गाते मंगल गीत सुहावन
अरी अवध क्या ? फुल्ल कुसुम से सजी हुई है नभ की डगरी;
उमड़ी आज अयोध्या नगरी।
चिरकालीन, जन्म जन्मान्तर का यह योगायोग निहारा,—
चारों स्रोतस्विनी बहीं, आईं निज-निज सागर के ढिग, री;
उमड़ी आज अयोध्या नगरी।
नाम रूप नदियों ने खोया, जब से मिली उदधि में धारा;
सीता-राम ऊर्म्मिला-लक्ष्मण, हुई एक गति उनकी सगरी;
उमड़ी आज अयोध्या नगरी।
चारों राजकुमारों से लघु मन विदेह-ललियों का हारा;
हमरे कुँअर बड़े हैं रसिया, बड़े पुराने हैं ये ठग, री;
उमड़ी आज अयोध्या नगरी।
यों गायन समाप्त होता है, हम को भी अब ज्ञात हुआ—
राम, भरत, रिपुसूदन, लक्ष्मण का यह नवल प्रभात हुआ;
राम और मिथिलेश बँधे हैं—
एक रज्जु में; खूब सधे हैं;
मानो अपनी दुहिता दे कर
हर से मुदित हिमेश बँधे हैं;
इसीलिए यह रम्य अवधपुर आज अनूप सजाया है—
कुशल शिल्पियों ने मिल मानो स्वर्गिक साज लजाया है।

(१०)

चारों भ्राताओं ने उठ कर सब जन-गण को किया प्रणाम,
तब नरपति बोले प्रमुदित हो वचनावलियाँ यों अभिराम,–
"सभ्य-वृन्द, आर्यों के प्रतिनिधि,
है लीलामय की यह गति-विधि,
कि हैं पधारे आज आप सब,
लहरा रहा स्नेह-क्षीरोदधि;
बड़े भाग्य हैं जो सुत-वधुएँ हम ने ऐसी पाई हैं,
मिथिला की लक्ष्मियाँ स्वयं ये अवधपुरी में आई हैं।

(११)

आर्य-धर्म-पालन अति दुर्गम यह क्षुरस्य धारा सम है,
रघुकुल राजदण्ड का धारण अति कठोर कारा सम है;
सुख की इन शीतल घड़ियों में–
इन विलासिता की लड़ियों में–
मोह पूर्ण अति तरल क्षणों में
कुसुमों की इन नय छड़ियों में
आज धर्म का स्मरण, सुगुम्फन शूलयुक्त सम्मिलन महान–
हम सब को करना होगा, हम कर्मनिष्ठ हैं धर्म-प्राण।

(१२)

राजकुमारों से हम कहते हैं–अब आप सम्हल जाएँ,
धर्माचरण रहे सम्मुख,–ये भौंहें कहीं न बल खाएँ;
जागरूकता जीवन-धन है,
सत्याचरण आत्मचिन्तन है,
निश्छल हो कर, जगज्जनों की
सेवा ही, प्रभु का वन्दन है;
न्याय-तुला के दोनों पलड़े आठों याम समान रहें;
बहिर्जगत में, अन्तरतर में ऐक्य भाव का ध्यान रहे।

(१३)

पुरजन, सदा काल से हम पर आप कृपा करते आए,
सदा हमारी राज-काज की चिन्ताएँ हरते आए;
लाए आज नेह-अंजलियाँ,
एतदर्थ ये रोमावलियाँ—
हैं कृतज्ञ, पुलकित, आह्लादित;
और—कहाँ हैं शब्दावलियाँ ?
आप सज्जनों से हम क्या अब कहें ?—स्वयं हैं आप बड़े,
रघुकुल के शुभचिन्तक हैं—हैं राज्यासन के स्तम्भ खड़े।

(१४)

आर्य धर्म में यह वैवाहिक बन्धन परम धर्ममय है,
दो आत्माओं का मिश्रण है,—अभिन्नत्व की जय-जय है;
एक दूसरे से रल-मिल कर,—
जैसे दो कलिकाएँ खिल कर,—
ईश चरण में ढुल जाना है;
या फिर जीवन है पंकिल सर;
मेरे पौर जानपद के गृह पारस्परिक प्रेम संपूर्ण—
सदा रहें, अनमिलता की ये कंकरियाँ हो जावें चूर्ण।"

(१५)

यों कह नरपति जयोद्घोष के मध्य शान्त हो मूक हुए,
पौरजनों के लोचन-मुक्ता ढरक-ढरक दो टूक हुए;
आँखों को कुछ-कुछ समझाते,
अरुझी वाणी को सुरझाते,
नरपति के भाषण से विगलित—
स्नेह-सिन्धु में थे उतराते;
उठे एक प्रतिनिधि अपने हिय के प्रसून बिथराने को;
नवल दुलहिनों के चरणों में निज अंजलि ढरकाने को।

(१६)

"राजन, अहोभाग्य हैं हम सब के, कि आप सरताज हुए,
हम हैं धन्य, अवध धन्या, चर अचर धन्य तव राज हुए ;
काम-मोक्ष की, धर्म-अर्थ की,
अथवा नरपति से अनर्थ की,
तव शासन में, हे शासक वर,
हमें न चिन्ता हुई व्यर्थ की;
अब तो चतुष्फलों की चिन्ता हुई और भी दूर घनी,
क्योंकि सदेह आज प्रकटे हैं, चारों फल, हे अवध धनी !

(१७)

कौशलेश के पुण्यराज्य में ऋद्धि-सिद्धि की कब थी चाह ?
फिर भी आप प्रजा वत्सल हैं, उन्हें घेर लाए, नरनाह !
सीता और ऊर्म्मिला आई,
राम-लखन पर बलि-बलि जाहीं,
श्रुति कीरति माण्डवी सलोनी–
बनीं अन्य दो की परछाहीं ;
अब तो हैं सिद्धियाँ अनुचरा अवध कुमारों की सारी,
आप धन्य हैं, हमें दिखाया यह सुख मुद मंगलकारी ।

(१८)

आज हमारे घर आई हैं ऋद्धि-सिद्धि देवियाँ सभी,
मृदुता, कला, सौख्य, सुषमा जो थीं विदेह गृह अभी-अभी;
वे मिथिला वासी क्या जानें ?
सुषमा को वे क्या पहचानें ?
ऐसी इन ललिताओं में ये–
अवधकुमार जाय अरुझाने ।
अब हम चारों युगल जोड़ियाँ पूजागृह में रक्खेंगे,
नृपति, आपकी कृपा कि हम सब वत्सलता-रस चक्खेंगे ।"

(१९)

राजसभा की लीला कब तक तू देखेगी, अरी सखी,
चल अलबेली, सरयू तट से छोड़ें हम निज तरी, सखी !
एक-एक उत्ताल लहर में–
भँवरों के गँभीर गह्वर में–
देखें हम तुम नवोल्लास यह,
जो छाया है प्रकृति अचर में ।
इधर उधर नैया डुलने दे डाँड़ हाथ से छोड़, सखी,
उसे आज सरयू-प्रवाह से बद लेने दे होड़, सखी !

(२०)

इठलाती है सरयू, लहरें उसकी ये बल खाती हैं
एक-एक में गुँथी नेह का फेना ये छलकाती हैं ;
तटवर्त्ती वृक्षों की डाली–
चूम रही हैं ये मतवाली ;
अवधि-हीन आनन्द समाया,
कँपी पल्लवों की हरियाली ;
बाँके लक्ष्मण, सुघड़ उर्म्मिला की गाथाएँ गाती हैं,
नव-विवाह उत्सव के कारण लहरें हर्ष मनाती हैं ।

(२१)

दिनमणि ने नभ में निज कर से छिटकाया आलोक नया,
फैला सौरभ, भूतल रीझा, प्रकृति हँसी, तम-शोक गया ;
उड़े विहंगम छोड़ नीड़ ये,
हुए आज हैं विगत-पीड़ ये,
खुला राग का कनक-करण्डक,
मुखरित हुईं विभास-मीड़ ये ।
कण्ठ नहीं, अणु-अणु गाता है, दिग्-दिगन्त हैं कम्पित आज,
विश्व गा रहा––अहा रही हैं लखन हिये ऊर्म्मिला विराज ।

(२२)

अवधपुरी की सदन-लक्ष्मियाँ स्नान हेतु सब आई हैं,
'शिव संकल्पमस्तु' की ध्वनियाँ सरयू के तट छाई हैं;
वेद ऋचाओं का कल गायन,
सुन पड़ता अति मंगल पावन,
चली, बह चली तरी उधर ही—
जिधर उठा यह स्वर मन-भावन ;
सुनो कल्पने, क्या कहती हैं ये सब स्नानाकांक्षिणियाँ,
सुनो मधुर झंकार रही हैं उनकी कंकण-किंकिणियाँ ।

(२३)

मैं सुमन्त गृहिणी के सँग कल राजभवन में गई, सखी,
पुलकित हो सुमन्त-रानी की यों उठ बोली नई सखी—
बड़े नेह से, बड़े चाव से,
मुझे बिठाया हाव-भाव से,
पटरानी ने । फिर बोलीं वे—
"वधुओं के दर्शनाभाव से—
तुम्हें लौट जाना होगा ।" मैं यह सुन कर कुछ सहम गई,
वे कहती ही गईं—"हमारी सब वधुएँ अब अगम भईं ।"

(२४)

कुछ न समझ पाई मैं, आली, सोचा यह कैसा व्यापार ?
पटरानी मेरे प्रति यों क्यों रूठी बैठी हैं इस बार ?
मृदु उपहास न समझ सकी मैं,
खो बैठी सुध-बुध निज की मैं,
साम्राज्ञी के उस श्रीमुख पर—
गंभीरता देख झिझकी मैं ;
तब तो सौम्य सुमित्रा माता किलक उठीं उल्लास भरी,
मैं भी सम्हल गई—हो आई वधु-दर्शन की हौस हरी ।

(२५)

"अवध बासिनी ललनायें हैं, सुत-बधुओं की चोर बड़ी,
अपनी आँखों में ले जातीं, उन्हें उठा कर खड़ी-खड़ी ;
इसीलिए वधुओं का दर्शन–
उत्सुक नयनों का आकर्षण–
तुम्हें न होगा, जाओ निज गृह,
मानो कहा, बन्द हैं दर्शन ।"
यों लक्ष्मण जननी ने बोले विहँस वचन, मैं धन्य हुई,
नवल दुलहिनों के दर्शन की इच्छा और अनन्य हुई ।

(२६)

मैं बोली कि 'अवध बालाएँ चोर, पुरुष सब डाकू हैं,
दूर-दूर की निधियाँ लूटें, ऐसे बड़े लड़ाकू हैं ;
अब विदेह की निधि दिखलाएँ–
आप उन्हें झटपट ले आएँ,
आँखें तरस रही हैं, देखूँ,
कैसी हैं वे नव कलिकाएँ ।'
रानी कौशल्या यह सुन कर मुसका के चुप साध रहीं,
मात सुमित्रा ने धीरे से मेरी कोमल बाँह गही ।

(२७)

किए दरस सीता के, वे हैं गौरव की गँभीर-सी मूर्त्ति,
उन्हें देख मन में कुछ भय, कुछ आदर की होती है स्फूर्ति ;
सचमुच वे विदेह ललना हैं,
गुरुता से उनकी तुलना है,
मुख प्रखर-द्युति से आलोकित,
आँखों में असि की छलना है ;
किन्तु, अहा ! लक्ष्मण-रानी को जब आँखों भर के देखा,
तब तो नेत्र उमड़ आये यों, ज्यों बरसी हो अभ्रलेखा ।"

(२८)

"क्यों क्या हुआ ?" एक ने पूछा, वृद्धा दूजी बोल उठी–
"अरी, पूछती क्या हो ? वृद्धा मैं भी नृप-गृह बीच लुटी ;
बहू ऊर्म्मिला में जब अटकी,
सहसा ढरक गई दधि-मटकी,
स्निग्ध-नेह बह चला अचानक,
सँभल-सँभल, फिर-फिर मैं लटकी ;
क्या जानूँ, क्यों उसे देखते सहसा ही उमड़ाय हिया,
मिथिला की जादूगरनी है, देख न क्यों अकुलाय हिया ?

(२९)

मँझली रानी पूछ उठी–क्या है इस नन्ही दुलहिन में ?
आँखें पोंछ कहा तब मैंने–'यह मन्तर करती छिन में !'
अहा ! बहू है या कि खिलौना,
मिथिला का नवनीत सलौना,
कौन ब्रह्म में हो विदेह रत,
लाए यह प्रसाद का दौना ?
अब जब जनकपुरी जाऊँगी तो यह उन से पूछूंगी ।"
"पूछ क्या करोगी ? बूढ़ी हो,"–"लली, तुझे समझा दूँगी ।"

(३०)

"मैंने भी लक्ष्मण की रानी, देखी है" तीजी बोली,
"कितना सुन्दर मुख, क्या लोचन, औ' कैसी मीठी बोली !
सुकुमारता अवध आई है,
अथवा विधि की चतुराई है,
आँखों में वह क्या है ? देखूँ ?
अहा ! अतल की गहराई है !
उसे देखते ही यह अनुभव होता–मानों यह मैं हूँ,
कई करोड़ बरस आगे जो दौड़ गई हूँ क्षण में, हूँ ।

(३१)

यही भाव, यह अपनेपन का अति विशुद्धतम रूप निहार—
सब पागल-सी हो जाती हैं देख सुमित्रा की मनुहार;
बड़े भाग लक्ष्मण लाला के—
हाथ आ गए इस बाला के,
छोड़ धनुष वे अब विचरेंगे
बने कुसुम उस की माला के;
आर्य—देश की कुल-ललनाएँ हुलस उसे अपनाएँगी,
उसको अपने पूजागृह में वे आदर्श मनाएँगी ।

(३२)

वह लज्जा की मूर्त्ति, उर्म्मिला बहू सौम्य-सुठि की प्रतिमा,
आत्म-निवेदन की छोटी सी मूरत है वह गुण-गरिमा;
वीर सुधन्वा लखन-चरण में—
ढरक रही है वह क्षण-क्षण में,
मानो चिर वियोग के आँसू,—
प्रिय-पादाम्बुज के रज-कण में;
नारी की निष्ठा का ऐसा उज्ज्वल उन्नत रूप कहाँ ?
नेह सुधा के मधुर रसों का उमड़ रहा है कूप यहाँ ।

(३३)

आँखों को देखो—रामानुज-नेह-जाल में फँसी हुई,
मिथिला-सर से युगल मछलियाँ आ पहुँची हैं गँसी हुई;
क्षण में ये मचलें चंचल-सी,—
लखन नाम सुन के, निश्छल-सी,
क्षण में ये नीरव हो जावें—
प्रकृत नटी के जड़ अंचल सी;
सच मानों ऊर्म्मिला, मुरलिका के सुदूर निक्क्वण-सी है,
अथवा विस्मृत निज स्वरूप के सहसा पुनर्स्मरण-सी है ।

(३४)

अहो ! अभी नन्हीं है, फिर भी बरबस जिया चुराती है,
खींच हमारे प्राण, न जाने चतुरा कहाँ दुराती है ?"
यह सुन एक सखी यों बोली–
"ज्ञात न तुम्हें ? बड़ी हो भोली !
चोरी में आधा-साझा है,
तुम तो हो उसकी हमजोली ।
जहाँ चरा कर चित्त हमारे विमल उर्म्मिला धर आई
रंच बता दो ठौर वही, सखि, मैं बलि गई, परौं पाई ।"

(३५)

"आर्ये, मेरे भाग कहाँ जो मैं उसकी संगिनि होऊँ,
चरण-धूलि भी यदि पा जाऊँ तो अति बड़भागिनी होऊँ;
मैं तो उसके हाथ बिकानी,
प्रथम दरस ही में अरुझानी,
हृदय-खंड हिम-खंड बना था,–
हुआ आज यह पानी-पानी ;"
यों कहते-कहते उस ललना के दो लोचन छलक गए,
ज्यों सन्ध्या वन्दन के जल से तुलसी के दल पुलक गए ।

(३६)

अब तक तरुणी एक ध्यान से सुनती थी चुपके-चुपके,
वह आगे बढ़ कर बोली–"मैं सुनती रही तुम्हें छुपके,
किन्तु निरी हो गौएँ तुम सब,
वधुओं के मुख-दर्शन की ढब–
तुम्हें न आई सपने में भी ;
अब सुन लो कुछ मेरे कर्तब ;
तुम तो गईं, बलैयाँ ले लीं बहुत हुआ शर चूम लिया,
यह क्या ? जब तक हो न ठठोली तब तक हो क्यों शान्त हिया ?

(३७)

मैं पहले सीता से सस्मित बोली पर, कुछ डर, मन में,
'बतलाओ, क्या ललित सम्मिलन रहता गहन वेणु-वन में ?'
यह सुनते ही वे कुछ हिचकीं,
कुछ गंभीर हुईं, कुछ झिझकीं,
फिर गौरव से आँख उठाकर–
'यह मर्याद आपकी निज की
कि यों प्रथम परिचय में स्वागत करती हैं उपहासों से,
या कि अवध में स्वागत होता है यों सूखे बाँसों से ?'

(३८)

क्षमा याचना कर मैं पहुँची माण्डवि, श्रुतिकीरति के पास,
वे हैं सीधी-सादी मानों भोलेपन की हों उच्छ्वास ;
सब को देख अन्त में जा कर,
देखा वह मुख-कमल उजागर,
जिसकी मौन-मूर्ति की तुम सब–
मुखरित होती हो, पूजा कर,
उसे देख फिर से उद्गीरित वे ही वचन हुए क्षण में ;
'बतलाओ, क्या ललित सम्मिलन रहता गहन वेणु-वन में ?'

(३९)

'मानवता से दूर, मिलन का नीड़ बना यदि निर्जन में,–
तो फिर अवध-वास छोड़ो तुम जाओ आर्ये ! घन वन में;'
यों बोलीं हँस हँस वे बोली,
जनक लली उर्म्मिला सलोनी,
मानों मम विनोद भिक्षा की–
उन ने हँस कर भर दी झोली ;
मैं उन पर हो गई निछावर; सुघड़ लली ने खींची डोर
मोद-चंग चढ़ गई गगन में गूँजा मन मृदंग का घोर ।"

(४०)

सुन-सुन यह विनोद वर्णन, सब नव बालाएँ वृद्धाएँ,
हरख उठीं ज्यों हरि-कीर्तन से विकसित होती श्रद्धाएँ ;
सरयू का रमणीय तीर वह—
जहाँ जुड़ी कोकिला-भीर वह—
मुखरित हुआ, समीर डुल उठा,
तरल ताल दे उठा नीर वह ;
मेरी मृदु कल्पने, छोड़ तू अब कागद की यह नैया,
स्नान करेंगी अब ये त्रेता के युग की आर्या मैया ।

(४१)

चलो देखने नृप दशरथ का वैभव पूर्ण भव्य प्रासाद,
अन्तःपुर में चारों वधुएँ हरतीं जहाँ समस्त विषाद ;
ये सब वधुएँ नई नवेली,
संग लिए निज सखी-सहेली,
कौन खेल वे खेल रही हैं ?
किधर ढुरकती हैं अलबेली ?
माँ कौशल्या और सुमित्रा को किस भांति रिझाती हैं ?
रंच देख लें, श्वसुर-सदन में कैसे काल बिताती हैं ?

(४२)

पर चलने के पूर्व यहाँ से कर ले तू वन्दन अभिराम—
इस सरयू सरिता का, जिसकी बालू में खेले हैं राम ;
रघु ने जहाँ तपस्या करके,—
आर्य-धर्म पाला जी भर के,
जहाँ दिलीप सुधन्वा विचरे—
राजदण्ड शुभ कर में धर के;
आर्य सभ्यता के प्रकाश का एक अंश जिन कूलों से—
फैला, वहीं चढ़ा दे अंजलि तू आँखों के फूलों से ।

(४३)

सिकता के कण-कण में सौ-सौ निहित हुई हैं सुस्मृतियाँ,
अणु-अणु में हैं अश्वमेध की छिपी हुई शत-शत कृतियाँ ;
जहाँ भानुकुल उदित हुआ है,
जहाँ न्याय कुल मुदित हुआ है,
सरयू का वह तीर सुहावन—
आज नेह-निर्झरित हुआ है ;
रजकण, जलकण, बालू के अणु स्वनित वायु में मिले, अहो,—
उड़े जा रहे नभ वक्षस्थल करने क्या स्नेहार्द्र, कहो ?

(४४)

सदा काल से तुम बहती हो सीधी, स्रोतस्विनि, सरयू,
आज बहा दो उलटी धारा, मानो हे स्वामिनि, सरयू,
तनिक देर उलटी बह जाओ,
वर्तमान को दूर हटाओ,
देश काल का तोड़ कुबन्धन—
उस अतीत के गर्भ समाओ;
मम कल्पना, लेखनी मेरी तनिक लिए जाओ तुम साथ,
कुछ बटोर लाएँगी जो कुछ आ जायेगा इनके हाथ ।

(४५)

किन्तु, नहीं, जाने दो, यह तो भ्रान्त चित्त की बिनती है,
अलि, अतीत के अन्तस्तल में मेरी क्या कुछ गिनती है ?
मेरी यह कल्पना यहीं पर—
विचरे त्रेता युग के भीतर,
हरिश्चन्द्र-रघुकुल सरिता यह—
वेगवती, है वह अति दुस्तर ;
मुझ को यहीं ऊर्म्मिला-लक्ष्मण के चरणों में रहने दो,
ललित व्याह की लजवंती इस कालिंदी में बहने दो ।

(४६)

हे तटवर्त्ती विटप-अवलियो, क्या न सुना वह स्नेहालाप ?
तुम न भूलना ललनाओं का वह रसमय वात्सल्य-मिलाप ;
रखना याद अनोखा यह दिन,
गाँठ बाँध लेना तुम गिन-गिन ;
भला-भटका मैं जब आकर,
यह सब पूछूँगा मैं जिस दिन,–
उसी समय, उस दिन, हे पादप ! जो पीते हो सरयू नीर,
तुम्हें सभी कुछ कहना होगा डुला-डुला कर किसलय-चीर ।

(४७)

नीड़ों में तुम बैठ रहे हो मौन हुए जो चुपके से,
हे सब गगन बिहारी द्विजगण, क्यों बैठे हो दुबके से ?
अवधपुरी की बालाओं ने––
त्रेता की गृह-ललनाओं ने–
पूज्य ऊर्म्मिला के सुनाम की–
उन श्रद्धायुत मालाओं ने
लक्ष्मण की प्रियतमा वधू का सुन्दर नाम स्मरण किया,
उसे कभी न भूलना, रख लो विस्फारित कर मृदुल हिया ।

(४८)

एक बार आऊँगा मैं जब दिन-मणि होता होगा अस्त
जब तुम बैठे होगे दिन के कर्मों को करके संन्यस्त ;
उस क्षण तुम सब हो कर नीरव,
किए शान्त कलरव का विप्लव,
मुझे सुनाना इस प्रभात के–
मुदमय सम्भाषण का गौरव
तुम्हें आज निज पंख-पत्र में यह गाथा है लिख लेनी,
जो कुछ कहती हैं ये स्नानातुरा रमणियाँ पिक-बैनी ।

(४६)

ग्रौर तुम्हें क्या कहूँ उल्लसित सरयू की चपला धारा,
युग-युग लौं उड़ेलती जाग्रो तुम यह तरल प्रेम सारा ;
ग्रवधपुरी की नेह-पाश हो,
रघुकुल की तुम गलित श्वास हो,
शतियों की इतिहास लेखिका–
प्रिय ग्रतीत का शुभ-प्रकाश हो ;
बनी करधनी, कौशल जन-पद की तुम सब कुछ जानो हो,
वर्तमान का मधुर स्वाद यह ग्रनुभव से पहचानो हो ।

(५०)

श्री ऊर्म्मिला-कीर्त्ति-गाथा यह तुम ने सुन ली मन देकर,
मुझे बताना जब मैं ग्राऊँ ग्रपना दुखित हृदय लेकर ;
ग्रपने जन को भूल न जाना,
मुझे कहाँ है ग्रौर ठिकाना ?
इधर-उधर से फिर-फिर कर के–
यहीं खिचेगा मन दीवाना ;
शोक-तप्त, लौकिकता-ज्वर से पीड़ित यह ग्रपना माथा,
जब ला रखूँ गोद में, तब तुम कहना यह ग्रतीत गाथा ।

(५१)

ग्रौर तुम्हारी गाथा होंगी–यही ऊर्म्मिला की बतियाँ,
कह-सुन जिन्हें पसीजीं ग्रखियाँ, धक-धक धरक उठीं छतियाँ ;
प्रात वायु में डोल उठीं जो,–
दशरथ के गृह जाय लुटीं जो,–
करके दरस लखन-जाया के,–
सिहर उठीं ज्यों पर्ण कुटी जो,–
उन ललनाग्रों ने, सरयू, तव विमल कूल में जो गाया,
ग्राज सवेरे, वही गान हो गया हिये की लघु माया ।

(५२)

चलो देखने अब दशरथ का भव्य विशाल, सुखद प्रासाद
जहाँ चार वधुएँ अन्तःपुर में छिटकाती हैं आह्लाद ;
वे सब वधुएँ नई नवेली,
संग लिए निज सखी सहेली,
कौन खेल वे खेल रही हैं ?
किधर छुप रही हैं अलबेली ?
माँ कौशल्या और सुमित्रा को किस भांति रिझाती हैं ?
रंच देख लें, श्वसुर-सदन में कैसे काल बिताती हैं ।

(५३)

अन्तःपुर की द्वार देहली पे बाहर रुक जाना तू,
चरण चिन्ह ऊर्म्मिला बहू के देख, सम्हल पग धरना तू ;
इधर उधर मत फिरती रहना,
अपने मुख से कुछ मत कहना,
हृदय-पटल पर धीरे-धीरे—
लिखती रहना, भोली बहना ;
री कल्पने ! द्वार पे रुकना और सम्हल जाना, चतुरा !
लखन-उर्म्मिला की पद-रेखा तनिक चूम लेना, विधुरा !

(५४)

भावी की, अतीत की, विस्मृत-पट की, विस्मारक तट की,—
जीवन-वट की, मन-मर्कट की, विषाद की श्यामा लट की,—
सब की याद भूल कर जाना,
रंग चढ़े तुझ पर मस्ताना,
इधर-उधर से चित्त हटा कर—
नवल वधू के चरण लगाना,
ले आना उनकी क्रीड़ा के, कुछ विकसित, कुछ मुकुलित फूल,
उन्हें सजा देना हिन्दी-सरयू-सरिता-कविता के कूल ।।

राज प्रासाद में

(५५)

एक बार जिन को देखा था जनक राज के मंजु सदन में,
उन्हें आज चल देखें, आली, दशरथ नृप के भव्य भवन में,
ललित ऊर्म्मिला, सुरभित सीता आ पहुँची हैं अपने घर में,
एक छोर से दूजे तक ज्यों सौदामिनी गई अम्बर में ।

(५६)

सासों की गोदी में, माँ का मृदु उत्संग छोड़ उठ आईं,
अथवा उत्तर दिन की किरणें वर्तमान दिन में जुट आईं,
फैला वत्सलता-प्रवाह वे युग तट श्वश्रू-सरिताओं के—
पूरित थे । हिय में उफान आ गया नेह-पय-भरिताओं के ।

(५७)

एक ओर प्रासाद कक्ष में लक्ष्मण-प्रिया विराज रही है,
अथवा फलकासन पर सस्मित कुसुम-राशि मृदु भ्राज रही है,
पीछे खड़े हुए रिपुसूदन मुसकाते से देख रहे हैं,
अपनी भाभी के स्कन्धों के ऊपर से झुक , पेख रहे हैं ।

(५८)

तन्मय-सी, नीरव-सी बैठीं सम्मुख मुग्ध सुमित्रा माता,
हर्ष और सन्तोष भाव यह मुख पर रँग अपना छलकाता ;
झलक रही है चिर कृतज्ञता उन जगती के स्वामी के प्रति,
जिनके कृपा-कटाक्ष मात्र से फूली यह फुलवारी सम्प्रति ।

(५९)

निज पति का औदास्य-भाव वह वे अब सहसा भूल गईं हैं,
क्षीर-दान की बेला का वह दुःख गया। अब शूल नहीं है।
अब आई बहार,—वृद्धा की सूनी कुटिया आज खिल उठी,
उड़ बैठी उर्म्मिला कोकिला, हिय की डाली आज हिल उठी।

(६०)

एक ओर यह प्रकृति, दूसरी ओर प्रकृति की माया बैठी,
अथवा दूजी ओर प्रकृति के गुण, लक्ष्मण की छाया बैठी,
उनके पीछे सस्मित से ये लघु सौमित्र देखते हैं यों,
निश्छल भाव मनुज तन धर के आया हो कुसुमित हो कर ज्यों।

(६१)

एक ओर वृद्धा ऋतु रानी फूली-फली विराज रही हैं,
और दूसरी ओर यह कली सुख की थाली साज रही है;
लाज समाई इन आँखों में—उन में हैं सन्तोष समाया,
इधर शुत्रसूदन-नयनों में मृदु उपहास हास्य-रस लाया।

(६२)

आज सुमित्रा माँ का मानस—दिङ्-मंडल गत-शोक हुआ है,
छाया, धूप, वायु, बादल, सब शान्त हुए। आलोक हुआ है।
उनकी प्राची दिशि में दो-दो चन्द्र उदित हैं आज सुखारे,
जिन की विमल चन्द्रिकाएँ ये हरती हैं उनके दुख सारे।

(६३)

अरे, वेदना कहाँ ? सुमित्रा माँ के मन की हूक कहाँ है ?
उस मँडराती विकला चकई की निशीथ की कूक कहाँ है ?
कहाँ ? कहाँ वह गई वेदना ? कहाँ क्लेश की चरम यातना?
धन्य चिरंतन तप की प्रतिमें, धन्य सुमित्रे ! धन्य भावना।

(६४)

हे माँ, झूला आज डाल दो, निज रसाल की एक डाल पे,
अथवा ग्रीवा से आंदोलित अपनी इस आलम्ब-माल पे ;
बैठाओ ऊर्म्मिला बहू को और लखन भी आन विराजें,
धीरे-धीरे तुम झोटे दो—खड़ी-खड़ी वत्सलता लाजे ।

(६५)

इस धन को, हे चिर भिखारिणी माँ, किस गृह से ले आई हो?
यदि प्रतिपण का सौदा है तो बदले में क्या दे आई हो ?
आदान–प्रतिदानों के या विनिमय के उन पुण्य-गृहों में–
मिलता है यह ? या मुनियों के तप से पूत अरण्य-गृहों में ?

(६६)

खूब जतन से इसे जोहना, देवि सुमित्रे , धन्य भाग हैं ;
आज तुम्हारे द्वारे आ कर खुल खेले ये रंग-राग हैं ।
झर-झर पिचकारी उड़ने दो, गूँज उठे मीठी स्वर-लहरी ;
तन रँग जाय, हृदय भी डूबे, पुलक उठें हम सब रह-रह, री।

(६७)

यह झिलमिल प्रकाश आलोकित कर दे सारे जगतीतल को,
मां, यह पुण्य-प्रसाद तुम्हारा करे विमल सब के हीतल को;
सर्व दिशाएँ गूँज उठें अब लक्ष्मण के उस धनु दुर्धर से,
और ऊर्म्मिला उन की कीर्त्ति गा उठे अपने स्वर हिय-हर से ।

(६८)

नव-प्रभात की बेला, अथवा सान्ध्य-किरण के गृथित जाल में,
जब चाहो अंकित कर देना, माँ, चुम्बन इस शुभ्र भाल में;
मम कम्पित कल्पना रहेगी खड़ी मूक-सी एक कक्ष में,
जब तुम इस दुलहिन को, माता, छिपा रखोगी स्फुरित वक्ष में।

(६९)

विगत विषाद-वक्र रेखा के जो अंकन तव हृदय-पटल के,
आज ऊर्म्मिला उन्हें पोछती अपने कर से हलके-हलके ;
माँ, पुँछ जाने दो उन सब को, रहे न कुछ भी चिन्ह शेष अब,
कब की बात ? बहुत दिन बीते । उनका क्या लवलेश-क्लेश अब ?

(७०)

तुम ने कब अपनी पीड़ा का स्रवित अरुष जग को दिखलाया ?
द्रवित क्षणों की संस्मृतियों को सदा भूलना ही सिखलाया ;
अच्छी माँ, इस सुख के क्षण में आज तुम्हें पल्लवित देख कर,
यह कल्पना जा रही क्यों तव विगत दुःख की मलिन रेख धर ?

(७१)

जाने दो कल्पने, निरी तुम मूर्खा हो, लौटो, आओ री,
गई कहाँ थी और कहाँ जा पहुँचीं ? पगली हो, आओ री;
देखो इधर सुमित्रा बैठी और सामने ऊर्म्मिला बहू
उनके पीछे रिपुसूदन हैं, कैसे वर्णन करूँ, क्या कहूँ ?

(७२)

प्राची-दिशा बधूटी के सम श्री ऊर्म्मिला बधू के लोचन,–
कुछ-कुछ उन्मीलित हैं; उन में छाए हैं लक्ष्मण-रवि-रोचन ;
अभी आँख के ओझल हैं वे, यथा प्रात से पूर्व दिवाकर,
आ पहुँचा आलोक ऊर्म्मिला के कपोल के फुल्ल कमल-सर ।

(७३)

रिपुसूदन उनके पीछे स्मित हास्य कर रहे हैं विकसित यों,
अरुण-किरण से प्राच्य क्षितिज में मेघ खंड होता बिलसित ज्यों ;
ये बैठीं सामने सुमित्रा देख रहीं क्रीड़ा मन भावन,
विश्वेश्वर की नियम-शृंखला मानों विश्व घुमाती पावन ।

(७४)

झुकी हुई हैं वधू ऊर्म्मिला इक आलिखित चित्र के ऊपर,
कर सरोज में लिए तूलिका , हैं गुनगुना रहीं मीठे स्वर ;
कुछ पूरा, कुछ रहा अधूरा, रखा सामने एक चित्र-पट,
मुख-अरविन्द समझ मँडारने लगी एक लोलुप भ्रमरी-लट ।

(७५)

मानों अर्ध सृष्टि रचना कर आदि-कल्पना बैठ रही हो,
कुछ-कुछ श्रमित और कुछ विस्मित मन ने मानों बाँह गही हो;
झलक रही है कुशल तूलिका में अनेक रंगों की झाँई,
मानों पँचरंगी साड़ी की पड़ी लोचनों में परछाईं ।

(७६)

"भाभी, क्या नव मृगया-प्रेमी की छवि चित्रार्पित यह की है ?"
यों बोले शत्रुघ्न कि मानों जिज्ञासा-कलिका महकी है ;
"हाँ लल्ला, पर रहो देखते चुपके-चुपके मेरी लीला,"
यों धीरे से प्रत्युत्तर में बोलीं श्री ऊर्म्मिला सुशीला ।

(७७)

"माँ" बोले रिपुसूदन अपनी जननी को सम्बोधित कर के,
मानों बाल-कीर बोला हो निज वाणी संशोधित कर के ;
"माँ, भाभी ने मृगया-प्रेमी अश्व रहित है, अहो, बनाया,
क्या मिथिला की चित्रकला ने अप्राकृतिकता को अपनाया ?

(७८)

बड़ा शिकारी यह भाभी का, पादत्राण-विहीन खड़ा है,
अश्व-रहित, तूणीर-रिक्त, है, धनुष भग्न, फिर भी अकड़ा है;
कैसी चित्रकला है, मैंने इसका कुछ भी भेद न जाना,
भाभी रानी, बतलाओ यह आखेटक का कैसा बाना ?

(७९)

यदि शिकार को निकला था, तो अच्छा एक धनुष लेना था,
और एक बलवान तुरंगम भी तो उसको दे देना था ?
पर तुम ने तो यह सब कुछ भी नहीं दिखाया अपनी कृति में,
माँ, तुम ही कुछ कहो, सुन रही हो डूबी-सी तुम विस्मृति में।"

(८०)

पुलक सुमित्रा बोलीं लख कर रिपुसूदन को यों अकुलाते,
"सुनती हो कल्याणी, अपने देवर की भोली-सी बातें ?
देखूँ, लाओ इधर चित्रपट, क्या विचित्रता तुमने भर दी,
क्या अस्वाभाविकता चित्रित इन रेखाओं में है कर दी ?"

(८१)

दिया ऊर्म्मिला ने उनको वह चित्र बिहँस कुछ, कुछ लज्जित हो,
ज्यों लज्जा आज्ञानुवर्त्तिनी हो, चिर नियमों से सज्जित हो;
मग्न हुईं जब माँ ने देखा निज लाड़िली बहू का चित्रण,
मानों सहसा याद आ गया गत जीवन का कोई लक्षण।

(८२)

फिर बोलीं "यह मृगया प्रेमी, बहू, कहाँ से तुम ने पाया ?
इतना सुन्दर रूप-निरूपण! यह तुमको किसने सिखलाया ?
इस चिर आखेटक का मुख तो लक्ष्मण के मुख के समान है,
अपने आदर्शों के पीछे खो बैठा यह स्मृति-ज्ञान है।

(८३)

मैं बलि गई. बताओ, किस ने तुम्हें सिखाई चित्रकला यह ?
रेखाओं की सांयोगिक अति ललिता अभिव्यक्ति कुशला यह ?
सच कह दो, लक्ष्मण को, तुम ने कैसे समझा कि वह शिकारी–
अपने निश्चय का पक्का है ? बोलो रानी, मैं बलिहारी।

(८४)

लघु सौमित्र हुए कुछ विस्मित, कुछ शरमाए, कुछ सकुचाए,
माँ के वचनों को सुन फिर से चित्र देखने दौड़े आए ;
उत्सुक हो कर उन ने फिर से ललित चित्रपट को अवलोका,
कुण्ठित बुद्धि सम्हल जाती हो मानों खा कर कुछ-कुछ धोका।

(८५)

पर, बोले, "माँ, लगीं बोलने तुम भी भाभी की सी बातें,
दोनों मिल कर मुझे बनाती हो, जानूँ मैं ये सब घातें ;
मेरी शंकाओं का कर दो निराकरण तुम, तब मैं जानूँ,
ऐसा अस्त व्यस्त आखेटक कहीं बता दो तब मैं मानूँ।

(८६)

इसके पहले मैंने देखा कहीं न ऐसा अजब शिकारी,
धनु टूटा कांधे पे, मानों झोली डाले खड़ा भिखारी ;
माँ, तुम कहती हो भैया से मिलती है इसकी कुछ सूरत,
है प्रणाम, यदि यह भैया की, भाभी के मन की है मूरत।

(८७)

क्यों भाभी, क्या इसी रूप में उनका सतत ध्यान धरती हो ?
मेरे अपराजित दादा का यों ही सदा स्मरण करती हो ?"
"लल्ला ! तुम जल्पक हो।" लज्जारुणावनता ऊर्म्मिला बोली,
"पगले, चुप हो !" तब जननी की यों आदेशांगुलियां डोलीं।

(८८)

"शिर आंखों पर है तव आज्ञा, किन्तु मुझे, जननी, जतलाओ,
इस विचित्र भावाभिव्यक्ति का मुझको तनिक तत्त्व समझाओ।"
"वत्स, समझ लो, तुम्हें समझना है जो कुछ अपनी भाभी से ;
बहू, खोल दो लल्ला के हिय-द्वार आज अपनी चाभी से।"

(८९)

"जाती हूं, कौशल्या जीजी बाट जोहती होंगी मेरी,
सभा भवन में जाने में हो नरपति के न कहीं कुछ देरी ;
दक्षिण जन-पद के शासक का निर्वाचन-निश्चय करना है,
किसी चतुर की नव-नियुक्ति से रिक्त स्थान आज भरना है ।"

(९०)

यों कह उठीं सुमित्रा, बोले तब शत्रुघ्न शिरोमणि हँस कर,
"मां, मुझको नियुक्त करना, मैं खूब करूँगा शासन कस कर ;"
"लल्ला, पहले तो तुम मुझसे ले लो अभी कला की शिक्षा,
फिर अपनी झोली में, मां से लेना शासक-पद की भिक्षा ।"

(९१)

यों उपहास वचन भाभी के सुनकर श्री शत्रुघ्न लजाए,
फिर बोले "भाभी, भैया के ये क्या तुम ने साज सजाए ?
तनिक चित्रपट देखो अपना, देखो और मुझे समझाओ ;
क्या प्रेरणा हुई थी मन में, उसकी गुत्थी तो सुलझाओ ।"

(९२)

"रिपुसूदन, मैं क्या समझाऊं, एक हूक उठती है मन में,
हिय में एक बाण लगता है, स्पन्दन होता है कण-कण में ;
तन की सुध कुछ-कुछ सो जाती, ये आंखें झँपने लगती हैं,
तब लोचन तल पे सपने की क्रीड़ाएं कँपने लगती हैं ।

(९३)

बज उठती है हृदय-बाँसुरी, एक मद-अलसता छा जाती,
अति सुदूर, आदर्श चिरन्तन सुन्दर की झाँकी आ जाती ;
अस्वाभाविक और प्राकृतिक, ये सब गिर पड़ते हैं बन्धन,
अपने आप हृदय की कोकिल कर उठती है अश्रुत क्रन्दन ।

(९४)

वन्दन की शत श्रद्धांजलियां अलख-चरण में चढ़ जाती हैं,
कढ़ आती है एक आह, औ' अर्चन-सरिता बढ़ आती है;
कुछ भावाभिव्यक्ति बरबस ही ऐसी घड़ियों में हो जाती,
अतिपूरित जलराशि यथा, बन सरिता, सागर में खो जाती।

(९५)

अपने आप हाथ चलते हैं और तूलिका पन्थ दिखाती;
मदमाती आँखें प्रेरित हो चित्रकला का सूत्र सिखातीं;
एक-एक रेखा में तत्मय अर्पण-रस घुलने लगता है।
जगता है सुषुप्त अभिव्यंजन, हिय बरबस डुलने लगता है।

(९६)

हुआ अनिल-आन्दोलन एक कि नचने लगती पत्ती-पत्ती,
हुआ हृदय व्याकुल कि जल उठी नव आरती-दीप की बत्ती;
भावोन्मेष न कह कर आता है, लल्ला, हृद्धाम तुम्हारे,
ना जाने, कब, किस क्षण आकर वह कर देता वारे-न्यारे।

(९७)

नाच-नाच उठते हैं पागल-से ये कवि गण ताली देकर,
मानों आत्मार्पण को जाते हैं ये हिय की डाली ले कर;
खोते हैं अपना अस्तित्व; न भौतिकता की चाह उन्हें है,
वह क्या है? तुम तनिक कहो, किस अग्नि-शिखा का दाह उन्हें है?

(९८)

चाह कौन सी उनके हिय में? कौन लगन लग रही उन्हें वह?
रह, रह, लल्ला, कौन नचाती है उनको पागल-सा अह-रह?
मूर्त्तिकार कैसा जादूगर जो प्रस्तर में प्राण फूँक दे?
वह क्या है जो जीवित कर दे शिलाखण्ड को, एक हूक दे?

(९९)

ऐसा महाप्राण दानी, जो जड़ को भी चैतन्य बना दे,
ऐसा नीरव गायक, जो जड़ शब्दों को भी धन्य बना दे;
वन्य प्रान्त में, गृह-आँगन में जिसकी गति सब देश-काल में,
वह है कौन? कला का पूजक! अमृत-पुष्प परमेश-माल में।

(१००)

ललित कला? मैं क्या जानूँ सत्-चित्-सुन्दर-स्वरूप-अभिव्यंजन?
अणु-अणु में, रज के कण-कण में, रमा हुआ है अलख निरंजन।"
"भाभी," कम्पित, तन्मय, पगले रिपुसूदन बोले स्नेहादृत—
"तुमने कला-ज्ञान की सीमा को भी किया विशेष अनादृत।"

(१०१)

"लल्ला, पगले भी उतने हो, जितने हो तुम बड़े सलौने,
ऐसी बातें करते हो तुम जैसी करते हैं लघु छौने;
क्या है कला? आध्यात्मिकता की है वह समाधि-तन्मयता,
वह है एक ऊर्ध्व गति, वह है इस मृण्मयता की चिन्मयता।

(१०२)

कविता कब उद्गीरित होती? कब चलती कठिनी बरबस-सी?
कब तूलिका नाच उठती है, मानों कठपुतली परवश-सी?
मुझे बताओ, रिपुसूदन, क्या सदा भाव-संकेत तुम्हारे—
बिना बुलाए, अतिथि सदृश, आ जाते नहीं हृदय के द्वारे?

(१०३)

कवि कब कहता है? केवल तब जब साधनालीन होता है,
एक जाल में बिंधा हुआ जब स्पंदित एक मीन होता है;
प्राण सिमिट, मिट, निठुर लेखनी की जिह्वा में आ जाते हैं,
मसि-भाजन में अहंकार घुल जाता, भाव निखर आते हैं।

(१०४)

इसी अचानक-से प्रवाह का नाम मंजु, मृदु ललित कला है,
यह प्रवाह–जो बिना नियन्त्रण के सब काल, सदा निकला है;
किन्तु कदाचित तुम पूछोगे अन्तिम ध्येय कला का, देवर,
तो सामंजस्य-स्थापन का बना हुआ है कला-कलेवर ।

(१०५)

बहिर्जगत में, अन्तरतर में निर्मलता का ध्यान रहे नित,
तात चरण ने, प्रथम दिवस ही यह शिक्षा दी हम सबके हित;
समता-संस्थापन, जीवन का उसी दिशा में सततार्कर्षण–
जहाँ जगत्पति का सिंहासन–यही कला का अन्तिम दर्शन ।

(१०६)

अब तुम पूछोगे कि तुम्हारे अग्रज का यह कैसा चित्रण ?
मैंने उनको जैसा पाया, तद्वत् ही है यह चित्रांकण;
आर्यपुत्र मेरे जीवन के हैं आदर्श शिकारी, देवर,
जो व्रत-पालन को उद्यत हैं करके सब सर्वस्व निछावर ।

(१०७)

थोड़े से सहवास-काल में मैं यह जान सकी हूँ अब तक–
कि वे महायोगी, वे इन्द्रिय-जित्, वे गुडाकेश, वे अपलक;
यही सुदृढ़ता, यही तुम्हारे अग्रज की भामिनि का निर्णय;
मैंने उन्हें किया है चित्रित इसी लिए हो कर यों तन्मय ।

(१०८)

यह तो उनके पुण्य-चित्र का लौकिक अर्थ बताया मैंने,
किन्तु अलौकिक भाव लिए है यह जो चित्र बनाया मैंने;
उनको भी सुन लो, रिपुसूदन, यह है अरण्यकों की वाणी"
"कहो पुण्यदा मेरी भाभी, कहो कहो रानी कल्याणी ।"

(१०९)

"आय-धर्म के आचार्यों ने सृष्टि तत्व है खोज निकाला,
एक सूत्र में उन ने गूँथा है सुगूढ़ वह तत्व निराला:—
मैं हूं एक, किन्तु प्रजनन के हेतु अनेकों रूप बना हूँ,
अमित विरोधाभासों का मैं अद्भुत पुंज अनूप बना हूँ।

(११०)

इसी दशा की पुन: प्राप्ति की उत्सुक आकांक्षा अंकित है,
अत: समझते हो तुम, इसको कि यह प्राकृतिकता-वंचित है;
त्रेतायुग के सभी शिकारी घोड़े पर चढ़ कर जाते हैं,
पर मम क्रीड़ात्सुक निस्साधन विचरण में ही सुख पाते हैं।

(१११)

साधन हीन, स्वप्न से जागृत, जीवात्मा की यह यात्रा है,
इस में स्वामी के—उस मृग के—दर्शन की उत्सुक मात्रा है;
इसीलिए, देवर, इनका है टूटा धनुष, रिक्त है तरकस,
इन का जीवन ढरक रहा है उन अलक्ष्य चरणों में बरबस।"

(११२)

यों कह सती ऊर्म्मिला चुप हो रहीं कुहुकिनी नव कोकिल-सी,
और, लक्ष्मणानुज की आँखों में झलकीं लड़ियाँ झिलमिल-सी;
उन ने उठ कर, भक्ति-प्रेम से आर्द्र हृदय की झारी लेकर,—
ढरका दी चरणों में। शिर पर छुए उर्म्मिला-ऊषा के कर।

(११३)

इतने ही में सस्मित-वदना शान्ता देवी भीतर आईं,
रिपुसूदन को देख उर्म्मिला-चरणों में कुछ समझ न पाईं;
बोलीं—"जाने क्या जादू है इन बालाओं में मिथिला की?
रघुकुल के लालों को क्षण में बाँध, बुद्धि उनकी शिथिला की?"

ननदला
देवर-भाभी
मज़ाक

(११४)

श्री ऊर्म्मिला उमँग कर बोलीं—"ननदी जीजी, तुम हो भोली,
पहले से तुम तो आचार्यों के सँग करती रहीं ठठोली ;
ब्राह्मण ये क्या जानें ? जादू क्या होता है ? कैसे चलता ?
वे तो तभी समझ पाते हैं जब वह उनको सहसा छलता ।

(११५)

यज्ञ कराने के मिस आये भोले एक ब्राह्मण कोरे,
यहां दाशरथिनी ने उनके ऊपर डाले अपने डोरे;
अब तो मेरी जीजी को बस मन्तर-जन्तर सूझ रहा है,
क्यों, है ठीक बात मेरी यह ? लो, कुछ अनुचित नहीं कहा है ।"

(११६)

"दुलहिन रानी, तत्वज्ञानी श्री विदेह की सब कन्यायें—
कैसे सीख सकीं चतुराई, बोलो तो ये सब धन्याएं ?
क्या विदेह रानी ने कोई पाल रखा है, अहो, चतुर नर ?
जो इन सब को कुशल कला की दीक्षा देता रहा निरन्तर ?"

(११७)

"शान्ते, जीजी, विदेह के घर, द्वार बुहारे है चतुराई,
अपनी चिन्ता करो, न पूछो कि यह चतुरता कैसे पाई;
कई वेदवित् बैठे रहते उनकी द्वार-देहली पर नित,
नँनदोई भी वहीं न पहुँचें हो कर तुम से कहीं उपेक्षित ?"

(११८)

यों भावज की और नँनँद की मीठी-मीठी बातें प्यारी—
होने लगीं । हरी हो आई वाक्य-चतुरता की नव क्यारी !
पूर्ण विश्व की मृदु वत्सलता और सुघड़ता, अहा, सिहाई,
आई वह दशरथ के घर में, सम्भाषण में रही समाई ।

(११९)

शान्ता रिपुसूदन क अभिमुख हो कर बोलीं यों सकुचा कर;
"भाभी से तुम बहुत कर चुके बात, क्यों न ? अब जाओ बाहर;
मैं भी तनिक देर इन से कुछ कर लूं श्रुतिकीरति की बातें,
रिपुसूदन भागो, सुन उसकी बातें तुम हो सकुचा जाते ।"

(१२०)

तब दोनों ने घुल-घुल अपने-अपने मन की गाँठें खोलीं,
भौजाई–नँनँदी के धीमे स्वर की गूँज उठी मृदु टोली ;
बोली शान्ता "अये, ऊर्म्मिले, तुम ने तो दो दिन के भीतर,
अपनी मृदुता से प्लावित कर दिया हमारा यह सुन्दर घर ।

(१२१)

मातु सुनयना की गोदी में बोलो, क्या कुछ आकर्षण है ?
अथवा उन के पय में होता क्या आतमा का संघर्षण है ?
क्या है ? कुछ तो कहो, बताओ, क्या तुम सब को खींच रही हो ?
अपने नेह-सलिल से कैसे यों घर-घर को सींच रही हो ?

(१२२)

तव दर्शन कर अवध नारियों का मानस कृतकृत्य हुआ है,
उनके हिय में वत्सलता का एक अनोखा नृत्य हुआ है ;
मैं सुन आई हूँ, घर-घर में सब कर रहीं तुम्हारा गायन,
भाभी, तुम्हें देख क्यों सबकी आँखों से बरसे है सावन ?"

(१२३)

सुन कर अपनी नँनँदी के ये वचन, ऊर्म्मिला सकुच गई यों,
नव दुलही प्रिय-दरस-परस से हो जाती है छुई-मुई ज्यों;
इस कोमल संकोच-भाव पर हुई निछावर शान्ता देवी,
विमल सलज्ज भाव बन कर आ गया मृदुल चरणों का सेवी ।

(१२४)

धीरे से, लज्जित रसना को कुछ प्रस्फुटित और विकसित कर,
बोलीं श्री ऊर्म्मिला, शान्ता नँनँदी को अति आह्लादित कर;
"मैं क्या तुम्हें बताऊं ? जीजी, मुझ में क्या है, मैं क्या जानूं ?
जो तुम बातें कहती हो वे सब मैं निरी सत्य क्यों मानूं ?

(१२५)

हां इतना मैं जान सकी हूं कि तुम कृपा करती हो मुझ पर,
वत्सलता के वशीभूत हो अमृत-पाणि धरती हो मुझ पर ;
अवधपुरी की माताएं भी बड़े लाड़ से, बड़े चाव से,
मुझ अबोध बाला को अहनिशि ढँक देती हैं प्रेम-भाव से ।"

(१२६)

"नहीं," शान्ता बोली, "भाभी, यह रहस्य तुम सुलझाओ, री,
इस वत्सलता के प्रवाह का क्या कारण है, समझाओ, री ;
मुझे न टालो तुम बातों में । कुछ निगूढ़ता है इस सब में,
पिंड पड़ूँगी, औ' समझूँगी यह अति गुह्य भावना अब मैं ।"

(१२७)

यों कह श्री शान्ता देवी ने उनका मृदु कर-पल्लव थामा,
उत्सुकता से लगी पूछने इस रहस्य का कारण वामा ;
लक्ष्मण रानी ने अपना मुख छिपा लिया गोदी में उनकी,
यथा छिप गया हो अपने से जीव स्वयं गोदी में गुण की ।

(१२८)

फिर कुछ ध्यान-मग्न सी होकर, कुछ धीरे-से, मीठे स्वर से,
कहने लगी ऊर्म्मिला, मानों बही वचन-सुरसरि अम्बर से ;
"तुम ने ठीक कहा,—है मेरी माता के पय में संघर्षण,
उस नवनीत मधुर का मुझ में आन समाया है आकर्षण ।

(१२९)

यदि कुछ है तो केवल माँ का ही प्रतिबिम्ब समाया मुझ में,
उनके पुण्य आत्ममंथन का रंचमात्र कण आया मुझ में;
मेरी जननी वत्सलता की पुण्य मूर्त्ति हैं, शान्ते जीजी,
मेरे तात चरण ही उनकी पूर्णा गति हैं, शान्ते जीजी।

(१३०)

मातृ-धर्म के मन्त्र मनोहर हमें सिखाये थे माता ने,
विश्वेश्वर के अटल नियम के रूप दिखाये थे माता ने;
पूर्ण मुक्ति की ओर विश्व को ले जाना है काम हमारा,
जगती को तद्रूप बनाने में देना है हमें सहारा।

(१३१)

पूर्ण सत्य की ओर विश्व का चक्र घुमाएँ- माताएँ मिल,
अपने स्तन की शुद्ध-धार से दूर करें वसुधा का पंकिल;
मेरी माँ की यही भावना मुझ में कुछ-कुछ आय समानी,
इसी लिए तुम मुझे बढ़ावा देती हो, नँनँदी कल्याणी।"

(१३२)

सखी, कल्पने, अब देखेगी क्या? तू कहां चलेगी, कह दे?
पद-विन्यास ऊर्म्मिला के लख क्या तू अब मचलेगी, कह दे?
अभी देखना है लक्ष्मण का मन-मधुकर मँडराते, सजनी,
बीत न जाये जीवन-घटिका, आ जाये न अन्त की रजनी।

(१३३)

अरी, देखना अभी-अभी तो वे आई हैं अपने घर में,
दो दिन में ही उन ने घर कर लिया सभी के अन्तर तर में;
किस प्रकार लक्ष्मण-उपवन में हुलस खिलेंगी औ' फूलेंगी?
लक्ष्मण-शाखा पर वे कैसे झूम-झूम झुक-झुक झूलेंगी?

(१३४)

अरी तुझे तो अभी देखना है यह सब स्वर्गीय दृश्य, री,
तेरे उर में अंकित होंगे लक्ष्मणोर्म्मिला पदस्पृश्य, री ;
उनकी झांकी को तू दरसा देना हिन्दी माँ के द्वारे,
तब तू होगी धन्य और तब तव गृह होंगे वारे-न्यारे ।

(१३५)

सास बहू का मृदु-दुलार कुछ कुछ तू देख चुकी है, आली,
तू ने सुन लीं नँनँद शान्ता की चुटकियाँ मधुर रस वाली ;
रिपुसूदन को कला-पाठ भी पढ़ते तू ने देख लिया है,
और भक्ति-सर में उतराते तूने उनको पेख लिया है ।

(१३६)

अन्तःपुर को छोड़ चलें री, अब आ चलें हर्म्य के बाहर,
चलें जहां, श्री राम-लखन की फैली अभिनव कीर्ति उजागर ;
टल जाने दे बरस चार छः यों ही इधर उधर विचरण में,
छुप जाने दे तनिक ऊर्म्मिला-लक्ष्मण को सुख-पटावरण में ।

(१३७)

स्नेह-रज्जु यह बटी जा रही है, इसको तू बट जाने दे,
प्रथम-मिलन की अरुण झिझक को,अरी,तनिक-सी हट जाने दे;
फिर तू आकर इन दोनों की मधुर ललित नित लीला लखना,
जितने चयन कर सके उतने तू प्रसून अंचल में रखना ।

(१३८)

लेखनी,थक गई हो,तनिक देर विश्राम कर लो न विश्रान्ति-गृह में,
प्यार वर्णन करो लखन का,किन्तु सुस्नान करलो न निर्भ्रान्ति-दह में?
नवल शृंङ्गार रस अमित उमड़े, सखी, किन्तु वेला उदधि की न टूटे,
मुक्त रसना तुम्हारी लुटावे सुखद प्यार के पुष्प संसार लूटे ।

(१३९)

नेह के गगन में जब चढ़ेगी विमल चङ्ग, तब डोर तू थाम लेना,
ऊर्म्मिला के लखन धनुर्धर वीर हैं। तू सदा युगल का नाम लेना;
वायु में डोल कर,गगन को चूम कर,चङ्ग सकुशल सलौनी उड़ेगी;
खींचना डोर जब चाहना। गगन में देख झटके य' ग्राँखें जुड़ेंगी।

(१४०)

ग्रांखें दो थीं — ग्रब चार हुईं,
मन में मन की — गुन्जार हुई,
ऊर्म्मिला-लखन की — होड़ बदी,
दोनों जीते — पर हार हुई।

———

मुकुलित-कुसुम-दर्शन

(१)

सखी कल्पने चितेरी बनो,
और लेखनी, बनो तूलिका ;
उमंगों के रंगों में रँगो,
करो चित्रित छवि सुख-मूलिका ;

कलम की बारीकी की छटा—
उभर आए रेखा के बीच,
रंग की स्निग्ध लालिमा खिले
कल्पना-पट को देवे सींच ;

रंग रेखा के बीचोंबीच
खींच दो विमल ऊर्म्मिलाऽऽकाश,
जहां लक्ष्मण-से पूर्ण शशांक
विलस करते हों मृदु उपहास ।

(२)

आठ-दस बरस बीत ये गए,
भरा आकण्ठ प्यार का सार ;
अनेकों वैसारिणि के वृन्द
दे रहे हैं कौतुक-उपहार ;

ऊर्म्मिला के हिय लक्ष्मण बसे,
लखन के हिय ऊर्म्मिला-निवास;
रंग यह अब चोखा चढ़ गया,
तनिक देखें उनका उल्लास ;

वासना का न कहीं है लेश,
न रहा कदापि कलह का क्लेश,
जब कभी बाकी जोड़ी गई,
रह गया सदा नेह अवशेष ।

(३)

बह चली है तटिनी भरपूर,
दूर तक फैली जल की राशि
नहीं है उत्कण्ठा-उत्क्रोश,
मूक हो गई हिये की श्वासि ;

एक-दूजे में ओत-प्रोत-
स्रोत दोनों ये एक समान ;
एक धारा हो कर बह रहे,
देह दो, किन्तु एक हैं प्राण;

मान का दान और प्रतिदान,
हास का पाश और सुविलास,
ऊर्म्मिला के आँगन में, सखी,
कर रहे हैं मन्द स्मित रास ।

(४)

लेखनी, यह संयोग निहार,
करो कुछ ऐसा वर्णन आज ;
बहे शृङ्गार-सुरस की नदी,
न दीखे तट-वर्त्तिनी सुलाज ;

आज कुछ ऐसी हो उन्मत्त-
करो विचरण—विचरण के हेतु;
नदी को पार करो, री दीन,
कहाँ की नाव, कहाँ का सेतु ?

लखन, ऊर्म्मिला निभावें तुझे;
बनी कागद की तेरी नाव,
कहीं यदि वह विगलित हो गई,
अमरता धोयेगी तव पाँव ।

(५)

"सुनो, माँ, मेरी भी कुछ सुनो,–
या कि वे ही सब सच कह रहे ?"
सुमित्रा से यों प्रार्थी बने,
ऊर्म्मिला के लोचन डहडहे ;

खेलता था उन में आह्लाद,
और क्रीड़ा का लोलुप भाव ;
किन्तु लक्ष्मण का मृदु सामीप्य–
लगाता था लज्जा के दांव ;

इस तरह नेत्रों को नत किए,
किन्तु दरसाती कुछ-कुछ खीझ,–
सुमित्रा माता के पार्श्व में,
ऊर्म्मिला खड़ी हुई थी रीझ ।

(६)

क्वणित परिहास-शीलता लिए,–
हिलाते मां का अंचल छोर,–
लोचनों से कौतुक की वृष्टि–
कर रहे थे लक्ष्मण उस ओर ;

सुमित्रा उन दोनों के बीच–
हो रही थीं पर्य ासीन ;
कि मानो दो मध्यान्हों मध्य–
हो रही अरुणा सन्ध्या-लीन ;

एक क्षण लक्ष्मण को वे देख,
दूसरे क्षण ऊर्म्मिला निहार,
सोचती थीं–"अब इस पे, या
उस पे, मैं हो जाऊँ बलिहार ?"

(७)

कर रहे थे लक्ष्मण—"मां, तुम्हें—
कदाचित होगा कम विश्वास ;
किन्तु सुन लो, ऐसी है बात—
तुम्हारी पुत्र वधू की खास ;"

सुमित्रा बोलीं उन से, "लखन—
कह रहे श्रुतकीरति की बात ?"
"नहीं, मां, इनकी, ये जो खड़ीं—
तुम्हारे आगे हो नत माथ ;

कह रही थीं कि अयोध्यावास,
मुझे है असहनीय अब और,
क्योंकि मां श्वश्रू के वात्सल्य—
चीर का मैंने पाया छोर ।"

(८)

लखन के सुन ये बचन समोद,
पाणि-पल्लव से अपने खींच ;—
सुमित्रा ने सस्मित ली बिठा
ऊर्म्मिला को गोदी के बीच ;

देख उनके ओष्ठों की रेख,
जहां थी लज्जा कुछ, कुछ कोप,
सुमित्रा बोली हँस कर, किन्तु,
लखन लाला पर कर आरोप ;

"बड़े हो तुम धनुधारी वीर,
खड़े हो लेकर मेरी ओट,
और मम सुत-कान्ता पर आज
कर रहे हो यों कर्कश चोट ।

(९)

ऊर्म्मिले, बेटी, है क्या बात ?
कहो तो, देखूँ, चुपके कहो ।"
उधर लक्ष्मण ने अंगुलि उठा,
किया संकेत कि "अच्छा रहो–

देख लूंगा ।" पर, मां के नेत्र
ऊर्म्मिला ने फेरे उस ओर,–
जिधर चुपके-चुपके से डरा
रहा था सुभग ऊर्म्मिला-चोर ;

पकड़ जाते अपने को देख
रंच खिसियाए लक्ष्मण, अहा ।
किन्तु फिर अट्टहास का स्रोत
महल के वातायन से बहा ।

(१०)

"कहो तो, रानी, है क्या बात ?"
सुमित्रा बोलीं, हुलसे प्राण,
मन्द मुसकान बिलसने लगी,
जुट गया सुषमा का सामान ;

ऊर्म्मिला ने धीरे से, ओह,
बहुत धीरे से अपने अधर–
डुलाए, लाज निछावर हुई,
उठी यह मधुरा वाणी निखर–

"कुछ समय से ये यह प्रस्ताव
कर रह हैं मुझ से दिन-रात,
चलें विन्ध्याद्रि-दरस के हेतु
आपको ले कर अपने साथ ।

(११)

सताती है इनको, मां, देवि,
आप से कहने में कुछ लाज,
इसी से मुझे बीच में डाल
कर रहे थे ये अपना काज ;"

ऊर्म्मिला के सुन कर ये बैन
सुमित्रा माता हुई निहाल,
और लक्ष्मण से कहने लगीं,
"बात इतनी ही थी, क्यों लाल ?

वृथा फिर तुमने कौशल और
नीति से लेना चाहा काम,
ऊर्म्मिला का ले कर यों नाम
कर रहे क्यों उस को बदनाम ?"

(१२)

"क्योंकि तुम मझसे भी कुछ अधिक
चाहती हो इन को, हे जननि,
इन्हीं के सुख-पौधों से शस्य–
श्यामला है तव मानस-अवनि;

इन्हीं के नव विराग का राग–
इसी से मैंने छेड़ा आन,
किन्तु तुम दोनों ने मिल मुझे
छकाया खूब, किया हैरान ;

बात यह है कि युद्ध औ' सैन्य
आदि की देख-रेख का काम
बहुत कर चुका—चाहता हूँ अब
कुछ दिन तक करना विश्राम ।"

(१३)

"लखन, तुमको होता है डाह,
ऊर्म्मिला के दुलार को देख ?
याद है तुम्हें ? चन्द्र से अधिक–
प्रियतरा होती उसकी रेख ;

बहू यह मेरी रानी बड़ी,
प्यार करने में मुझे न लाज ;
द्वेष मत करो, सुनो, हे वत्स,
मूल धन से है प्यारा व्याज ।"

ऊर्म्मिला सुन श्वश्रू के वचन
लाज से गोदी में गड़ गई,
और व्रीड़ा की लोहित कान्ति
कपोलों पर आकर अड़ गई ।

(१४)

लड़ गईं फिर अँखियाँ वे चार,
बचा कर मां के दोनों नैन ;
ओष्ठ दोनों के चारों हिले,–
किन्तु निकला न एक भी बैन ;

छके वृद्धा के लोचन युग्म,–
प्रणय का यह आवेग निहार ;
सुमित्रा हुई धन्य, अति धन्य,
देख लज्जा का पारावार ;

चुराकर, चुपके-चुपके, लखन-
नेत्र-षटपद् मँडराने लगे,
ऊर्म्मिला के कपोल अरविन्द,
मन्दगति से इतराने लगे ।

(१५)

"'वत्स'' माता के सुन ये बचन–
युगल जोड़ी कुछ चौंकी । अहा–
हिंडोले की मानों भरपूर–
पैंग रुक गई,–'जननि ने कहा–

"वत्स, वन-यात्रा की यह बात
तुम्हारी, मुझको है स्वीकार ;
तुम्हीं दोनों जाओ मुदमान
क्योंकि मम गमन कठिन इस बार ;

पूछ लूँगी नरपति से आज
तुम्हारे जाने में क्या देर ?
दास-दासी सब हैं तैयार
सुनो तुम वन-विहँगों की टेर ।

(१६)

डालियों पर बैठे हैं विहँग,
कर रहे हैं कुछ बातें आज,
आ गए वन-विहार के हेतु,
ऊर्म्मिला रानी, लक्ष्मण राज ;

फूल कहता 'मैं फूला मुदित,
कली, तू भी खिल जाना, अये,
अवध के कुसुम, कली के सहित,
हमारी अटवी में हैं छये ।'

गा उठो पक्षी स्वागत गीत,
छिटक जाए स्वागत का रंग,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण का नव मोद,
देख लज्जित हो उठे अनंग ।

(१७)

कुरंगम कूदो, खेलो खेल,
हरिणियो, नाचो अपना नाच ;
देखती हो क्या कौतुक-भरी–
ऊर्म्मिला के लोचन नाराच ?

करो तुम मत कुछ चिन्ता, अरी,
न होगी तुम अब उन से बिद्ध ;
सुलक्ष्मण को कर के आबद्ध,
हो गया उनका जादू सिद्ध ;

विशिख वे बड़े तीक्ष्ण हैं,
किन्तु,लक्ष्य तो है उनका उस ओर,–
जहाँ धनुधारी लक्ष्मण वीर
बाँधते हैं निज धनु की डोर ।

(१८)

कोकिले, नव वसन्त आ गया,
हो रहा वृक्षों में रस रास ;
छेड़ दो कुहू-कुहू की तान,
फैल जाए वन में उल्लास ;

होड़ बद जाय, इधर ऊर्म्मिला,
उधर कोयल तू, बोली बोल ;
आज अम्बर से गंगा बहे,
अरी, सुस्वर की मिश्री घोल ;

श्रवण जुड़ जाँयँ, नयन उड़ जाँयँ,
तान का तारतम्य बँध जाय,
लखन की हिय डाली पे आज
ऊर्म्मिला कोकिल-सी सध जाय ।

(१९)

आज यह गगन नृत्य कर रहा,
थिरकती है अवनी मोहिता ;
नृत्य के क्रम से होकर थकित,
दिशाएँ हैं आठों लोहिता ;

हिलोरें लेता है आनन्द,
रास क्रीड़ा अद्भुत हो रही ;
नृत्य-कम्पन से कम्पित हुई—
रजकणों की जड़ता खो गई ;

वसंतागम को सँग-सँग लिए,
आ गए लक्ष्मण उपवन-गेह,
वन-श्री को हुलसाती आज
ऊर्म्मिला आई हैं सस्नेह ।

(२०)

देह धारण कर राग सुहाग—
विचरता है । वन की वीथियाँ—
फुल्ल कुसुमों से सज्जित हुईं,
नेह की दरसाती रीतियाँ ;

नीतियाँ मोड़-मोड़ मुख चलीं,
प्रेम की नीति धरे सिर ताज—
आज वन में विचरण कर रही,
एक छत्रा करती है राज,

टूट गिर पड़े लाज के दाम,
काम का हुआ न किन्तु प्रसार,
पंचशर कर क्या सकता वहां
जहां है लखन-ऊर्म्मिलाऽगार ।

(२१)

विश्व में छाया नूतन लास्य,
नृत्य-क्रीड़ा का अभिनव रास;
रास या महा रास का दृश्य ?
उपस्थित था संसृति का हास;

चराचर चहक रहे थे मुदित,
उदित थी नेह-चन्द्र की कोर;
दिवस में भी वह फैली हुई
लुभाने लगी अनेक चकोर;

अरी ऊर्म्मिले, ताल दे उठो,
नचा दो लक्ष्मण के पद-पद्म;
महल की पाली हुई कपोति,
हुआ वन आज तुम्हारा सद्म।

(२२)

चन्द्र को, रवि ने निज रथ रोक,
किया आमन्त्रित अपने पास;
दिशायें ताली दे-दे उठीं,
काँपने लगा शुभ्र आकाश;

गगन ने नीली चादर बिछा,
सजाया रंगमंच को खूब;
चांद-सूरज का हुआ सुनृत्य,
एक में एक गए वे डूब;

चरण-विन्यासों से कुछ सिकुड़,
फट गया वह अम्बर का छोर,
प्रलय होते-होते बच गया,
ऊर्म्मिला ने की करुणा-कोर।

(२३)

फुल्ल कुसुमों ने भेजे पत्र,
पक्षियों के नीड़ों के द्वार ;
और लिख भेजा उनको कि है—
आज रसिकों का रास–विहार ;

चिटक कलिकाएँ कहने लगीं–
"रास हम भी देखेंगी आज ;
न होंगी किन्तु सम्मिलित अभी,
क्योंकि लगती है हमको लाज ;"

कुसुम फूला सा बोला एक,
ठठोली करता–'भोली कली,
तनिक खिल के खुल खेलो खेल–
यहां हैं लखन, जनक की लली।'

(२४)

उतर आए कोष्ठों से भ्रमर,
गुनगुनाते नीचे उड़ चले :
फुल्ल कुसुमों के ले दल-पाणि,
मंडलाकृति हो कर जुड़ चले ;

नेत्र थिरके, थिरक सब पंख,
हुआ वह खेल, हुआ वह रास ;
कुसुम काँपे, सब दल हिल उठे,
उमड़ आया मृदु राग विभास ;

झूमने लगे मत्त-से लखन
देख यह प्रकृति-नटी का रास,
ऊर्म्मिला प्रिय-ग्रीवा से लटक,
कर उठी कम्पित-सा उपहास।

(२५)

पवन डगमग पग धरती बही,
संकुचित कलियाँ कुछ हिल उठीं;
हृदय में धारे रेणु पराग,
ऋतुमती के रज-सी खिल उठीं;

चहकने लगे विहंगम वृंद,
महक उट्ठे नव कलिका-गुच्छ,
दहकने लगी हृदय की आग
भस्म हो चला काम वह तुच्छ;

स्वच्छता की आँधी चल पड़ी,
दक्षता उमड़ी चारों ओर,
रच गया महा रास का साज,
ऊर्म्मिला का नाचा मन मोर।

(२६)

घोर रव का आवाहन-मन्त्र—
प्रकृति के कण्ठ द्वार पर रुका;
मन्द्र स्वर का सोता गम्भीर—
बहा। नीरवता के ढिग झुका;

बसन्ती घड़ियों में बह उठा,
पर्ण-कण्ठों से मर्मर राग;
फाग छाई नभ में। जग बीच,
नींद का छाया राग विहाग;

जागना रास-चक्र में कहां?
यहां उल्लास, विलास, सुरास,
ऊर्म्मिला ने हँस कर दी डाल
सुलक्ष्मण की ग्रीवा में पाश।

(२७)

गूँज उट्ठा नव-जीवन-गीत,
बहा नवरस कण-कण में आज ;
कोपलें फूटीं, अंडज मुदित,
नई संसृति का जुड़ा समाज ;

राज मधु का छाया चहुँ ओर,
डोर बँध गई नेह की नवल ;
सबल लक्ष्मण-भुज में बँध गई–
ऊर्म्मिला । बहा स्रोत अति प्रबल ;

प्यार की सरिता उमड़ी और
तरंगित हुआ हृदय–कल्लोल,
लोल लोचन सकुचाये और
चुम्बनों से सज गए कपोल ।

(२८)

बेच दी अपनी जड़ता आज–
प्रकृति ने नव चेतन के हाथ ;
बिक गई ज्यों हीरे की कनी,
किसी पारखी चतुर के साथ ;

लगन लग गई, मगन हो गई--
विमल ऊर्म्मिला हो गई धन्य ;
लखन का नव उपवन खिल उठा,
नेह हो गया नितान्त अनन्य ;

सैन्य उमड़ी मनोज की । खिले
हिये में चिर सँजोग के फूल ;
ऊर्म्मिला का दुकूल हिल उठा,
हर्ष फैला सरिता के कूल ।

(२६)

अरे, सब दिङ्‌ मण्डल का नहीं—
चराचर का यह रास-विलास,
दिशाओं का संचालन और—
चेतनामय जग का उल्लास,—
गुँथ गया जड़ के कण-कण बीच,
और चेतन के स्पन्दन मध्य;—
उठी सब ओर नई-सी लहर,
मिल गया गद्य और नव पद्य;
सचेतनता जड़ता में मिली,
अँधेरा नव प्रकाश में मग्न,
छा गया नव-किरणों का राज्य,
हुई संसृति सु-रास-संलग्न।

(३०)

धमनियों में दौड़ा नव रक्त,
भक्तगण भूले निज भगवान;
हो गए अपने ही में लीन,
अहम् के छूटे तीखे बाण;
प्राण-संचालन की नव-क्रिया—
कर चली पैदा कुछ उन्माद;
नशा-सा छाया चारों ओर,
वसन्तागम का नवल प्रसाद;
याद भूली अन्तर की,—बाह्य
रूप में हुए जीव सब मुग्ध,
मदिर रस में परिणत हो गया
नव्य संसृति का निर्मल दुग्ध।

(३१)

क्षुब्धता भगी, जगी नव-प्रीति,
रीति रति की परिचालित हुईं ;
पुराने पत्ते सब गिर गए,
नई कोंपल से कलियां चुईं ;
हुईं वे रंग–राग में मस्त,
ठगी-सी जो थीं अब तक म्लान ;
सारिका अभिसारिकानुकूल–
गा उठी नव सँजोग का गान ;
तान पर तान छिड़ी सब ओर,
निराशा का निशान्त हो गया,
ऊर्म्मिला लक्ष्मण का सब कष्ट
मृदुल वन–विहार में खो गया ।

(३२)

कल्पने, जब यह सुन्दर रास,
छा रहा था वन में सब ओर ;
तभी ऊर्म्मिला वधू के नैन,
बन गए लक्ष्मण के चित-चोर ;
बहुत धीरे-धीरे से, किन्तु,
बहुत चतुराई से वे चले–
चुराने पिय के हिय की राशि
सजग से वे लोचन अति भले ;
कुटी उनकी हो गई निहाल,
किया दोनों ने उपवन–वास,
चलो, कल्पने, देख लें उन्हें,
मिटे जीवन का दारुण त्रास ।

(३३)

बड़ी-सी उटज एक यह बनी,
तन रहा उस पर कुसुम-वितान;
हरित पल्लव की साड़ी पहिन,
कुटी गा रही मिलन का गान ;

आज उसके भीतर दो हृदय,
एक लय-अनुगत हो मिल रहे ;
एक ही ताल-स्वरों में बँधे,
एक सुस्पन्दन से हिल रहे;

कुटी के शून्य कक्ष में, अये,
कल्पने, लक्ष्मणोर्म्मिला मिले,
पर्ण कुटिया रोमाञ्चित हुई,
नेत्र-वातायन उसके खुले ।

(३४)

ऊर्म्मिला बैठी थीं,——सौमित्र–
तनिक अलसाये-से, कुछ क्लान्त–
सामने बैठे थे । ज्यों पथिक–
प्रवासान्ते होता विश्रान्त ;

कई शत वर्षों के उपरान्त,
पथिक पा गया ईप्सित स्थान ;
लालसा मिटी, दरस मिल गए,
हुए लक्ष्मण मन में मुदमान ;

मिली ऊर्म्मिला उन्हें । वे मिले
ऊर्म्मिला को । क्या योगायोग ?
तपस्या का फल आया द्वार,
प्रतीक्षित पूर्ण हुआ संयोग ।

(३५)

विजृम्भण से लक्ष्मण का वदन—
हुआ धीरे से पुलकित । अहा—
कहा अँगड़ाई ने, "ऊर्म्मिले,
नींद का नूपुर यह बज रहा ।"

रखा लक्ष्मण ने मस्तक आन—
ऊर्म्मिला की जंघा पर । और—
मूँद कर नेत्र बढ़ा दीं भुजा,
प्रियतमा की ग्रीवा की ओर ;

डोर अरुझी व्रीड़ा की । रम्य
रमण के सुरझ गए सब तार,
थकित क्रीड़ा ऐसे झुक रही—
मेघ ज्यों झुक आयें दो-चार ।

(३६)

ऊर्म्मिला ने धीरे से कहा—
"आ रहा है निंदिया का सैन्य
विजित करने, अपराजित, तुम्हें,—
दिखाओ हो क्यों अपना दैन्य ?

बड़े हो युद्ध-कुशल तुम आर्य,
छेड़ तो दो निद्रा से युद्ध ;
तनिक देखूँ—ये कैसे निपट—
मृदुल आँखें हो जातीं क्रुद्ध,

रुद्ध कैसे होती है श्वास,
युद्ध-लक्षण दिखला दो सभी,
कहो तो ले आऊँ धनु-बाण,
या कहो असि ले आऊँ अभी ।"

(३७)

"ऊर्म्मिले", यों अलसाने बैन
सुलक्ष्मण बोल उठे तत्काल,
"ऊर्म्मिले, तुम हो मेरा धनुष,
तुम्हीं हो मेरी असि विकराल,

तुम्हीं तो खींच रही हो मुझे
नींद के रंग महल में आज ;
तनिक मुसका दो, रानी, और,
जागरण की तुम रख लो लाज ;

नेत्र मीलित हैं मेरे, किन्तु,
तुम्हारे मन्दस्मित की रेख,—
समा जाएगी नैनों बीच,
बिंधेगा निद्रा का अविवेक ।"

(३८)

ऊर्म्मिला बिहँस उठीं, जब सुनी—
लखन की प्यार पगी यह बात ;
हो गए कुछ आरक्त कपोल,
लाज से सकुच गए सब गात ;

देख ली उनकी लज्जा-छटा,
सुमित्रा-सुत ने, आंखें खोल,
और बोले—"क्या युद्धोत्साह—
किये है रंजित युग्म कपोल ?

थक गई होगी करते युद्ध
नींद से—आओ मेरे फूल ।"
ऊर्म्मिला के कपोल से सरक
गया उनका वह विरल दुकूल ।

(३९)

कहूँ आगे की मैं क्या बात ?
ऊर्म्मिला-चरणों का मैं भक्त ;
स्वामिनी हैं मेरी वे देवि,
लखन रहते उन में अनुरक्त ;

हमारे सदृश पाप के पुंज
कुटी में कैसे करें प्रवेश ?
पूर्ण शुचिता छाई है उधर,
इधर है निन्द्य वासना शेष ;

चरण-रज के प्रसाद से जब कि
बनेंगे निर्मल मेरे प्राण,
तभी गाऊंगा मैं निर्द्वन्द
भाव से रति-क्रीड़ा के गान ।

(४०)

अभी तो चलो, कल्पने, चलें,
लखन की आज्ञा लेकर आज ;
नवल कुटिया की सुन्दर द्वार–
देहली पे बैठो सज साज ;

सजगता से सब बातें सुनो,
हृदय में लिख लो उनको, अये ;
भक्ति के सूत्र, नेह के रूप,
सभी कुछ बिखरेंगे नित नये ;

हमारे आर्य-धर्म के विमल
ध्वजा धारी, ये, शुचिता-ओक,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण वन के बीच,
विचरते हैं होकर गत शोक ।

(४१)

"कहो तो एक बात मैं आज,
पूँछ लूँ तुम से प्रिय," यों कहा—
ऊर्म्मिला ने । जिज्ञासा ने कि—
ज्ञान का शुभ कर-पल्लव गहा ;

"कहो, क्या है वह ऐसी बात
कि तुम भूमिका बाँधने चलीं ?
सुनो टुक, मैं हूँ सैनिक एक
और तुम हो विदेह की लली ;

लोक, परलोक, अण्ड, ब्रह्माण्ड,
जीव, माया—यह मुझे न ज्ञात;
न जाने क्या तुम पूछो, देवि,
कहो फिर भी, क्या है वह बात ?"

(४२)

"हास-उपहास भाव के इन्द्र,
सुनो मेरी परिपृच्छा दीन ;
मिटाओ संशय, हे वागीन्द्र,
सुनो टुक तुम हो कर तल्लीन ;

प्रेम के शुद्ध रूप में, कहो,
सम्मिलन है प्रधान, या गौण ?
कौन ऊँचा है ? भावोद्रेक ?
या कि नत आत्मनिवेदन मौन ?

मिलन—यह सांसारिक संयोग,
पार्थिव भाव—है न यदि पूत,
कहो तो, फिर सम्मिलनोल्लास
हुआ क्यों मनुज-प्रकृति-संभूत ?"

(४३)

ऊर्म्मिला की सुनते ही बात,
उठ पड़े सहसा लक्ष्मण वीर ;
जाग उठता है जैसे पथिक,
उषा जब देती नभ को चीर ;

ऊर्म्मिला को भुज भर के उठा,
बिठाया निजोत्संग के मध्य ;
और उनके मुख पर दी गाड़
दृष्टि निज स्वप्निल, निर्मल, सद्य ;

तथा-"ऊर्म्मिले...देवि...ऊ...र्म्मि...ले !"
कढ़े लक्ष्मण के अस्फुट बैन,
और उतराने लगे प्रशान्त
महासागर में उनके नैन ।

(४४)

"रंच मेरी गोदी में बैठ,
रंच आतुर-सी हो कर रहो ;
रंच वैसी ही झिझको, देवि,
रंच फिर से प्रश्नावलि कहो ;

ऊर्म्मिले, तुम रानी ऊर्म्मिले,
लगाओ फिर प्रश्नों की झड़ी ;
अपार्थिव औ' पार्थिव संयोग–
समस्या की फिर गूँथो लड़ी ;

ऊर्म्मिले, प्रश्न नहीं है,–प्राण-
तक्र का यह है नव नवनीत,
करूं कैसे विश्लेषित इसे ?
जगा दी तुम ने सुरति अतीत ।"

(४५)

भाव के भूखे वे सौमित्र,
कर उठे जब यों सहसा कथन ;
ऊर्म्मिला सहम गई तत्काल,
न निकले उसके मुख से वचन ;

लजीली रसना चुप हो रही,
कण्ठ का द्वार हुआ अवरुद्ध;
ओष्ठ का सुस्पन्दन थम गया,
हुआ चंचल मन कुछ हत बुद्ध ;

शुद्ध वचनावलियों ने किया
नम्र दैन्याश्रम में विश्राम,
राम के अनुज निछावर हुए,
निरख यह मौन–मूर्त्ति अभिराम ।

(४६)

और फिर बोले हो गंभीर–
"प्रश्न क्या है? कि प्रेम में,–अहा,
सम्मिलन है प्रधान या गौण?
चिर विरह का आसन है कहां ?

सुनो ऊर्म्मिले, तुम्हारी बात–
बड़ी गहरी है । कहीं न थाह,
कहूँ जो कुछ, उस में मैं यहां,
कदाचित् गुथ जाऊँगा, आह ;

किन्तु अपनी पृच्छा का, देवि,
तनिक विस्तृत–सा उत्तर सुनो,
जनक की तनये, रुचि अनुरूप
कंटकित यह प्रश्नोत्तर चुनो ।

(४७)

प्रेम के शुद्ध रूप में कहो–
सम्मिलन है प्रधान या गौण ?
कौन ऊंचा है ? भावोद्रेक ?
या कि नत आत्म-निवेदन मौन ?

मिलन–यह सांसारिक संयोग,–
पार्थिव भाव––है. न यदि पूत ;
कहो तो फिर सम्मिलनोल्लास
हुआ क्यों मनुज-प्रकृति-संभूत ?

यही है प्रश्न, यही है प्रश्न,
बँधा है धागे में यह प्रश्न
अरे कच्चे धागे का सिरा कहां ?
उठता यह रह-रह प्रश्न ?

(४८)

प्रेम क्या है ? रानी कुछ कहो,
क्षुधा क्या है यह अति विकराल ?
नींद क्या है निशीथ की घोर ?
आत्मरक्षा क्या यह सुविशाल ?

बनी यदि सृजन-भाव का हेतु
सतत जीवन-धारण-अभिलाष,
प्रश्न फिर भी है : जीवन-लोभ
किस लिए डाल रहा है पाश ?

ऊर्म्मिले, कुछ विचार तो करो
कि कितनी गहराई के बीच,–
उतारा तुमने मुझको ? अरे,
कहां ले डाला मुझको खींच ?

(४९)

उस समय जब हम सब परमाणु,–
सृष्टि के आदिकाल के समय,–
एक में एक, शक्ति से बिंधे,
मचाते थे जड़ता का प्रलय ;–

उस समय प्राण-दान का खेल––
हुआ । हम सभी हुए उत्पन्न ।
तभी से श्रवण-रूप-रस-गन्ध–
व्याधि से हैं, हम सब आच्छन्न ;

अन्न में आ कर अटके प्राण–
खिलाड़ी का है यह सब खेल,
वासनावृत हैं हम, हां,––किन्तु
मोक्ष की बढ़ती जाती बेल ।

(५०)

बना यह पंचभूत का कोष,
हुआ प्राणों का नव-संचार ;
छिद गए चेतनता के बाण,
खुले जीवन के बद्ध किवार ;

उत्क्रमण का विकास हो गया,
प्रसारित हुआ बोध, प्रतिबोध ;
युद्ध ठन गया–आग लग गई,
दिखाई दिया रक्त-प्रतिशोध ;

जीव ने करके जड़ता विजित
उठाई अपनी ग्रीवा उच्च,
अयुत वर्षों तक फिर भी रहा
वासना में लिपटा वह तुच्छ ।

(५१)

आदि में शिश्नोदर की व्याधि,
रही परिचालित करती उसे ;
किन्तु हिय में जिज्ञासा-भाव,
छिपा था अन्तस्तल में घुसे ;

बनों में भूला भटका फिरा,
खोजता अपने पन का रूप ;
बना उन्मत्त,—बनाया और,
स्वयं का अद्भुत रूप अनूप

क्रमिक गति से हृदयोत्पल खिला.
खिल उठे नूतन भाव विकार,—
सहस्रों संकल्पों की लगा
गूँथने माला मालाकार ।

(५२)

सहस्रों नव जागृत रस राग—
फाग सी लगे खेलने, अहा ;
आदि की नव-प्रस्फुटिता शक्ति,
पूर्ण विकसित हो आई यहाँ ;

निरी कामुकता का वह रूप,—
प्रथम का वह प्रजनन का भाव,—
कहाँ है आज ? लोप हो रहा ।
यहाँ निग्रह की ओर झुकाव ;

शक्तियाँ धीरे-धीरे, किन्तु
हो रही हैं अवश्य उत्क्रान्त,
जीव का यात्रा-पथ विस्तीर्ण,
अभी वह कैसे होगा श्रान्त ?

(५३)

मानवेतर समाज में, देवि,
राग-रस प्रकृति–सिद्ध हैं बने ;
वासना ही उनकी प्रेरणा,
वासना ही में वे हैं सने ;
किन्तु मानवता का गल-हार,
बनी है यह विवेक-शृङ्खला :
बेड़ियां इस ने डालीं आन,
वासना बांधी उच्छृङ्खला ;
मेखला कटि में अब बँध गई।
प्राकृतिक स्फूर्ति हुई कुछ शान्त ;
विकस खिल उट्ठा ज्ञान अनूप,
भावना सँभली यह उद्भ्रान्त।

(५४)

प्रथम युग का वह कामुक भाव,–
प्रेम में अब परिणत हो गया ;
इन्द्रियों का भौतिक परितोष,
ज्ञान की गोदी में सो गया ;
खो गया है वह अन्धावेश,
प्रेम आदर्श-रूप बन गया ;
सुसंस्कृति ने खींची करवाल,
हृदय में युद्ध आज ठन गया ;
मानसिक, शारीरिक, प्रक्रिया
हो रहीं भिन्न। उदित है भानु ;
तिमिर का अवगुंठन फट रहा,
हुए आलोकित सब परमाणु।

(५५)

मानसिक क्षितिज हुआ विस्तीर्ण,
हुआ आलोकित, द्युति से पूर्ण;
तमोगुण के भूधर के शिखर–
हो रहे हैं अब कुछ-कुछ चूर्ण;

पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण विस्तार,
देह के गुण-बन्धन से मुक्ति;
हो रहा है मुक्ता का जन्म,
फट रही है सम्पुट-युत शुक्ति;

हमारे श्वशुर,––सदेह विदेह,––
पूर्णता के हैं शुचि आदर्श,
तपोबल से है निर्मित किया
उन्होंने जीवन का नव वर्ष ।

(५६)

जीव करता है मार्ग-क्रमण
प्रतिक्षण, प्रति मुहूर्त्त, प्रति घड़ी;
प्राकृतिक जड़ता की शृङ्खला
बनी भावोन्मेषों की लड़ी,

लगाती है वह झटका एक
जीव बरबस खिंच आता, प्रिये,
तनिक सँभला, फिर झटका लगा,
पतन फिर हुआ पतन के लिए;

कई झटके लगते हैं, किन्तु,
जीव बढ़ता जाता है सदा,
अन्त में जनक देव के सदृश
प्राप्त कर लेता है सम्पदा ।

(५७)

प्रेम के शुद्ध रूप में कहो,
कहाँ है पार्थिवता की चाह ?
उस अवस्था में तो, हे देवि,
नहीं है कटु वियोग का दाह ;

वहां है चिरकालीन मिलाप,
मिला पट से ज्यों अंचल छोर
नहीं है वहां दरस का मोह,
हिये में बस जाता चित-चोर;

तुरीयावस्था म यह भेद-भाव
प्रेमी-प्रिय का है कहां ?
प्रेम, प्रेमी, प्रियतम सब लोप
एक में एक हो रहे वहां ।

(५८)

वहाँ तक कैसे पहुँचा जाय ?
साधना कैसे साधी जाय ?
हृदय की सरिता की यह धार
बाँध में कैसे बाँधी जाय ?

इसी आदर्श-प्राप्ति के लिए–
ऊर्म्मिले, मुझ में तुम आ मिलीं
प्रेम की मृदु पूजा के हेतु,
कली-सी तुम इस हिय में खिलीं;

तुम्हारे आलिगन से सिहर,–
आत्मा मेरी कँपती रहे,
तुम्हारे दरस-अमिय से मत्त
हुई मम आँखें झपती रहें ।

(५६)

जठर-पोषण से प्रेरित हुई,
निकल आई जैसे कृषि-कला;
स-इन्द्रिय भावों से त्यों, प्रिये,
निरिन्द्रिय प्रेम-विपट यह फला;

मिलूँ मैं तुम में। मुझ में आन,
घुलो तुम, ज्यों कि सिता की कनी;
पल्लवित हों मम पादप-प्राण,
खिलो उस में तुम कलिका बनी;

स्नेह का अलि मँडराने लगे,
चतुर्दिक में गूँजे गुंजार,
धार-सी अन्तरिक्ष में बहे,
स्वरों का बँध जाए इक-तार।

(६०)

प्यार,--जीवन का यह विस्तार,--
बने संसृति का गायन-भार;
तरंगित करे हृदय-कासार,
सत्य-शिव-सुन्दर की मनुहार;

तुम्हारे मेरे का यह भेद,
स्वेद की कणियां बन-बन बहे;
न बहे कामलिप्सा का स्रोत,
दरस-आतुरता फिर भी रहे;

बाहु ये, कुच, यह वक्षस्थली,
लोल लोचन, मुख यह गम्भीर,
एक परिरम्भ-रज्जु में बँधें--
छलक आए तन्मयता-नीर।

(६१)

धीरता तिनके सी बह जाय,
हृदय में आतुरता उठ आय;
एक त्रुटि युग-युग-सी खल उठे,
पलक का अन्तराय उठ जाय;
झिझक मिट जाय, नेत्र गड़ जाँयँ,
पुतलियां ये चारों अड़ जाँयँ;
ऊर्म्मिला का स्नेहाम्बुधि-नीर,
ऊर्म्मियों के मिस बढ़-बढ़ आय;
प्यार का पारावार अपार
उमड़ आए, हम दोनों बहें,
प्रेम की पूर्ण-प्राप्ति की कथा–
कहानी दोनों कहते रहें।

(६२)

थाम लो तुम मेरी धनु-डोर,
थाम लूं मैं तव अंचल-छोर;
अग्रसर हों, उस पथ में जहां–
उठ रहा पूर्ण-प्यार का रोर;
मोर-सा मम मन थिरके, देवि,
मोरनी-सी तुम डोलो पास;
एक में एक बद्ध हो सदा,–
रहें करते हम दोनों रास;
उसी रति-गति से प्रेरित हुए
करें हम सब जीवन के कार्य,
अये, दिखला दें जग को आज
कि क्या है प्रेम और औदार्य।

(६३)

प्रम क्या है ? जीवन की गांठ,–
बँधी जिस से प्राणों की लड़ी;
हृदय-कम्पन जिस से संचलित,
थिरकता रहता है हर घड़ी;

सधा है उच्छ्वासों का नाट्य,
उसी के केन्द्र-बिन्दु पर सदा;
बँधी है उसके गुण में, देवि,
आँख की चंचलता-सम्पदा ;

प्रेम क्या है ? तुम भी कुछ कहो,
न देखो यों अकुला कर मुझे,
तनिक हिय में गड़ जाओ, प्रिये ,
द्वैत की ज्वाल रंच तो बुझे ।

(६४)

फल उठे इष्ट-सिद्धि का विटप,
बनो तुम मैं, मैं तुम बन रहूं;
धनुष तुम धारण कर लो, और
तुम्हारे लाज–वचन मैं कहूं;

ऊर्म्मिला का विभिन्न अस्तित्व,
अरे हाँ, भूतल से मिट जाय;
और लक्ष्मण का विरहित अहं,
स्वप्न की चादर सा सिमिटाय;

एक में एक रहें लवलीन,
बहे सुरसरि की पावन धार;
बहें हम उधर जहाँ है घहर
रहा प्रेमाम्बुधि गहर, अपार !

(६५)

अरी रानी क्यों ललचा रहीं ?
लाज से क्यों ठानी है रार ?
तनिक मुख तो कुछ ऊँचा करो,
रंच कर लूँ नैनों को प्यार;

एक चुम्बन से नीवीं एक,–
हिये में पड़ जाती तत्काल;
सालती रहती है प्रति घड़ी,
कसक करती मुझको बेहाल;

बहुत हौले हौले से कई
ग्रंथियां तुम ने की हैं ग्रथित,
नेह-दधि की ये गांठें, देवि,
आज हो जाने दो कुछ मथित।

(६६)

मुक्ति की प्राप्ति जीव के लिए
प्रतीक्षा है लम्बी नित नई;
रिझाने को अपना प्रिय-पात्र,
साधनाएँ वह करता कई;

प्राणियों का यह भौतिक-प्रेम,
उसी आकर्षण का है अंग;
तनिक सी ठोकर से, हे देवि,
छूट जाता छिलके का संग;

अण्ड में हुआ प्राण निर्माण
तभी सहसा छिलका फट गया,
लगी भीतर से जागृत चोट,
तभी इन्द्रियावरण हट गया।

(६७)

बनी हो आराधना-विभूति
ऊर्म्मिले, तुम मेरी इस बार;
अये, गड़ जाओ हिय में इसी–
भाँति लज्जा-नौ की पतवार;

लाज की नैया डगमग हिले,
काँपती तुम मेरी पतवार;
लगाओ इसी रीति से पार,
बहे रहे हैं हम-तुम मँझधार;

पार,–देखो वह सुन्दर, दूर,
झिलमिलाता, कँपता, वह पार
सुलोचनि, पहुँचा दो तुम वहाँ,
पूर्णता की बरसा दो धार ।"

(६८)

हो गए यों कह लक्ष्मण मौन,
नेत्र उनके कुछ-कुछ मिल गए;
ऊर्म्मिला के वे चुम्बित ओष्ठ,
लजाए-से कुछ-कुछ हिल गए ;

मिल गए दो प्राणों के स्रोत,
हिल गए दो आबद्ध किवार;
खिल गए दो फूलों के गुच्छ,
मिल गए वीणा के दो तार;

ऊर्म्मिला के नयनों से बही
प्रेम-यमुना की गहरी धार,
लगे उतारने लक्ष्मण सुभट
थाम उनकी ग्रीवा का हार ।

सं. गार्ग

(६९)

मूक शब्दावलियां हो गईं,
हृदय का स्पन्दन कुछ रुक गया;
अपार्थिव नेह, धार कर देह,
ऊर्म्मिला के ऊपर झुक गया;

चुक गया शताब्दियों का व्याज,
न लेखा-ड्योढ़ा बाकी रहा;
ऊर्म्मिला में लक्ष्मण घुल गए,
अनोखी थी वह झांकी, अहा !

द्वैत का सब झगड़ा मिट गया
कहो फिर कहां हिसाब-किताब ?
प्राण के सम्मिश्रण में कौन–
पूछता, हुई हानि या लाभ ?

(७०)

नेत्र यों ही चारों झप गए,
चतुर्दिक नीरवता छा गई;
ऊर्म्मिला के उरोज पर झुके,
सुलक्ष्मण को निद्रा आ गई;

पंच-शर-रति दोनों आक्लान्त,
हुए तन्मय-से कुछ सो रहे;
पुरुष औ' प्रकृति हुए निर्भ्रान्त,
मस्त अपनी लय में हो रहे;

खुल गए जाग्रति के सब बन्ध,
"अहं" के सारे बन्धन क्षीण;
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण मानों आज
हो गए शुचि त्रिजत्व में लीन ।

(७१)

एक की मृदु गोदी में एक–
गुँथे से वे ऐसे हो रहे,–
द्विवेणी का मानों आवेश,
उदधि में मिलते ही सो रहे;

बह उठा उनका संयत प्यार,
पूर्णता का पाया चिर संग;
ऊर्म्मिला की चादर पर आज,
चढ़ा लक्ष्मण का चोखा रंग,

बिंध गए वे अनंग-नाराच,
तड़प उट्ठा मन का सुकुरंग,
ज्ञान ने क्षत पर पट्टी बाँध
बढ़ा दी सौम्य अमन्द उमंग।

(७२)

हो गए हृदय शान्त, निस्तब्ध,
ललकते भाव हुए विश्रान्त;
ग्रन्थियाँ रस की घुल-घुल गईं,
हुई उन्मत्ता तटिनी शान्त;

गहर गम्भीर नेह बह चला,
पुलिन-भेदन का रहा न त्रास;
रास-रस-रति मर्यादित हुई,
सध गया उल्लंघन-उच्छ्वास;

अनुप्रास

हुआ कुछ अभिनव सा उद्भूत
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण का संसार,
प्रखर विप्लावन में भी सतत,
हो रहा संयम का संचार।

(७३)

हृदय-मन्थन की मधुरी पीर,–
झिझकती हुई कसक की याद,–
सहमती हुई लजीली हँसी,–
अनमनी सी कुछ-कुछ फरियाद,–
छुप गईं ये सब, हो कृतकृत्य,
पूर्णता के अन्तर में आज;
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण के खुल गए–
द्वैत के सब गुण-बन्धन-साज;
लखन के धन्वा की टंकार–
ऊर्म्मिला की नूपुर-झंकार,
अवश उत्कम्पित करने लगी–
चिरन्तन "एकोऽहं" के तार।

(७४)

क्रमिक गति से जब मन्थन-दण्ड
प्रथम परिचालित होता जाय,
तभी तक मिलता गति-आभास,
कि जब तक गति धीमी, निरुपाय;
किन्तु जब मेरु दण्ड हो जाय–
महद्गति-उत्प्राणित गति-रूप,–
कौन तब कह न उठे––हां, यहां
अगति भी गति का है प्रतिरूप;
एक सीमा है––उसके पार,
स्थैर्य्य, गति, एक रूप बन रही,
एक सीमा है––उसके पार
न "तू" है कहीं, न "मैं" हूं कहीं।

(७५)

चरमता में है निर्गुण सत्य,
विविधता का न वहां लवलेश;
एक है, वाँ अनेकता नहीं,
नहीं है काल, नहीं है देश;

चरमता है नितान्त निःस्सीम,
कहो फिर किसको लाँघे कौन ?
नहीं है वाँ आकाश ससीम,
न है वाँ शब्द, न है वाँ मौन;

पूर्णता वहाँ अनिर्वचनीय,
वहाँ है प्यार, अपार, अशेष,
द्वैत की दुविधा वहाँ न शेष,
विरह का वहाँ न क्लेश विशेष।

(७६)

सगुण तुलना का फैला यहाँ,
चरमता के इस पार, प्रसार;
बड़े झगड़े : दुलार, दुत्कार,
विचार , विकार, ससार, असार;

ऊर्म्मिला-लक्ष्मण इस के पार–
गए थामे सनेह-पतवार;
अविद्या से तर मृत्यु-विकार,
कर रहे हैं वे अमृत-विहार;

प्रबल हृदयान्दोलन का भाव,
बन गया स्थिरता का प्रतिरूप;
प्रगति बन आई अगति स्वरूप,
बन गई अचल अगति गति-रूप।

(७७)

प्रेम की पार्थिवता की परिधि–,
अपार्थिव केन्द्र-बिन्दु बन गई;
स्थूलता के स्वरूप की रेख,–
सूक्ष्म कण बन-बन, छन-छन गई;
व्यक्ति-गत मूर्त्त सनेह-स्वभाव,
सूक्ष्म बन अणु-अणु में रम गया;
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण का चिर नेह,
खिल उठा होकर अनुपम नया;
प्रम ही प्रेम अनन्त, अपार,
प्यार का उमड़ा पारावार;
हुआ उनके जीवन में रुचिर
शान्ति, नीरवता का संचार।

(७८)

प्रेम की आरम्भिक लघु सरणि,
बन गई सिन्धु अपार, अथाह;
न उस में रहा प्रवाह-विकार,
न रही चलित गति की कुछ चाह;
एक गम्भीर प्रशान्त सुघोष,
एक गति निश्चल, स्थिरतामयी;
चण्ड बड़वानल संयत हुआ,
मिली सामर्थ्य-गहनता नयी;
कभी यदि हुआ वीचि-विक्षोभ,
रहा फिर भी वह संयमबद्ध;
नहीं अतिलंघित रेखा हुई,
छुट गए हृदय-विकार निषिद्ध।

संयोग

(७९)

सकल-विप्लावक उनकी शान्ति,
चराचर पोषक उनका स्नेह;
जगत्-तोषक उनका सुप्रसाद,
प्रणय उनका गम्भीर विदेह;

शिथिलता, परम तुष्टि की, लिए,—
निखिलता, चरम सिद्धि की, साथ,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण ने कर दिया—
प्रणय के प्रण को आज सनाथ;

समर्पण कुछ ऐसा हो गया—
चढ़ीं हिय की भेंटें नित नई,
मगन-मन-दीप-शिखा जग गई,
लगन कुछ ऐसी ही लग गई।

(८०)

हिये आलोकित जगमग ज्योति,
'नेङ्गते सा उपमा सुस्मृता;'
हुआ मानस मंडल निर्धूम,
दिशायें रहीं न मेघावृता;

हट गये; संशय के सब अभ्र—
फट गये; था निर्मल आकाश;
छँट गए छायामय सब विघ्न,
कट गए आत्म-दैन्य के पाश;

हुआ जीवन-मग में आलोक,
राज-पथ सँकड़ी गलियाँ बनी,
ऊर्म्मिला को जीवन-पथ बीच
लिए जा रहे ऊर्म्मिला-धनी।

(८१)

झुट-पुटे क्षण चम–चम कर उठे,
पन्थ-रज-कणियां हुलसित हुईं;
चतुर चरणों का पुण्य-प्रसाद
कि जीवन-गलियां पुलकित हुईं;

लक्ष्मणोर्म्मिला चरण-विन्यास–
बन गया चतुष्फलों का रूप;
नेह उनका मँज कर बन गया–
सत्य, शिव, सुन्दर रूप-अनूप;

हुए यति-गति-रति-मति-पति लखन,
बनी अति गति-मति-यति ऊर्म्मिला;
बन गए लखन विदेह अनंग–
बनी कल्पना-सुरति ऊर्म्मिला।

(८२)

हुए अन्तर-तर विमल विशुद्ध,
ज्ञान जग बैठा पूर्ण प्रबुद्ध;
मुकुर का मल पल में हट गया,
भावना जगी धर्म अविरुद्ध;

हुआ आन्दोलित हिय-हिंडोल,
पैंग, समता की रह-रह बढ़ी;
बढ़ी, फिर बढ़ी और फिर बढ़ी,
अलख के सिंहासन तक चढ़ी;

ऊर्म्मिला-लक्ष्मण मय हो गई,—
हुए ऊर्म्मिला-रूप सौमित्र,
ऊर्म्मिला-हिय में छाए लखन,—
लखन-मन बसा ऊर्म्मिला–चित्र।

(८३)

युगल जोड़ी के चारों नयन
परिष्कृत , निर्मल, पावन बने;
सतत अरुणा-करुणा तल्लीन,
हो रहे वे मनभावन घने;
नयन, हिय के वातायन बने,–
दिखाते अन्तस्तल की शान्ति;
परम विश्रान्ति, चरम निर्भ्रान्ति,
छा रही जहां साधना–क्रान्ति;
लखन के प्यार पगे वे नेत्र,
ऊर्म्मिला के वे सकरुण नैन,
साधना के वे गहर गवाह,
मौन के वे अनबोले बैन ।

(८४)

लखन के तपो-तेजमय नेत्र–
ऊर्म्मिला को प्रतिबिम्बत किए,–
ऊर्म्मिला की स्वप्निल अँखड़ियां–
लखन–छवि को हृदयांकित किए;
विजित इनके यों चारों नयन,
बने मद माते, गहर, गभीर,–
लगे छलकाने चारों ओर
परम जीवन का मधुमय नीर;
कुसांसारिकता की मरु-भूमि,
पल्लवित बन में परिणत हुई;
मुई तप्तता, चुई रसधार,
एकता बही, मिट गई दुई ।

(८५)

प्यास की हाहाकार पुकार,–
वासना का उत्तप्त बुखार,–
मोह, मद का वह मदिर खुमार,–
उपेक्षा का अति शीत तुषार,–

हुए लय ये सब एकाएक,
मिट गए मात्रास्पर्श अनेक,
छिड़ गई साम्य-गीत की टेक,
जग गया उनका विमल विवेक,

निम्नगा वृत्ति हुई म्रियमाण,
ऊर्ध्व-आकृष्ट हो गए प्राण,
हुए रज-तम के कुण्ठित वाण,
हो गया लखन-ऊर्म्मिला त्राण ।

(८६)

नहीं मृग-तृष्णा का आक्रोश,
नहीं लिप्सा की कोई चाह,
नहीं बलबले, न अन्धा जोश,
न दाह, न आह, न डाह अथाह;

न तड़पन कोई बाकी रही,
न कोई वांछा रही अजान;
न कोई बात कही-अनकही,
न मान, न शान, न स्नेहाज्ञान;

लखन-उर मिली विमल ऊर्म्मिला,
ऊर्म्मिला-हिय लक्ष्मण मिल गए;
योग कुछ ऐसा आकर मिला
कि दोनों हिय मिल-मिल हिल गए ।

(८७)

नहीं थी भ्रान्त धारणा वहाँ
नहीं था बुद्धि-भेद का त्रास;
मन-मलिनता का कैसे ? कहाँ ?
वहां हो सकता है आवास ?

परस्पर सामंजस्य-विलास–
जहाँ होता रहता है नित्य,
जहाँ निशिदिन हिय में, सोल्लास,
चमकता रहता ज्ञानादित्य;

वहाँ फिर कैसी सम्भ्रम-बुद्धि ?
न रहती भ्रान्त धारणा वहाँ,
पूर्ण थी उनकी अन्तःशुद्धि,
अमा की वहाँ रजनियाँ कहाँ ?

(८८)

लखन-ऊर्म्मिला हृदय में बसा–
परस्पर का निश्चल विश्वास;
भक्ति से नित उत्प्राणित हुआ,
लखन-ऊर्म्मिला श्वास-निश्वास;

आत्म-अर्पण-स्वीकृति का चिन्ह,
पूर्ण-विश्वास अपार, अखण्ड,
स्नेह की सुस्थिर धृति का चिन्ह,
परम विश्वास अमन्द प्रचण्ड;

क्षुद्रता का उस में न विकार,
न संशय का उस में कुछ लेश,
न क्लेश, न त्वेष, न ठेस अशेष,
मिले हृदयेश परम प्रेमेश।

(८९)

न आँधी थी, न वहाँ तूफान,
न वायु प्रचण्ड, न झंझावात,
नहीं था कोई वात्याचक्र,
कलह के न थे घात-प्रतिघात;

बना नभ-मण्डल नील निरभ्र,
गहनता उस में भर-भर गई;
कहीं मानस दिक्शूल न रहा
अशुभ मात्राएँ झर-झर गईं;

अकम्पित लखन-ऊर्म्मिलाकाश,
स्नेह-रवि-मण्डित, स्वच्छ, अनन्त;
सौम्य किरणों से पूर्ण दिगन्त,
चिरन्तन बसता जहाँ वसन्त।

(९०)

लखन की धनु-टंकार प्रचंड,
ऊर्म्मिला की नूपुर झंकार,
बन गई अनहद नाद अनन्त,
उमड़ आई निनाद की धार;

भर गए कर्णाम्बुधि के अतल,
एक रव, एक नाद, छा गया;
गूँज थी दिगदिगन्त में व्याप्त,
हृदय, उद्घोष-तोष पा गया ;

जग गई अकथ सुरत-रत कथा,
अतीत अनन्त-स्मृति जग गई;
पग गई मधुरे रस में व्यथा
ठग गई, मगन लगन लग गई।

(६१)

क्षणिक बिछुड़न की शैशव पीर–
यौवनागम में घुलमिल गई;
प्रस्फुटन-व्यथा लिए अनजान,
यथा, मृदुला कलिका खिल गई,

ऊर्म्मिला कलिका चिटकी सलज,
लखन-मन-अलि करता गुंजार;
इधर से मधु-रस-धारा बही,
उधर से उमड़ी गायन-धार;

ऊर्म्मिला, लक्ष्मण बिना अपूर्ण,
सुलक्ष्मण शून्य ऊर्म्मिला बिना;
गणित की क्या ही गहरी सूझ
कि दो को एक रूप ही गिना।

(६२)

ब्रह्म-माया दोनों मिल गए,–
जगन्नाटक के सूत्र बिखेर;
बहुलता के अन्तर से उठी–
एकता की आतुर-सी टेर;

मिलन में द्वैत-भाव मिट गया,
उठी लय स्वनित समन्वय-मयी;
कट गया स्वप्निल सम्भ्रम-जाल,
जग गई सुध-बुध तन्मय नयी;

विषमता का कटु विष उड़ गया,
सुधा-मधु से प्याला भर गया;
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण का चिर प्यार,–
चर-अचर के हिय तर कर गया।

(६३)

अधखिली आँखों में भर स्वप्न,
बाहु में आतुरता को लिए,
अधर में वचन-विकम्पन साध,
हिये में आकुलता को लिए;
साध कर रसना में संलाप,
बैठ कर श्वासोच्छ्वास-हिंडोल;
लिए अंजलि में हृदय-प्रसून,
अमित, रस-लोल, ललित, अनमोल,–

ढुल गई विमला श्री ऊर्म्मिला,
लखन के चरणों में चुप-चाप;
न मोल, न भाव, न सौदा हुआ,
समर्पण हुआ आप ही आप।

(६४)

योग-निद्रा नयनों में भरे,
भुजाओं में भर शक्ति अखण्ड;
अधर में लेकर चुम्बन-प्यास,
हृदय में प्रेम ज्वलन्त प्रचण्ड;

जीह से जपते "श्री ऊर्म्मिला"–
झूलते हिय-कम्पन-पर्यंक,
भरे प्राणों में अर्पण-आग,
विचरते मस्त, निपट निःशंक;
समर्पण-विधियां पूरी हुईं,
उठी तादात्म्य-गूँज घनघोर;
सुलक्षण लक्ष्मण "अहं" बिसार–
बँधे ऊर्म्मिला-दृगंचल-छोर।

(९५)

विश्व ही नहीं, अखिल ब्रह्माण्ड—
थिरक उट्ठा, यह स्नेह निहार,
चराचर उत्कम्पित हो गए—
देख दम्पति का पुण्य विहार;
निशाएँ नाचीं दे-दे ताल,
दिवस नाचे ले कर करवाल;
उषाएँ नाचीं हो बेहाल,
नचीं सन्धायें हो कर लाल;
रास-मण्डल परिचालित हुआ;
चराचर में यति-गति भर गई;
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण की रस-राशि
प्रकृति पर कुछ जादू कर गई।

(९६)

गगन-अवकाश नृत्य कर उठा,
नीलिमा भी कुछ कँपने लगी;
सूर्य की वह वर्त्तुला विभूति—
नाचती-सी कुछ झँपने लगी;
थिरक उट्ठीं किरणें मुदमान;
दिशाएँ नाचीं निपट अजान;
शून्य का वक्षस्थल गतिमान
हुआ; लहरा अम्बर सुनसान;
नील नभ-मंडल, क्षितिज महान,
सभी थल फैला नृत्य-विधान;
अचर को दे कर यति-गति-दान,
स्थैर्य्य कर रहा नृत्य-अनुमान।

(९७)

सतत नर्तन-श्रम-कण बन खिले,—
गगन में शत-शत तारक बिन्दु;
धीर-गति-जल से पूरित हुआ—
अतल निःसीम गगन का सिन्धु;

नच उठे तारक वृन्द अनेक,
नाचने लगे मुदित उड्डु-राज;
राशियां नचीं, नचे नक्षत्र
नाच उट्ठा सब सौर समाज ;

नृत्य-रेखा—मंडित आकाश,
पदन्यासों का गूँजा घोर;
लोक-लोकान्तर से रव बहा,
गहर गम्भीर, अछोर, अथोर ।

(९८)

नच उठी घनी कुहू-कालिमा,
नाचने लगी निशा घनघोर;
अखिल ब्रह्माण्ड नृत्य-मय हुआ,
रास-मंडल का ओर न छोर;

नृत्य-गति-चलित निशीथ - दुकूल
बन गया पूर्ण वर्त्तुलाकार;
कृत्स्न जगती के जीव अनेक
फँस गए नृत्य मंडलाकार;

ऊर्म्मिला-लखन-हृदय-द्वय थिरक,
नचाने लगे सकल संसार ;
निखिल ब्रह्माण्ड अवश नच उठा,
त्याग कर निज मूढ़ाहंकार ।

(९९)

अँधेरे की भी श्यामा छटा,
गुँथ गई ज्योति-पुंज के संग;
अँधेरा और उजेला मिला—
दिखाने लगा रास-रस-रंग;

अँधेरे की परछाईं पड़ी,
उजेले के वक्षस्थल बीच;
आत्मवत् करने को, सुप्रकाश,—
अँधेरे को ले आया खींच;

उषा, सन्ध्या, निशीथ, मध्यान्ह,—
पूर्व निशि समय, पूर्व दिन काल;
अपर निशि काल, अपर दिन काल,
नृत्य करके हो गए निहाल।

(१००)

मिल रहा उस "भविष्य" में "भूत",
पकड़ कर "वर्तमान" का छोर;
"आज", बन रहा "अतीत" पुनीत,
"आज" में उलझी "भावी"-डोर;

दूर भावी, अति विगत अतीत,—
लिए लघु वर्तमान का संग,—
रास की क्रीड़ा करने लगे;
उठी विप्लव की सतत उमंग;

प्रेममय नियम शृङ्खला बँधे,
कर रहे कौतुक रास-विलास;
जुड़ गई एक शृङ्खला जहाँ
कहाँ फिर प्रलयोद्भव का त्रास?

(१०१)

समय की रसरी में बँध नचे--
दिवस, घटिकाएँ, वर्ष, मुहूर्त्त;
एक क्षण-क्षण में होने लगा--
चिरन्तन नर्तन-हर्ष-स्फूर्त;

प्रलय में भी संसृति के सूत्र,--
सर्ग में भी विसर्ग के भाव,--
दिखाई दिये स्पष्ट, प्रत्यक्ष;
मिट गया सकल दुराव छिपाव;

असीमाकाश नाचने लगा,--
काल ही स्वयं दे उठा ताल;
ऊर्म्मिला-लखन, प्रकृति-चिरपुरुष,
नचाते हैं ब्रह्माण्ड विशाल।

(१०२)

अमर जीवन ने अपनी बाँह,--
मरण की ग्रीवा में दी डाल;
रास-गति अति परिचालित हुई,
"ततक--ता--थेई" की दे ताल,

हुए लय-उद्भव एक स्वरूप,
हो गए अप्यय-अव्यय एक;
मरण का चरण-स्फुरण बन गया--
अमृत गायन की अविरल टेक;

मिट गया संशय संभ्रम सकल,
मरण-जीवन का मिटा विभेद;
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण के स्नेह ने--
जगाया सुप्त रुचिर निर्वेद।

(१०३)

मरण-जीवन का एक स्वरूप,
किये हृदयंगम यह चिर सत्य;
देख कर ब्रह्माण्डों का नित्य,
प्रेम-उत्प्राणित ताण्डव नृत्य,

प्रेम-घर्षण अणु-अणु में देख,—
स्नेह-कर्षण सब ओर निहार,—
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण को नित देख,—
परस्पर हो जाते बलिहार;

अथिर मति, दीन, बुद्धि के क्षीण,
बड़े मूरख ये निपट नवीन;
भक्ति की क्षीण रेख को गहे
हुए ऊर्म्मिला-चरण-तल्लीन।

(१०४)

बहू ऊर्म्मिला स्वप्न-लोचना—
सुलक्ष्मण दूलह गहर, गभीर,—
नेह छिटकाते, हरते चले—
अखिल जगती की दुःसह पीर;

विश्व - अनुरंजन - भाव - प्रधान,
लोक-संग्रह का मन्त्र महान,
कर रहा है उत्प्राणित उन्हें,—
जगत को मिला स्नेह-वरदान;

मधुरिमा फैली है सब ओर,
निराशा भगी, जगी चिर आश;
त्रिगुण-मय जीव, ब्रह्म-मय हुआ,
कट गए पार्थिवता-गुण-पाश।

(१०५)

चराचर में सनेह भर गया,
शूल झर गया, क्लेश डर गया,
भर गया है आकंठ सनेह,
बह उठा प्रेमल निर्झर नया;

चराचर सब आप्लावित हुए
मुए सब भेद-भाव-दुख-भोग
चिरन्तन नेह बरसने लगा,
न क्लेश, न मोह, न शोक, न रोग;

गूँज उट्ठा हिय-रंजन गान,
छिड़ गई आत्मनिवेदन तान;
हो गया जीवन का सम्मान,
हृदय का हुआ दान-प्रतिदान।

(१०६)

नयन से नयन, अधर से अधर,
मिले हिय से हिय अति स्वच्छन्द;
प्राण में रमे आन कर प्राण,
छलक उट्ठा नव परमानन्द;

रक्त में रक्त मिला अनुरक्त,
मिट गई वह भावना विरक्त;
ऊर्म्मिला हुई लखन–आसक्त,
सुलक्ष्मण हुए ऊर्म्मिला-भक्त;

रमण-परिम्भण, रंजन-रास,
नाचने लगा हृदय-उल्लास;
कुछ हुआ ऊर्ध्व श्वास-निश्वास,
प्रकट कुछ हुआ रास-आयास।

१

कलम, कल्पने, मति-गति मेरी, कर अब कुछ विश्राम;
चल, कर लखन-ऊर्म्मिला चरणों में तू पूर्ण-प्रणाम;
खूब किया जो लीला-वर्णन तू कर चुकी अथकिते;
खूब किया जो यह कह डाला, अरी चमत्कृत चकिते;
पर मन में अभिमान न करना, 'मेरी कठिनी भोली,
कथित हुई ऊर्म्मिला-कृपा से यह गाथा अनबोली ।

२

अरी कल्पने, अब चलना है आगे वन निर्जन में,–
तुझे घूमना है बरसों तक उस अति सघन विजन में;
विधवा अवधपुरी में विधुरा विमल ऊर्म्मिला रानी–
बहा रही होंगी लोचन से अपने हिय का पानी;
उनके भी दर्शन करना है, अरी निष्ठुरे तुझको,
आज लिए चल अपने सँग तू इस कठिनी को, मुझको ।

३

मां, ऊर्म्मिला निभावें तुझको, खोलें तेरे नैन,
अपनी करुणा से वे भर दें तेरे तुतले बैन,
अन्तर की धड़कन को, हिय-तड़पन को, मन-फाँसी को,
सजनि, आत्म-कंपन को दिखला दे सनेह-गाँसी को,
कुछ ऐसी रस-धार बहा दे अरुण-करुण रस-माती,–
कि बस जगत की सकल धीरता बहे विकल उतराती ।

४

अरी कल्पने, विप्रयोग की कथा दुख-भरी गा दे;
मेरी टूटी , शिथिल कलम से उसको तू लिखवा दे;
दिखला दे वे दृश्य, हठीली, अरी, उठा दे हूक;
तड़पा दे हिय को चिरसंगिनि, कर-कर के दो टूक;
श्री ऊर्म्मिला, सुभट लक्ष्मण की विषम वेदना-तान,—
आज छेड़ दे नए सिरे से, री, तू निपट अजान !

५

त्रेता युग की कथा पुरानी, अकथित, अमथित, गेय,
उसको कर के स्रवित द्रवित तू बन जा अमर, अजेय;
प्यार भरे, मनुहार ढरे दृग, इन की झाँकी देख,
अरी चली चल अवध, विपिन में धरे लखन-पद-रेख;
श्री ऊर्म्मिला स्वामिनी तेरी, लक्ष्मण तेरे देव;
शरणागत को पार लगाना है दम्पति की टेव ।

इति श्री द्वितीय सर्ग

श्रीमातृ ऊर्म्मिला चरण कमलार्पणमस्तु

अथ श्री तृतीय सर्ग

ध्यान

क्षचित-शोक रखा है जिस के द्युति विहीन आभरणों में,
अलकावली-ग्रथित , श्री हत हैं कुंडल जिसके कर्णों में,
अकथित कथा कही जाती है जिस के कल-कल झरनों में,
नत हो जा, हे नास्तिक मस्तक, उसके युग श्री चरणों में ।

१

अरे शून्य से गोल-गोल तुम,
अन्तस्तल के अधिवासी,
अहो, सकल ब्रह्माण्ड विश्व के,
अण्ड रूप तुम अविनाशी;
अरे, प्रज्वलित हृदय-वन्हि के,–
मृदुल प्रसून विलक्षण-से,
विमल करुण रस-निधि के विगलित
तुम प्रहरी-से, रक्षण-से;
कारण-जन्य-विश्व-पीड़ा के,
तुम निष्कारण-बिन्दु, अरे;
हिय-हिलोर दरसाने वाले,
बिन्दु-रूप तुम सिन्धु, अरे !

२

विगलित व्यथा वेदना की तुम
तरल सियाही बन आओ,
थकित कलम की शुष्क नोक से,
मधु-मसि बन छन-छन आओ;
ओ आँसू, तुम बरस पड़ो, यह–
प्यासा है कागद मेरा,
प्यासी कलम, हृदय प्यासा है,
प्यासों का है यह डेरा;
विप्रयोग की कथा लजीली
लिखवा दो, आओ, आओ,
मँडराओ, उमड़ो, सरसो, कुछ–
अपनी बूँदें ढरकाओ ।

३

ढरका दो, अपनी कुछ बूँदें,
मेरी सूखी स्याही में,
कुछ कम्पन पदा कर दो मम
इस गाथा मन-चाही में;
आज वेदना की प्रणोदना का,
हृदयंगम तत्व करो,
ओ आँसू, मेरे शब्दों में
अपना तरल निजत्व भरो;
श्री ऊर्म्मिला और लक्ष्मण के-
श्री चरणों में ढरक पड़ो;
करुण प्रसाद प्राप्त करने को
उन से तुम हठ कर झगड़ो।

४

ऊँची-नीची सहज कँटीली-
पथरीली वह पग-डण्डी,
जहाँ पथिक का मान भेदती,
विचरण करती वन-चण्डी;
वही मार्ग-रेखा हुलसेगी-
मृदुल पुण्य चरणांकन से;
प्रबल प्रतापी निकलेंगे अब
वन को निज गृह आँगन से
सीता, राम, लखन जायेंगे-
आज छोड़ अपनी नगरी;
आज अवध विधवा होगी, औ'
सधवा होगी वन-डगरी।

५

आज अवध के राजमार्ग में
आकुल कोलाहल फैला;
यह वियोग की घटिका आई,
यह वन जाने की वेला;

यह अचूक-सी हूक उठ रही
है सब के अन्तस्तल में,
छल-छल छलक झलक झरती हैं
बूंदें दृग से पल-पल में;

अचल अचंचल अटल हिमांचल,
सम हैं राम धनुर्धारी;
पट-परिवर्त्तन हुआ, हो गई
वन जाने की तैयारी ।

६

सिंहासन से वह कुश-आसन,
राजमहल से पर्ण-कुटी;
निर्जन-वन आवास बन रहा,
जन-संकुलिता अवध छुटी;

लुटी सम्पदा तीन लोक की
तप के एक इशारे पे,
वसुधा बलि-बलि गई राम के
पद-नख न्यारे-न्यारे पे;

सुकुमारता, सरलता, शुचिता,
सीता चरणों में बिखरीं,
तप-भावना सुलक्षण लक्ष्मण–
पर न्योछावर हो निखरी ।

७

अकुलानी, अरुझानी वाणी,
पानी-पानी हृदय हुआ;
आँखों की बूँदों के मिस यह
हिय का संचित प्यार चुआ;

भाषा थकी, हृदय धड़के, औ'
फड़के अधरों के पुट वे,
कण्ठ रुद्ध, मन क्षुब्ध हुआ है,
रहे शब्द सब घुट-घुट वे;

आँखें मिचीं, खिचीं आहें, औ'
सिहरीं तन-रोमावलियाँ,
श्री ऊर्म्मिला-नयन की ढरकीं
लखन-चरण में अंजलियाँ।

८

बैठे लखन, पार्श्व में बैठी
विमल ऊर्म्मिला खोई-सी,
हैं चारों आँखें कुछ स्वप्निल,
कुछ-कुछ धोई-धोई सी;

भीष्म-प्रतिज्ञ भाव में अरुणा
करुणा यह तल्लीन हुई,
अथवा सागर में सरिता की
सत्ता संज्ञा-हीन हुई;

रह-रह एक दूसरे को यों
लखते घटिकाएँ बीतीं,
गिरीं शिथिल ये भुज लतिकाएँ
ऊपर को उठ-उठ, रीती।

९

लक्ष्मण के उन्नत ललाट पर
रेखायें मण्डिता हुईं ;
मानो हिमगिरि शृंग-शृंखला
मेघ-धार-खण्डिता हुईं;
खचित भाल-रेखा में जीवन
की प्रहेलिका उलझ गई,
आ-आ कर कण्ठों में अटकीं
हृदय-ग्रन्थियाँ कई-कई;
मौन वेदना बही आह से,
औ' नयनों से अरुण व्यथा;
रुद्ध हिचकियों से निकली अति
करुण वर्णनातीत कथा ।

१०

लक्ष्मण रानी के लोचन द्वय,
अरुण-करुण रस-रंग रँगे,
उधर कठिन कर्त्तव्य-नाद में
लक्ष्मण-श्रवण-कुरंग पगे;
दोनों नयन इधर मचले, वे
दोनों श्रवण उधर मचले,
विगलित करुणे ! उमड़, ठहर औ'
भीष्म प्रतिज्ञे, तू अचले;
दो-दो गहरे हृदय-समुद्रों—
का मन्थन हो रहा यहां,
कर्म्म-शीलता का, सनेह का,
गठ-बन्धन हो रहा यहां ।

११

मरु की तप्त-व्यथा-सा हिय में
हा-हा-कार अमित छाया,
यौवन की नित चरम निराशा
का-सा प्यार उमड़ आया,

हरे-भरे से मन-मंडल में
निपट विछोह निखर आया,
ममता मिटी, मोह यह छूटा
मिटा सँजोग, मिटी माया;

निपट निराशा की निशीथ में
लगन जगी, लौ लगी भली,
इधर-उधर ऊर्म्मिला-लखन की
स्मृति-प्रदीपिका जगी भली ।

१२

प्यार पगे, अनुराग रँगे,
निःशब्द ठगे प्रिय भाव जगे;
त्रास भरे, निश्वास भरे, अति–
प्यास भरे, हिय-घाव लगे;

अमित, श्रमित, कम्पित, अति शंकित,
रंजित, संचित शब्द हुए;
थर-थर, सिहर-सिहर, झर-झर कर
हिय-मुक्ता उपलब्ध हुए;

ध्वनि-चित्र

तार बँधा हिचकी का; फूटा–
स्वर पीड़ा के पंचम का,
देख ऊर्म्मिला की गति, टूटा–
बाँध लखन के संयम का ।

१३

हास-विलासों की प्रतिध्वनि में,
आज रुदन-आभास मिला;
मधु-सँजोग-घटिका में आकर
यह वियोग-विष-त्रास मिला;
दरस-माधुरी में अदरस की,
कँकरीली वेदना मिली;
लक्ष्मण-हृदय-स्थल में सहसा
नवल कर्म्म-प्रेरणा खिली;
सुख-बलिदान, जीवनाहुति के,
आत्मार्पण के दाँव लगे,
राज-भोग, ऐश्वर्य छुट रहे,
मर-मिटने के भाव जगे।

१४

करुणाम्बुधि अपनी मर्यादा
उल्लंघित करने आया;
विकट-व्यथा का घन-समूह यह,
दिङ्मण्डल भरने आया;
ज्ञान-विराग-भाव को पीड़ा
का समूह हरने आया;
हिय की होली में वियोग यह
चिनगारी धरने आया;
आज ऊर्म्मिला-लखन परखने
को यह घटिका आई है;
अपने सँग अति कठिन कसौटी
का पत्थर वह लाई है।

१५

जीवन की दोपहरी में ही,
सन्ध्या का ग्राभास मिला,
उजियाले में ग्रँधियाले को,
वास मिला, ग्रावास मिला;

धूप-छाँह मिल गई ग्रचानक,
उद्भव बीच विनाश मिला;
कर्म्म, प्रेम में मिला; मुक्ति में-
ग्रथवा, बन्धन-पाश मिला;

प्रेम-योग में त्रिप्र-योग का
क्या ही क्रमिक विकास मिला !
जीवन की गहराई में भी–
ग्रमित हास-उपहास मिला ।

१६

स्नेहाम्बुधि में नव वियोग की
भड़की बड़वानल-ज्वाला,
खल-भल,खल-भल ग्रतल-जल हुग्रा,
उठी वेदना विकराला;

तड़पे प्राण-मीन, ग्रकुलाए–
हिय-मन्थर, मन मथित हुग्रा;
प्यार-प्रशान्त-महासागर का
विकल-विचल जल व्यथित हुग्रा;

वीचि-विलास-लास्य की समगति
ग्रसम, विषम, सम-हीन हुई;
रति-जल-राशि वाष्प बन ग्राई,
संशय-सम्भ्रम-लीन हुई ।

१७

मानस-क्षितिज, वियोग-मेघ से
आच्छादित हो गया घना,
यह सुखभरा सँजोग बन रहा
क्षणभंगुर जीवन-सपना;

आँखों में अँधियारी छाई,
पड़ी पुतलियों में झाँई;
बढ़ती ही-सी अन्तरतर में
चली गई दुःख-परछाई;

विमल ऊर्म्मिला के संगी हैं
उद्यत चलने को वन को,
सीता-राम लिए जाते हैं
ऊर्म्मिल-प्राण लखन-धन को।

१८

प्रिय-अवलम्बित हृदय विकम्पित,
संचित नेह अश्रु-कण में,
रोमांचित तन, कठिन लखन-प्रण
लगन-मगन-मन क्षण-क्षण में;

रमे लखन व्रण-खण्डित, मण्डित-
प्रण, कर्तव्य-प्रेम-रण में;
थी दोलाचल चित्तवृत्ति-सी
इधर ऊर्म्मिला के मन में;

नभ-जल-थल में, अनिल-अनल में,
करुणा का संचार हुआ;
उमड़-उमड़ कर, उबल-उबल कर,
हिय इक पारावार हुआ।

१६

हिय की रणस्थली में जूझे,
प्यार और कर्त्तव्य निरे;
राजस-सात्विक गुण-बन्धन ये,
रह-रह जूझे, मरे, गिरे;
कर्तव्यावहेलना आई,
औ आशंकाएं आईं,
पदस्खलन की नई-नई-सी,
कई प्रेरणाएं आईं;
हिय-कामना विमोहन-लागी,
सुन्दर शरद्-जुन्हाई-सी;
नेह-सगाई, हिय लग आई,
मन मोहिनी लुनाई सी।

२०

करुण-कहानी हिय-अरुझानी,
छानी-मानी नहीं रही;
अकुलाती आँखड़ियों से वह,
पानी-पानी बनी, बही;
मथित हिचकियाँ, वचन-दीनता-
का, कुछ सँग देने आईं,
निपट-धीरता ने, संयम ने
अपनी सुध-बुध बिसराई;
मन-पानस की मदिर हिलोरें—
उमड़-उमड़ बढ़-बढ़ आईं;
कढ़ आईं आहें बरबस-सी,
करुणा-सरिता चढ़ धाई।

२१

आंखों में विषमय विषाद के-
अंजन की रेखा झलकी,
छिटक पड़ी वेदना नयन से-
अति गभीर अन्तस्तल की;
हिय-शत-दल की हलकी-हलकी
आकुल, चंचल गति छलकी,
प्यारे अवलोकन से प्रकटी
विषम वेदना पल-पल की;
पलकों में संस्मृतियां घिर-घिर
आईं कई विगत कल की;
लखन-ऊर्म्मिला की वे आँखें-
सरिता बनीं लवण-जल की ।

२२

घूम गया नयनों के आगे
एक चित्रपट जीवन का,
स्मरण-शृङ्खलाओं की कड़ियाँ
बजा गईं स्वर खन-खन का;
कई मोद के, कई तोष के,
कई पूर्णता के क्षण वे;
घूम गए नयनों के आगे
बन कर कँकरीले कण वे;
आज चुभ गईं आँखों में वे
संस्मृतियाँ बन शूल-अनी,
नयनों की किरकिरी बन गई-
पुष्प-राग की अमिय-कनी ।

२३

चारों नयनों की गहराई
हुई और भी कुछ गहरी;
उतराने लग गई वेदना,
उन नयनों में रह-रह, री;
झिल-मिल झिल-मिल सकल जग लगा,
तिरता-सा संसार लगा;
कुछ कम्पित-सी हुईं पुतलियाँ,
अस्थिर सब व्यापार लगा;
धुआँ-धुआँ-सा कुछ उठ आया,
कुछ मोती-से बिखर पड़े;
कुछ आ पहुँचे युग कपोल तक,
कुछ नयनों के द्वार अड़े।

२४

श्री ऊर्म्मिला सलोनी की वह—
नासा सुघड़ हुई अरुणा;
बूँद-बूँद मिस उन रन्ध्रों से,
रह-रह टपक चुई करुणा;
श्वास-रज्जु, वन-गमन-मथानी,
भाजन हृदय प्रतीत हुआ;
व्यथा-मथित अन्तर का, नासा-
रन्ध्रों से, नव-नीत चुआ;
लखन सुभट निज निर्म्मल पट से,
बार-बार मुख पोंछ रहे;
ऊपर से सुस्थिर-से दिखते,
अन्तर-तर की कौन कहे?

२५

श्रवणों में प्रिय-कण्ठ-ध्वनि के
सुनने की वाञ्छा उमड़ी,
हीरक-कुण्डल, आभा, कर्णों—
में, कच-जालों से झगड़ी;
अवश मौन के अवलम्बन ने,
उन श्रवणों की तृप्ति न की;
केशों ने कर्णिका-किरण की,
उलझ-उलझ विज्ञप्ति न की;
कर्णाभूषण हुए निरादृत,
उलझे-से कुन्तल घन से;
श्रवण रहे प्यासे के प्यासे,
अवश मौन-अवलम्बन से ।

२६

शब्द-दीनता, रुद्ध कण्ठध्वनि,
हिचकी, सिसक निराशा की,
कलकण्ठों में ये भर आईं,
लिए पीर गत आशा की;
कहाँ श्रवण की तृप्ति ? औ' कहाँ
अभिव्यक्ति हिय-भावों की ?
यहाँ मौन भाषा ने दे दी
साक्षी गहरे घावों की;
स्वर-विश्लेषण, तान-समन्वय,
ध्वनि-माधुर्य्य विलुप्त हुए;
गायन-नि:स्वन, वादन-निक्वण,
कंकण-रुण, सब सुप्त हुए ।

२७

सात स्वरों का, स्वर-श्रुतियों का,
ध्वनि-विन्यास विशुद्ध कहाँ ?
अतुल-विपुल संताप-ताप से
शुष्क कण्ठ अवरुद्ध यहाँ;
कहाँ तान, लय, गति, अलबेली ?
मुरज, मूर्च्छना कहाँ यहाँ ?
सिसक हिचकियों का आरोहण-
अवरोहण है जहाँ-तहाँ;
स्वर-विधान, कल-गान हो गया,
मूर्च्छित हिय के कम्पन से
श्रवण रहे प्यासे के प्यासे-
अवश मौन-अवलम्बन से ।

२८

अश्रु-अलंकृत युग कपोल की
पाटल आभा कमनीया,
सहसा कुछ श्यामला हो गई-
वह शोभा अति रमणीया,
गहन प्रेम-वात्सल्य-प्रणोदित
लक्ष्मण-अधर-विचुम्बित वे,-
श्री ऊर्म्मिला कपोल-युगल, अति-
हुए स्फुरित अनुकम्पित वे;
स्नेह-धार की प्रणालिकाएं,-
शतपत्रों की कलिकाएं,-
वे कपोल की युगल जोड़ियाँ,-
सिहर उठीं दायें-बायें ।

२९

लक्ष्मण क दक्षिण स्कन्ध पर
वाम कपोल धरे मृदुला,–
दक्षिण कर ग्रीवा में डाले,
सिसक रही ऊर्म्मिलाऽकुला;
विकट वीर, मतिधीर, लखन कुछ
झिझके, कुछ अरुझाने से,–
बाँध भुजाओं में अपना धन
बैठ रहे अकुलाने से;
यों आलिंगन करती दीखी
आकुलता से सुस्थिरता;
ज्यों गुणमयी सुरति से लिपटी
हो भावना विरति-निरता ।

३०

चंचल भ्रू-विलास मरझाया,
निपट अचंचल भाव उठे;
चंचलता के सब सांकेतिक
सुस्पन्दन के भाव लुटे;
दृग-चंचलता-हाट लुट गया,
लुटी दुकान इशारों की,
क्या ही भीषण सेना उमड़ी
भावों के बटमारों की
उन नैनों में कहाँ इशारे ?
संकेतों का होश कहाँ ?
जोश कहाँ ? हिय-दोष वहाँ,
चित रोष वहाँ, संतोष कहाँ ?

३१

लम्बे, सघन, कृष्ण कुन्तल से
ललक लखन-अँगुलियाँ मिलीं,
कंघी-सी बन इधर-उधर वे,
केश-पुँज में हिलीं-डुलीं,

वत्सलता, सान्त्वना, प्रीति अति
बरसी अंगुलि-चालन से;
ज्यों विश्वास उमड़ पड़ता है
कथित वचन-प्रतिपालन से,

रामानुज के प्राण पियासे—
उलझे केश कलापों में,
हृदय बिंध गया "हां,ना" के उन
टूटे-से संलापों में ।

३२

नख से शिख तक, लोम-लोम तक,
अन्तर-तर का दाह हुआ;
आज ऊर्म्मिला की करुणा का,
लक्ष्मण-प्रण से व्याह हुआ;

चाह आह की राह चल पड़ी,
थाह-अथाह हुई हिय की;
उतर गई ऊर्म्मिला बहुत ही
गहरे, गह ग्रीवा पिय की;

मोह, बिछोह, टोह लेने को
आये लक्ष्मण के मन की;
किन्तु बुद्धि कैसे विचलित हो
श्री ऊर्म्मिला-प्राणधन की ?

३३

अमित अगाध अनन्त प्रीति की
भर नयनों में रीति भली,–
धारण कर स्वकर्म-निष्ठा की
मति में अचल प्रतीति भली,–
सती ऊर्म्मिला की मंजुल छवि
हिय-हिंडोल में दुलराते,
वचनों से गम्भीर नेह की
नव-कलियों को हुलसाते;
सुभट लखन, वचनालियाँ यों–
बोले निपट सनेह भरी,
ज्यों निदाघ की दोपहरी में
शीतल रस-फुहियाँ बगरीं ।

३४

"जीवन-संगिनि, करुणा-वंदिनि,
प्राणानन्दिनि, रति गम्ये,
विकल कुरंगिणि,हिय-अवलम्बिनि,
मन-सर-हंसिनि, तुम रम्ये;
मेरे जीवन की तुम स्वामिनि,
स्नेह-यज्ञ की हवन-क्रिये,
मेरे वासन्ती यौवन की–
तुम प्रवालिके नवल, प्रिये;
मेरे जन्म-जन्म के तप की,
तुम पावन फल-रूप बनी;
तुम मेरे नयनों की दर्शन–
शोभा रूप अनूप अनी ।

३५

बनी कनी तुम नेह-सिन्धु की,
नयन-बिन्दु की तुम झाँई,
पूर्ण इन्दु की आभा तुम हो,
मम स्वरूप की परछाईं;

लगन अटपटी तुम मम हिय की,
तुम मेरी सकरुण माया,
मेरे निर्गुण तत्व-ज्ञान की
तुम मोहिनी सगुण छाया;

मम गायन की सुश्रुति-रूपा,—
तुम हो बनी विकम्पिन-सी;
ठिठकी-सी, स्वर अरुझानी-सी,
झिझकी-सी, विस्तम्भित-सी ।

३६

तुम मेरी जीवन-प्रहेलिका,
सूझ-बूझ नित ज्ञान मयी,
तुम तत्वार्थ-दीपिके मेरी,
योग-मयी, तुम ध्यान-मयी,

मेरे जीवन की गहराई—
अतल - वितल - पाताल मयी,
तुम सुमिरिनी बनी हो मेरी
तुम मम संस्मृति-माल नयी;

तुम रानी ऊर्म्मिले, बनी हो—
अति तन्द्रिता निशा मेरी;
तुम हो उषा, तुम्हीं प्राची की—
हो प्रमुदिता दिशा मेरी ।

३७

मेरे भाव-पुंज की प्रतिमे,
करुणा के विगलित क्षण-सी,
तुम उल्लास - रास-क्रीड़ा - सी,
तुम गतिमती विलक्षण-सी;

तुम मम विचलित निःश्वासों की—
संतत समाधान स्थिरते,
तुम सनेह भरिते, सरिते, तुम—
त्वरिते, करुणा-रस-निरते;

तुम मम आराधना-परिधि की—
केन्द्र-बिन्दु हो, चिर मृदुले,
हास-विलास-पाश तुम मेरी,
तुम विश्वास-व्यास, अतुले!

३८

मेरी शुद्ध-बुद्धि तुम, रानी,
तुम मम क्षमता कल्याणी;
तुम सागर-गम्भीर-घोष-सी,
उद्घोषित मेरी वाणी;

तुम निरलस तापस-रति मेरी,
तुम मेरी सत् सक्रियता;
त्वमसि चिरन्तन सेवा मेरी,
तुम हो मम विराग-प्रियता;

तुम हो जागरूकता मेरी—
निद्रित-सम्मोहन-क्षण की,
तुम हो मेरी सखा-सहेली,
मेरे इस जीवन-रण की।

३९

तुम विदेह-नन्दिनी ऊर्म्मिले,
तुम दशरथ की पुत्र-वधू,
तुम रिपुसूदन की भाभी, तुम–
आर्य राम की अनुज-वधू,
तुम तपस्विनी मात सुमित्रा
की हो बहू सुहाग भरी,
तुम हो निपट सुभट लक्ष्मण की,
चिर साथिनि अनुराग-भरी;
तुम मेरे दुर्धर्ष धनुष की
प्रत्यंचा बन आई हो,
तनिक सुनो, आँखों में भर क्यों
यह मुक्ता-धन लाई हो ?

४०

रंच ठहर जाओ, बलि जाऊँ,
यों मत मुझे अधीर करो,
बार-बार इन सुघड़ दृगों में
रह-रह कर मत नीर भरो,
धीर धरो, मत अपने हिय को–
चीर करो न्यारा-न्यारा,
देखो तो, यह भीग गया है–
मेरा उत्तरीय सारा;
तनिक सुनो तो, मेरी रानी–
मैं बलि जाऊँ ! सुनों जरा,
अये, डिगी जाती है, देखो,
मौन वेदना-परम्परा ।

४१

धैर्य-रूप तुम सदा ऊर्म्मिले,
जनक-नन्दिनी देवि, सुनो,
तुम हो प्रतिष्ठिता प्रज्ञा, तुम—
अचल वन्दिनी देवि, सुनो,

आज उमड़ आई यह कैसी
विषम चंचलावृत्ति, अये ?
कहाँ गया सन्तोष-भाव वह ?
कहाँ गई परितृप्ति, अये ?

पुण्यवती धृतिमती सुनयना—
माता की तुम जायी हो,
तुम विदेह-तनया हो, तुम तो
उनकी गोद-खिलाई हो।

४२

यह वन-गमन, विजन-सेवन यह,
वन-पर्यटन आज आया;
आज निमंत्रण देने को यह
जंगल का समाज आया;

अवध-राज का काज छूट रहा,
हमने विपिन-राज पाया,
राज मुकुट की जगह राम ने—
निरा-त्रिशूल ताज पाया;

क्यों विह्वल होती हो, रानी ?
क्यों अकुलाती हो मन में ?
मेरे हिय में बनी रहोगी
देवि, सदा उस निर्जन में।

४३

राज छूटा, वनवास मिला, यह—
परिधि छुटी, दिक्शूल गया,
प्रिये, तनिक देखो तो, उमड़ा—
जीवन-सिन्धु अकूल नया;

वह महान अटवी-अन्वेषण,
तापस वेश विशेष वहाँ;
वह साहस, वह विपिन-समस्या,
स्वावलम्ब-सन्देश वहाँ;

मैं खोजूँगा तुम प्रसून को—
उन जंगल के शूलों में,
तुम्हें पुकारूँगा पद-पद की
प्रति ठोकर की भूलों में।

४४

यह है योगायोग, विमाता
तो बस एक बहाना है;
उस विकराल विपिन में जाकर,
उसका गर्व ढहाना है

वन दुर्गमता, सहज अटन में,
अहो-देवि, परिणत होगी,
उस दुर्लंघ्य विन्ध्य की चोटी
राम-लखन पद नत होगी

उत्तर-दक्षिण का गठबन्धन
करे हमारी पद-रेखा,
जग वह देखे जिसको उस ने
अब तक कभी नहीं देखा।

४५

आज आर्य-संस्कृति-जीवन का–
यह शुभ प्रथम प्रभात हुआ,
रवि-कुल–रवि की प्रथम किरण से
अन्धकार अज्ञात हुआ;
वह बर्बर अज्ञान, सुलोचनि,
वह जड़ता उस जंगल की,–
होने को है नष्ट, आ गई–
घड़ी प्रात के मंगल की;
नव-सन्देश, ज्ञान, शुचिता के
हम वाहक निष्कामी हैं;
यह आदर्श प्राप्त करने को–
राम-लखन वन-गामी हैं।

४६

संसृति चकित-नयन देखेगी,
सीता - राम - चरण - रेखा;
पद-विन्यास-रेख वह होगी–
नव - इतिहास - चित्र - लेखा;
अनायास ही आज बन रहे
हम सब नव-विधान स्रष्टा,
देवि, हो रहे नयन हमारे
आज भविष्य-भाव-दृष्टा;
यह सन्देश-प्रेरणा जागी,
हिय में अनतुष्टा, हृष्टा,
लखन-चरण-गति सघन-विजन की–
ओर हो रही आकृष्टा।

४७

मुझ को जीवन-सार्थकता का,
देवि, आज संदेश मिला,
मुक्त ज्ञान-विज्ञान प्रचारित–
करने को वन-देश मिला;
नव-विचार-प्रजनन का सूचक–
यह सांकेतिक क्लेश मिला,
तुमको मेरी सुघड़ ऊर्म्मिले,
क्लेश-रूप प्रेमेश मिला;
सह जाओ यह विषम ,वेदना–
तुम, मेरी अच्छी रानी !
हे मम लघु-लघु प्रिये, वेदना,–
तो है यां आनी-जानी ।

४८

मैं जानूं हूं देवि, हृदय यह
हा-हा कार कर उठे है,
मैं जानूं हूं, हिय-रस, बरबस–
भर-भर आंख भर उठे है;
जानूं हूं मैं, हिय-क्रन्दन की
औ हिचकी की सब घातें,
जानूं हूं सुकुमारि तुम्हारे
मन की अनबोली बातें ।
पर क्या करूं? बताओ, तुम यों,
दृग में जल भर मत देखो,
मेरी हृदय-स्वामिनी तुम, कुछ–
तनिक सम्हालो अपने को ।

४९

यह वियोग-आखेटक तक-तक
मार रहा है तीर, प्रिये,
प्राणों ही में नहीं हो रही—
पसली तक में पीर, प्रिये;
छाती पर लेंगे वाणों को—
होंगे नहीं अधीर, प्रिये,
हम न दिखायेंगे जग को निज
दुःख, हिये को चीर, प्रिये;
मुझे सम्हाल, सम्हालो निज को,
आज पड़ी है भीर, प्रिये,
मां को, तात चरण को देखो,
नैंक धरो चित धीर, प्रिये ।

५०

मुझको जंगल में जाना है
मंगल का संदेश लिए,
सीय-राम-अनुगमन करूँगा—
मैं निज तापस वेश किए;
यह सन्यास चतुर्थाश्रम का
द्वितीयाश्रम में आया,
और छुट रही है मम हिय की
तुम सी यह मृदुला माया,
टूट रहे हैं प्राण, सुलोचनि,
हिय में हूक अचूक उठी;
झलकी है मन-मृग-मरीचिका,
यह वियोग की लूक उठी ।

५१

सोच रहा हूँ, कहां मिलेगा,
इन अधरों का अमिय वहां ?
सोच रहा हूँ, मेरी आकुल–
प्यास बुझेगी वहां कहां ?

फिर सोचू हूँ कि तुम – निरंतर
बनी रहोगी मम मन में,
सोचूँ हूँ कि पुकारूँगा मैं
तुमको निशि में, निर्जन में;

हृदय-दुलारी, यों ये चौदह–
बरस बड़े कट जायेंगे
अवधि-अन्त में ये वियोग के
बादल भी हट जायेंगे ।

५२

देवि, विपिन में निपट निबिड़ तम,
मानस-नभ रवि-किरण बिना;
प्राणी, वाँ अज्ञान-शिला की,
करते हैं नित प्रदक्षिणा;

ज्ञान बिना विज्ञान बिना वे
मन-मस्तिष्क असंस्कृत हैं,
उनकी प्राकृत गिरा, शुद्धता–
लक्षण से निरलंकृत है;

आकुंचित मानस-दिङ्‌मंडल,
शब्द-कोश छोटा उनका;
वे क्या जाने तत्व सगुण के–
गुण का, निर्गुण की धुन का ?

५३

उनके लिए सृष्टि, लय, स्थिति के
प्रश्न अतीव अरम्य बने,
जन्म-मरण के गूढ़ तत्व ये
उनके लिए अगम्य बने,
अपरा, परा प्रकृति की लीला
नयन न उनके देख सकें,
नैसर्गिक प्रक्रिया देख कर
उनके हिय धड़कें, कसकें;
वज्र घोर उद्घोष रोषमय,
यह झंझानिल का झंपन,—
उनको स्तम्भित कर देता है
चपल दामिनी का कम्पन ।

५४

वे वनवासी, सतत-प्रवासी,
तिमिर निवासी, मूढ़ निरे,
काम विलासी वे क्या जानें—
अक्षर-तत्व निगूढ़ निरे ?
नहीं मानसिक जीवन उनका;
आध्यात्मिकता वहां कहां ?
भौतिकता-प्रसार फैला है
केवल वन में यहां-वहां;
आज विजित करने उस भौतिक,
दैहिक, शारीरिक बल को,—
राम-लखन वन-गमन कर रहे
सँग ले आत्म-ज्ञान-दल को ।

५५

मात्रास्पर्श भाव है उनका,
इन्द्रिय-रस में डूब रहे,
अपनी ही प्रतिछाया से वे,
डर कर छिन-छिन ऊब रहे,
ईति, भीति, आशंका, शंका–
से वे चिर शंकित रहते,
भय-संचार हृदय में उनके,
वे उर में कम्पित रहते;
अभय दान देने को उनको,
सुन्दरि, मैं कटिबद्ध हुआ;
यह सन्देश आज मम सम्मुख
सहसा ही सन्नद्ध हुआ।

५६

भूख लगी–आखेट कर लिया,
प्यास लगी–जल-पान किया,
कष्ट किसे कहते हैं, यह तो–
चोट लगी, तब जान लिया;
शारीरिक वेदना हुई तो–
रोए, चिल्लाए, तड़पे;
प्रतीकार करने को बिगड़े,
कड़के, फड़के, कुछ झड़पे;
भय-पूरित, अज्ञान-पराजित,
सतत विजित जीवन उनका;
उनकी ग्रीवा में है फन्दा–
भय का, सतत मृत्यु-गुण का।

५७

'तम सो मा ज्योतिर्गमयत्वम्,
मृत्यौर्मा अमृतं ले चल,
विद्या से संयुक्त मुझे कर,
अमृत चखा, हे अचल अटल !'

महामन्त्र है, यह हम सब का,
इसे प्रचारित करने को—
प्रिये, जा रहा हूँ मैं, इसके—
रव से वन-नभ भरने को;

यह पावन सन्देश हमारा,
सब जगती का क्लेश हरे;
अभय बना दे, अमृत पिला दे,
मृत्यु-भीति निःशेष करे ।

५८

'अग्ने नय सुपथा राये' का
अनल-मंत्र जपते-जपते,
अपथ विजन को सपथ करूँगा
मैं धूनी तपते-तपते;

आर्य सभ्यता, आर्य ज्ञान औ'—
आर्यों की संस्कृत वाणी,—
पराऽपरा विद्या का वैभव,
वेद-भारती कल्याणी,—

आर्यों की ये सब विभूतियाँ,
वन में प्रसारिता होंगी;
जटिल कुटिल अज्ञान-भावना—
निश्चय पराजिता होंगी ।

५९

आर्य - सांस्कृतिक - विजय - पताका
घन वन में फहरायेगी,
देखो तो यह ज्ञान ध्वजा अब
कहां - कहां लहरायेगी ;
नग्न ज्ञान-शून्यता पहन कर
आएगी सु-ज्ञान भूषा,
नव विचार-मणि-भरिता होगी-
रिक्त हृदय की मंजूषा;
भ्रम - यवनिका उठेगी, निर्मल-
आँखें खुल-खुल जायेंगी;
पलक उठेंगी, दृग कनीनिका-
चकित मुदित हुलसाएगी ।

६०

चकित, चमत्कृत सी दीखेगी-
प्रकृति वधूटी की व्रीड़ा,
बिम्बित होगी अनेकता में
शुद्ध एकता की क्रीड़ा;
ज्ञानोत्फारित, ध्यानोन्मीलित,
स्वप्नोत्थित आँखें जिनकी-
उन वन-जन की हो जायेंगी,
निशा-रूप घड़ियां दिन की;
दवि, ऊर्म्मिले, सोचो, कितने-
सुख का वह शुभ दिन होगा?
ज्ञान-दान, साधना-पूर्ण-वह,
अतिशय पावन क्षण होगा ।

६१

यह वन-गमन नहीं है, यह तो—
मेरी तीर्थ-यात्रा है,
इस प्रवास में आदर्शों की
चिन्मय सम्पुट मात्रा है;

नग्न चरण, निःसाधन जीवन,
जन-धन-हीन प्रवासी मैं,
ज्योति अखण्ड-प्रचण्ड जगाए
विचरूँगा संयासी मैं;

ज्ञान-शिखा, प्रज्वलित अनिंगित
दिखलाएगी मुझे दिशा;
वह प्रकाश आलोक हरेगा—
वन-जन-हिय की कुहू निशा ।

६२

सकल लोक रंजन, जन-मन के-
सम्मार्जन का कार्य, प्रिये,
इस से कैसे मुख मोड़ें हम,
धर्मोत्प्राणित आर्य, प्रिये ?

हमें धन्य करना है वन की
वसुधा का कौमार्य्य, प्रिये,
कितनी दया राम की, उनका—
कितना है औदार्य्य, प्रिये;

राज छोड़, वैरागी बन कर,
भोग छोड़, योगी बन के,—
विजय-गमन-प्रण ठान चले, बन—
गहन प्रवासी वन-वन के ।

६३

हम हैं नव-सन्देश-प्रचारक,
हम नव-शंख-ध्वनि कारी;
शुद्ध लोक-संग्रह-कारी हम–
नव विधान के अधिकारी;
नवल ज्ञान-विज्ञान-वह्नि की,
हम ज्वलन्त ज्वालाएं हैं,
हम दाहक, हम अनल वाहिनी–
विकराला मालाएं हैं,
दीपक-दर्शक, तिमिर-विनाशक,
इन्द्रिय शासक, मुक्त मना,–
ज्ञान धर्म जग में फैलाने,
निकलेंगे हम युक्त मना।

६४

सीय-राम पद-रेणु उड़ा कर
पवन हुलस,सुख पायेगी,
बह-बह अटवी में वह जीवन–
का सन्देश सुनाएगी;
धर्म-भावना, अमल-कर्मरति,
ज्ञान-प्रेरणा जागेगी;
वन की अँधियाली वीथी निज
तिमिर-आवरण त्यागेगी;
धीरे-धीरे वहां प्रसारित
होगी सुसंस्कृता भाषा,
बन्धन टूटेंगे, जागेगी–
विमल मुक्ति की अभिलाषा।

६५

धन्य अरण्य निवासी होंगे,
हम होंगे कृतकृत्य, प्रिये,
निबिड़ तिमिर में ज्ञान-शिखा का
होगा निर्मल नृत्य, प्रिये;
नाचेगा आलोक निराला,
वन-वीथियां मुदित होंगी,
अन्धकार-पूरित हृदयों में
पावक-किरण उदित होगी;
झाड़ और झंखाड़ कँटीले,
ऊँचे-ऊँचे भूधर वे–
आलोकित होंगे प्रकाश से
अतल-वितल-से गह्वर वे ।

६६

सघन निशा, खर-रश्मि-कृशा बन,
होवेगी प्रातर्वेला,
काली घड़ियां, ऊषा-क्षण बन
दीखेंगी करती खेला;
विपिन-वासियों के सोते से
भाव विहंगम चहकेंगे,
हिय-शतदल खिल जायेंगे, मन–
पाटल-दल-सम महकेंगे;
मुसकाती, हँसती आएगी
ऊषा निंदियारे वन में;
यह सुषमा प्रतिबिम्बित होगी,
राम-चरण-नख-दर्पण में ।

६७

अजग,—सजग, जड़,—अजड़,अचर,—चर
होंगे मेरे पग-पग पे,
मानव हिय में अभिनव विप्लव
होगा एक एक डग पे;
अँधियाला उजियाला होगा
रात्रि दिवस बन आएगी;
उदित ज्ञान-रवि की किरणें घन-
वन में छन-छन आएंगी;
जंगल के अधखुले नयन से
अति कृतज्ञता बरसेगी;
संस्कृति-शून्य हृदय में उस क्षण
अति रसज्ञता सरसेगी ।

६८

वन में, विहँस, अवतरित होगा—
जिस क्षण प्रथम प्रभात,सखी,
जिस क्षण, सहसा, छिप जाएगी
घन-तिमिरावत रात, सखी,
जिस दिन वन के दृग देखेंगे
यह रहस्य अज्ञात, सखी,
जिस क्षण निद्रित वन में होगा
जागृति का उत्पात, सखी;
वह दिन,वह क्षण, वह मुहूर्त्त, वह—
घटिका स्वर्णमयी होगी;
उस दिन राम-लखन-जीवन की—
आकांक्षा विजयी होगी ।

६९

घोर अविद्या को विद्याऽनल-
में सुस्नान कराने को,
ज्वलित वह्नि मैं लिए जा रहा-
हूँ अज्ञान हटाने को;
सुमुखि, मूढ़तामय खल वल्कल
जल-जल अनल-रूप होगा,
अन्तर तर के रुद्ध भाव का
सुन्दर अमल रूप होगा;
भय-मिश्रित नैराश्य-भावना
आशा में परिणत होगी,
भय की छाती अभय-वाण से-
बिंध-बिंध क्षत-विक्षत होगी ।

७०

रजनी-चर,---अज्ञान भयंकर,
मोह, प्रमाद, विकार बुरे,
क्रोध, काम, हिंसादि, रूप में
विचरें वन में दुरे-दुरे,-
दुबके तिमिरावृत गह्वर में
नहीं रश्मि का लेश जहां,
अप्रकाश, भय, असत् वृत्तियां,
फैला सम्भ्रम, क्लेश वहां;
वसुधा का यह दुख हरने को
मैं सज्जित हो चला, प्रिये,
तुम्हें तड़पती छोड़, हृदय में-
अति लज्जित हो चला, प्रिये ।

७१

मानवता की क्रमिक प्रगति ने
सहसा आज छलांग भरी,
एक गिरि-शिखर से दूजे पर
मानों सहसा टांग धरी,
कुछ घड़ियों में शताब्दियों का
विस्तृत पथ तय होवेगा,
अयुत योजनों का वह अन्तर
लघु अंगुलिमय होवेगा;
देवि, आज का यह यात्रा-दिन,
शुभ, विप्लव-संचारी है,—
मंगलकारी अविकारी है,
यह क्षण प्रलयंकारी है ।

७२

निर्मित आज हो रहा है, सखि,
जगती का इतिहास नया,
छिटक रहा है भूमण्डल में
यह उत्क्रमण-विकास नया;
आज फैलने वाला है, सखि,
उन्नत ज्ञान-विलास नया,
क्योंकि बना है वन प्रान्तर में
लक्ष्मण-राम-निवास नया;
वन-असीम का राज मिल गया,
मिला विपिन-आवास नया;
छुटी संकुचित अवध, सुलोचनि,
यह ससीम का त्रास गया ।

७३

इस प्रभात में आदि सृष्टि का,
नव प्रभात-दर्शन होगा;
इस नव जागृति का परिरम्भण,
सुमुखि, रोमहर्षण होगा;

ज्ञान-सचेतनता मय कम्पन—
से हिय-संघर्षण होगा,
नई सूझ, इस नई बूझ का
आकुल संकर्षण होगा;

दीख पड़ेगी बलि-बलि जाती
जड़ता पर नव चेतनता;
मूर्च्छित-सी, दिखलाई देगी;
यह अज्ञान-अचेतनता ।

७४

तनिक निहारो नवल सबेरा,
आंखों में सपना भर के,
तनिक निहारो उन घड़ियों को,
सब जग को अपना कर के,

मेरे-तेरे का आकुंचित
यह मण्डल लंघित करके,
नव - संदेश - वहन - पावनता
तुम देखोगी ज़ी भर के;

उस तादात्म्य भाव में, स्वामिनि,
दुसह वेदना कहीं नहीं,
विप्रयोग-संयोग रोग की
यह विवेचना नहीं कहीं ।

७५

प्रथम किरण-आलोकित क्षण वे,
प्रथम प्रभात-अलंकृत वे,
प्रथम सुहासित, प्रथम सुभाषित,
मुखरित नव-स्वर-झंकृत वे,

जनरव पूजित, कलरव कूजित,
गुंजित, रंजित वे घड़ियां,—
जिन के वक्षस्थल से उठतीं
नव-गायन-ध्वनि की कड़ियां;

प्रात—समीरण के धागे में,
जागृत-क्षण-मणि की लड़ियां,
चमक-चमक खोलेंगी अलसित
जग-जन-गण की आँखड़ियां—

७६

नवल प्रभात,—धन्य, युग-
परिवर्त्तक आदर्शों का सपना,
प्रथम प्रभात,—धन्य,फल लाया-
वृद्ध प्रजापति का तपना;

आदि प्रभात,—धन्य,जगदीश्वर—
की प्रेरणा निराली-सी,
नित्य प्रभात,—धन्य, सविता की
नवल किरण मतवाली-सी;

अवध-प्रभात,—धन्य, ले आया
राम वन-गमन की घटिका;
विपिन-प्रभात,—धन्य, आलोकित
होगी ज्ञान-किरण स्फटिका ।

७७

करो रंच अन्तमुर्ख अपनी,
ये अँखियां बड़ियां बड़ियां,
अन्तर तर में तनिक निहारो–
आदि प्रभात मयी घड़ियां;

उस दिन परम दिव्य अक्षर की
सृष्टि-प्रेरणा जागी थी,
स्वयं जगत्पति ने अपनी वह
अगुण एकता त्यागी थी;

उस क्षण शून्य भर गया सहसा
अनेकता-संसृतियों से,
निर्गुण, स्वयं बँध गया अपनी
इन गुणशीला कृतियों से।

७८

कालातीत अकाल गर्भ से–
प्रकटा काल अशेष नया,
अखिल शून्य से प्रकट हुआ यह
अन्तरिक्ष मय देश नया,

फिर जग आई सृजन-प्रेरणा
नव प्रभात की वेला में,–
अगणित तत्व चमकने लागे
प्रथम प्रात की बेला में,

चतुर कलाधर ने अणु-अणु का
गुम्फन कर ब्रह्माण्ड रचा,
तारक-मंडल, नभ–गंगा मय,
सकल विश्व का काण्ड रचा।

७९

चमका सूर्य, सौर-मण्डल सब
एक ताल पर थिरक उठा,
भूमण्डल, ग्राकाश, खमण्डल
रास-खेल में निरत लुटा,
रवि,—उस कवि-पुराण-ग्रनुशासक
की ज्वलन्त कन्दुक-क्रीड़ा,
किरणें,—ग्रणोरणीय भावना
की वे ग्रति उत्सुक पीड़ा;
प्रथम बार चमकी थीं यें सब
तब क्या छटा निराली थी,
मानों किसी मत्स्य-वेधक की
वह किरणों की जाली थी।

८०

उस प्रभात में किरण बलाएँ—
लेती थी सचराचर की,
जैसे माँ फूली फिरती हो
बेटी देख बराबर की;
नाच रही थीं किरणें, नचता—
था जग का व्यापार, प्रिय,
जैसे नव-प्रेरणा-तरंगित
होता हिय-कासार, प्रिये,
पहले-पहल झाँक विटपों ने
देखी जल में परछाईं,
उत्सुकता, प्रिय-हिय दर्पण में,
ज्यों निरखे अपनी झाँईं।

८१

प्रथम-प्रात में, देवि, ऊर्म्मिल,
भीषण गिरि-निर्माण हुआ,
अगम तुंग शिखरों का, गहरे–
गह्वर का कल्याण हुआ,
शैल-शृंखलायें कल-जल से
ऐसे आविर्भूत हुईं ;
ज्यों अति मथित भाण्ड से अभिनव
तत्व-राशि उद्‌भूत हुई,
खड़ी-खड़ी वन्दना कर रही
हैं गिरि-मालाएँ तब से,
सखि, देखो तो, अलख-झलक को–
जगा रही हैं ये कब से ।

८२

प्रथम-प्रभात क्षणों में, सुन्दरि,
हुआ प्रपूर्ण उदधि-संचय,
घिर-घिर कर यों जुट आया जल
ज्यों माँ की छाती में, पय ;
प्रथम लहर उस दिन जब उट्ठी
तब अद्‌भुत उद्‌घोष हुआ,
मानों बद्ध पूर्णता के हिय–
मध्य मुक्ति-आक्रोश हुआ ;
प्रथम सबेरे के दिन लहर,
कुछ आतुर-सी दौड़ पड़ीं ;
मानों सीमा तथा असीमा
में कुछ होड़ा-होड़ पड़ी ।

८३

ज्वालामुखी धधकते भड़के
उस प्रभात में भूतल से,
संचित आग उठा लाए वे,
पृथ्वी के वक्षस्थल से,
आदि प्रजापति की तप-ज्वाला
की प्रज्वलित निशानी वे,
सौम्य प्रात की अति करालता
की संकलित चिन्हानी वे,
सुन्दरि, यह सत्यता अनूठी–
है, ध्रुव है, विकराला है:
जिस पृथ्वी पर जीवन-जल है,
उसके हिय में ज्वाला है ।

८४

प्रथम प्रभात क्षणों में, स्वामिनि,
फिर प्रजनन के भाव जगे,
अथवा जड़ता की छाती में
चेतनता के घाव लगे,
जड़ में हुआ अंकुरित चेतन,
प्रस्फुटिता नव-शक्ति हुई,
स्वर-प्रणोदना से जड़ता में–
सजग भाव-अभिव्यक्ति हुई;
जल-कल-कल में जीवन खल-बल
का चंचल संचार हुआ,
वा सम्यक रूपेण सरण-कृत
ऐसा यह संसार हुआ ?

८५

स्रजन-जनन-श्रम-कण हरने को
कल-कल करता बहा सलिल;
उस प्रभात में सचराचर को,
व्यजन डुलाने लगा अनिल;
डग-मग पग धरती सी डरती
कुछ-कुछ सिहर-सिहर बहती,
देवि, प्रभाती हवा चली थी–
जग को सृष्टि-कथा कहती;
अनिल, सलिल, जीवन-धारा सब,
बह आए जगती तल पे;
अथवा होने लगी दान की
वर्षा नित भूमण्डल पे ।

८६

उस प्रभात में, वृक्ष उगे, वा–
जग निद्रा उद्ग्रीव हुई,
द्रुम-दल फूटे सिहर-सिहर कर,
ज्यों गत पीर सजीव हुई;
चम्पा, जुही, और चम्बेली
अलबेली सी महक उठीं
मानों कोई मुग्धा, यौवन,
में स्तम्भित हो, बहक उठी;
प्रथम बार कलियों ने आखें
सृष्टि देखने को खोलीं;
चतुर पारखी नें ज्यों दृग से
निज चिन्तामणि-निधि तौली ।

८७

उस प्रभात में प्रथम-प्रथम ही
फड़के पंख, विहग चहके,
बही विभास-गान-स्वर-धारा
भूमण्डल में रह-रह के,
चेतनता उड्डीयमान हो
फहराई नीलाम्बर में,
मानों चुम्बित वेणु-तरंगें
लहराईं मानस-सर में;
निर्मल जल छल-छल-छल-छल कर
छलका सब दिङ्मंडल में,
मूक लूक मय मौन मरुस्थल,
ध्वनि-जल-सिक्त हुआ पल में ।

८८

कुसुम-दलों पर झलक उठे, वे
ओस-बिन्दु न्यारे-न्यारे,
अमल कपोलों पर ज्यों झलकें
अश्रु-बिन्दु प्यारे-प्यारे;
नवल जीवनोल्लसित क्षणों के
वे आँसू आनन्द भरे,
प्रकृति-बधूटी की मन्थन-रति
के वे श्रम-कण बिन्दु खरे ।
उन में इकरंगी किरणों की
दीखी सात-सात झाँई;
उस प्रभात में यह अनेकता
गुँथी एकता में आई ।

८९

कुसुम खिले, मकरन्द रिले, द्विज–
वृन्द मिले, द्रुम-शिखर हिले,
प्रथम प्रभात क्षणों में फैली
चेतनता, मम नवोर्म्मिले;

निखर चले, जड़ता से विरहित
हो कर जीवन-भाव, प्रिये,
अपरा-परा प्रकृति का न्यारा–
न्यारा हुआ स्वभाव, प्रिये !

एक अचेतनता में उलझी,
दूजी चेतन-लीन हुई;
जड़-चेतन, दोनों विराट् की
सेवा में तल्लीन हुईं ।

९०

जागे द्विपद, चतुष्पद जागे,
बौराने-से जल-थल में,
हुआ प्राण–निर्माण अनोखा
जड़ता के इस बल्कल में;

पल-पल में, जल-थल में लहरें
हुईं तरंगित प्राणों की,
प्रकृति अतिथि सेवा करने लग–
गई, नये मेहमानों की;

प्रजनन, सतत आत्म-संरक्षण,
हुए स्वभाव-सिद्ध गुण ये,
उस प्रभात में गुण-बन्धन में
फँसे ईश चिर-निर्गुण वे ।

९१

मानवता उत्क्रान्त हो उठी
विकसित निपट प्रफुल्लित-सी,
थकित अलस आँखें खुल आईं
ज्यों कलिकाएँ मुकुलित-सी;
विस्फारित,भय व्यथित, सम्भ्रमित
चकित नयन ने जग देखा,–
बनथल पर अंकित थी, प्रमदे,
चतुष्पदों की पग-रेखा;
बीहड़ विपिन, निबिड़ तम पूरित,
जन-गण का आवास हुआ,
गिरि-गह्वर में, द्रुम शाखा पर,
उनका आदि-निवास हुआ ।

९२

शब्द-दीनता ओठों पर थी,
कर्णों में अभिव्यक्ति व्यथा;
सजनि, अबोली अलिखित ही रह–
गई सृष्टि की आदि कथा;
क्रमिक प्रगति से जन-समूह में
भाषा का संचार हुआ,
कँपते-कँपते तुतलाते से,
शब्दों का विस्तार हुआ;
काल बनें, संज्ञा बन आई,
क्रिया बनी, अभिधान बने,
नाम विशेषण, क्रिया-विशेषण
के ये सब सन्धान बने ।

९३

निमिष-मुहूर्त्त-विपल-घटिका-दिन,-
मास-वर्ष-निर्माण हुआ,
अथवा सकल विश्व मंडल की
क्रमिक प्रगति का ज्ञान हुआ;
भूत-भविष्य विभाजित करता
वर्तमान आया छिन में,
एक काल के तीन रूप हो-
गए, ध्यान-मय उस दिन में;
ऋतु-सज्जित यह वर्ष हो गया,
दिवस हुआ यह घटिका-मय;
किंवा मानवता के हिय में
कुछ-कुछ हुआ ज्ञान-संचय ।

९४

उस प्रभात में मानव-हिय में
ज्ञान-प्रणोदन हुआ स्वयं,
ज्यों सूने मन-दिङ्‌मंडल में
करुणा-रोदन हुआ स्वयं;
क्यों ? क्या ? कैसे ? के प्रश्नों से,
हृदय विकम्पित, व्यथित हुआ;
अन्वेषण-प्रेरणा मथानी
से अन्तरतर-मथित हुआ;
कहाँ ? मैं कहाँ ? अरे, तू कहाँ ?
मैं हूँ कौन ? और तू क्या ?
यों अकुला कर मानव बोला,
ठोकर खा, जब वह चूका ।

९५

आदि प्रभात-काल क्रीड़ा के
ये हैं मधुर संस्मरण-से,
वर्तमान विज्ञान-प्रगति के
ये हैं विगत अधिकरण-से,
मेरी स्वामिनि, प्रथम प्रात का
ऋण हम सब के ऊपर है,
उस ऋण का सम्पूर्त्ति-कार्य यह
देवि, कठिन है, दुस्तर है;
यह विद्या-विज्ञान-प्रगति-ऋण
व्याज सहित चुकता करने,–
राम-लखन बन जाते हैं, ऋण–
की पाई-पाई भरने ।

९६

वन में प्रथम प्रभात-क्षणों की–
छवि का आकर्षण होगा,
उसी प्रथम प्रातर्वेला का
कुछ-कुछ शुभ दर्शन होगा;
वन में, नव आदर्शोत्प्राणित
लखन-राम-लीला होगी,
अथवा प्रथम - प्रभात - प्रेरणा
फिर से गतिशीला होगी;
वैसे ही विस्फारित होंगी–
वन-जन की आखें चकिता,
जैसे प्रथम-किरण-वेला में
चमकीं थीं थकिता-थकिता ।

९७

हे कल्याणि, मुझे साहस दो,
बल दो, दृढ़ता दान करो,
मुझ, तव नयन-तरंगिणि-वाहित—
लक्ष्मण का, कुछ त्राण करो,

हे विदेह नन्दिनी, हृदय में—
वैदेही-निष्ठा भर दो,
मत अकुलाओ, हँस मुसका कर
मुझको आज विदा कर दो;

तुम्हीं बता दो, समझाऊँ क्या
कह कर तुम को, प्राण-प्रिये,
सदा तुम्हारी शुद्ध बुद्धि का
मुझको है अभिमान, प्रिये !

९८

विष-पीयूष मिले हैं जीवन—
मधु में एक संग, रानी,
सुधा-पात्र से भी है छलका
करता गरल रंग, रानी,

जीवन-धारण से जागी यह—
आत्मार्पण-उमंग, रानी,
विष से अमिय-गन्ध, मधु-रस से
उठती विष-तरंग, रानी;

स्वर-तरंग में करुण हूक है,
मिला रुदन में गायन-स्वन,
गुँथा हुआ है मरण-भाव में,
हे सुकुमारि, अमर जीवन ।

९९

यह संयोग-सुधा, अंजलि भर
मैंने, प्रिये, खूब पी है,
आँखों में, हिय में, रग-रग में,
यह मधु मस्ती भर ली है;
सुधा मधुर, हाला की मस्ती–
में, यह विष-प्याला आया,
दैवयोग अपने हाथों से
विषमय गुल्लाला लाया;
तुम्हीं कहो ? क्या आँखें मीचे
बैठ रहूँ मैं बिना पिये ?
होवेगा बदनाम तुम्हारी–
मधुशाला का नाम, प्रिये !

१००

तुम रस दात्री, मैं मधुपायी,
तुम प्याली, मैं मतवाला,
मैं मदिरा, तुम पात्र मनोहर,
मैं गाहक, तुम मधुशाला;
खूब पिलाया मधुरस तू ने
ओ मेरी रानी, वरदे;
दानिनि, मत हठ कर तू, ले आ,
आज गरल यह भर-भर दे;
कर दे तू उत्प्राणित मुझको,
मेरी झिझक, अरी, हर दे,
अये, मत उठा, गरल भरे ये–
प्याले, तू सम्मुख धर दे ।

१०१

हार कहाँ? हिय-भार कहाँ ? हिय–
में मनुहार यहाँ छाई,
मेरी रानी, विमल ऊर्म्मिले,
यह घटिका विष ले आई,
मौन सैन से, सरस बैन से,
मदिर नैन से, कह दो यह,-
कि तुम चढ़ा जाओ ये प्याले,
मत झिझको अब यों रह-रह,
गहर गरल की लहर उठ रही,
उतरानें दो अब बह-बह,
कर लेने दो, स्वामिनि मुझको,
गरल-पान यह सुबह-सुबह ।

१०२

गरलमयी तुम, सुधामयी तुम,
तुम मेरी मदिरा–बाला,
अभय-दान देती, मदमाती,
मुझको कर दो मतवाला;
आज विश्व देखे कि ऊर्म्मिला–
मधु-लोभी, यह मस्त लखन,
किस मस्ती से गरल-पान कर,
झूम रहा अम्लान वदन,
आज तुम्हारी मधु-शाला का
यह अहनिशि पीने वाला,
मृत्यु-पान कर हो जायेगा
आज अमर जीने वाला ।

१०३

जिन ओठों ने, सजनि, तुम्हारे
अधरामृत का पान किया,
जिन ओठों को तुमने, वरदे,
संतत अमिय-रस-दान दिया,
उन ओठों के लिए आज हैं–
आए गरल भरे प्याले,
आज पड़ गया हूँ मैं, सुन्दरि,
काल-कूट-विष के पाले,
दे दो तुम वरदान कि मैं कर–
जाऊँ पान वियोग-गरल,
चुपके-चुपके पी जाने दो,
यह विषाद-मय गरल तरल ।

१०४

व्यथा-शून्य मैं नहीं, नहीं है–
मेरा हिय यह अचल उपल,
मत समझो कि नहीं उठते हैं,
प्रिये, बुलबुले उबल-उबल,
सरवर हूँ मैं वह कि भरा है
जिस में अमल ऊर्म्मिला-जल,
जल मैं वह हूँ जिस में होती
रहती पल-पल में हलचल;
हलचल हूँ वह जो मँडराती
रहती अन्तर में चंचल,
चंचल अन्तस्तल में हूँ वह
जो बाहर है अचल-अटल ।

१०५

तुम सी वस्तु छोड़ना है इन
प्राणों की ठण्डी फाँसी,
फाँसी ऐसी, लगी रहेगी–
बरसों तक जिसकी गाँसी;

गाँसी वह, जिस से घुट-घुट कर
भी न टूटने पाए दम,
दम वह, जो सहने को उद्यत–
है वियोग-वेदना चरम;

प्राणों में तड़पन होती है,
अकुलाता है, प्रिये, हृदय,
किन्तु क्या करूँ, खड़ा सामने
यह कर्त्तव्य निठुर, निर्दय।

१०६

जब कुछ उथल-पुथल होती है,
जब कि खलबली मचती है,
जब मानवता करवट लेती
नव-नव रचना रचती है,–

परिपाटी की भीम शिलाओं–
को जब खण्ड-खण्ड करके,
नव-विचार बह-बह आता है
अपना चंड रूप धर के;

जब प्रेरणा-मेरु–गिरि से है
होता मथित समुद्र-हृदय,–
तब संक्रान्ति, क्रान्ति, के क्षण की–
पीड़ा होती है निश्चय।

१०७

एक विचार-काल को करके–
क्रमित, दूसरे में जाना,–
यों ही बड़ा व्यथा-मय होता–
है परिवर्त्तन का आना,–
फिर क्या कहना विप्लवकारी का?
वह तो है मूर्त्त-व्यथा
बड़ी अबोली, बड़ी ठठोली–
मय है उसकी स्फूर्ति-कथा;
अंधकार में नव प्रकाश को
छिटकता वह मस्ताना,
अपनी धुन का धुनी, घूमता–
धरे प्रचारक का बाना।

१०८

उसी पुण्य संक्रान्ति-काल की
घटिका आई आज, प्रिये,
इसीलिए मिल गया हमें यह
विस्तृत विपिन-स्वराज, प्रिये,
हम सन्यासी, विपिन-प्रवासी,
नव सन्देश प्रचारक हम,
मन-भय हारी, मंगलकारी,
सब जन-गण-उद्धारक हम;
है विचलित भावना यहाँ, हम–
क्यों न नियंत्रित करें उसे ?
व्यथा बुलाती हमको, हम भी
क्यों न निमन्त्रित करें उसे ?

१०९

दुस्सह व्यथा, असह्य वेदना,
अमित कष्ट संगी अपने,
सीता-राम-लखन जाते हैं
वन में जीवन-तप तपने,

हाय, न खींचो तड़पा देने
वाली आहें, रह-रह के,
तनिक बँधाओ मुझको ढाढस
तुम दृढ़ता से यों कह के—

'जीवन एक पहेली बन कर
आया है, इसको बूझो,
सावधान, यह है समरस्थल,
प्रिय, मत हिचको, तुम जूझो।'

११०

बस, इतना ही कहो, सलौनी,
फिर मैं सब कुछ कर लूँगा,
फिर तो वन का घोर तिमिर-दुख
मैं क्षण भर में हर लूँगा;

मुझे और कुछ नहीं चाहिए,
मैं हूँ एक सुभट प्रहरी,
बस मुझ को दे दो तुम अपनी
स्मिति-रेखा यह अश्रु-भरी;

अश्रु-भरी आँखों में भर के,
कुछ सपना -सा, मुसका दो,
मुझको, प्रिये, आज तुम, हाँ, कुछ,
प्रेरित कर दो, उकसा दो।

१११

तुम क्या जानो देवि, तुम्हारी–
"हाँ-हाँ" में कितना बल है ?
तुम क्या जानों कि इस तुम्हारी–
स्वीकृति में कितनी कल है ?

है समर्थ तव भ्रू -विलास यह
विश्व समग्र नचाने में–
तव दृक-पात समर्थ सदा है
नव विद्रोह मचाने में;

तुम हो प्रकृति रूपिणी देवी–
तुम हो आदि शक्ति-प्रतिमा–
त्वमसि मदीया चिर-प्रेरणा–
त्वम्हि मदीय भक्ति-प्रतिमा ।

११२

तुम मेरा साहस, बल, वैभव,
तुम मम हास-विलास, प्रिये,
तुम मम नेह-सरणि, तुम मेरा–
नव सन्देशोल्लास-प्रिये,

तुम मम व्यथा-कथा, तुम मेरी–
निवासिनी अंतस्तल की,
तुम अन्तर्यामिनि, स्वामिनि तुम
हो इस लक्ष्मण निश्चल की;

तुम जानो हो, सब कुछ बातें
देवि, लखन अन्तर-तर की
सभी भावनाएँ जानो हो
तुम मेरे जीवन भर की ।

११३

बस तुम और सुमित्रा माता,
दोनों मुझ को जानो हो,
हिय की सकल प्रेरणाएँ तुम
दोनों ही पहचानो हो,
और कौन इस त्रेता युग में
है जो मुझको जान सके ?
और कौन है जो मुझ को कुछ
समझ सके, पहचान सके ?
तुम दोनों ही मेरे सारे
भेद-भरम को समझो हो,
सास-बहू तुम दोनों मेरे
धरम-करम को समझो हो ।

११४

मेरी तपस्विनी जननी की–
तुम हो करुण छटा, रानी,
मैंने तुम में देखी माँ की
अरुण तपस्या, कल्याणी !
मेरी माता की करुणा का
तुम हो मूर्त्त स्वरूप, प्रिये,
उनके जीवन की अनबोली
तुम हो व्यथा अनूप, प्रिये,
तुम दोनों पर त्रेता युग का
सब नारीत्व निछावर है,
तुम दोनों के चरण-नखों से
तप-भावना उजागर है ।

११५

परम सहानुभूति रूपा तुम,
चरम, विषम वेदना-मयी,
तुम हो बलिवेदी की उठती–
शिखा, परम पावना, नयी,

आत्माहुति का यह क्षण आया
है अपना खप्पर लेकर,
कर लेने दो इसका स्वागत
मुझको निज जीवन देकर;

यह है अग्नि-परीक्षा, रानी,
बलि-दीक्षा दो तुम्हीं मुझे,
"स्वाहा" कहने के पहले ही,
देखो, कहीं न अग्नि बुझे।

११६

आज आत्म-लय की, तन्मयता–,
की, यह ज्ञान-तरंग उठी–
मेरे सात स्वरों में जागृति,–
की यह नवल उमंग उठी,

मेरी वीणा आज मिला दो,
आओ, देवि, उसी स्वर में;
इसकी ये खूँटियाँ खीच दो,
तारतम्य बाँधो, परमे;

मेरी रानी तनिक मिला दो–
मेरे स्वर में स्वर अपना,
मेरे स्वर को आज सिखा दो
ठहर-ठहर थर-थर कँपना।

११७

देवि, मधुर वीणा का निक्वण
मम अन्तरतर में भर दो
हिय-मन्थन-शीला स्वर-पीड़ा
सकल चराचर में भर दो,

छन्द-हीन, गतिहीन, बेसुरा,
ताल रहित जीवन जग का—
ज्ञान नहीं है स्वर का, लय का,
छुटा ध्यान स-नि-ध-प-म-ग का,

तुम स्वर-लय-यति-गति-रति-रम्ये,
कम्पित कर दो स्वर-लहरी,
आज बहा दो स्वर-रस-धारा
कुछ गहरी, कुछ-कुछ ठहरी।

११८

आज आत्म-लय का अगेय गीत गाऊँगा मैं
परम आनन्द कन्द अन्तहीन स्वर में,
उमँग-उमँग पूर्ण प्रेम भर लाऊँगा मैं
प्राण-आरोहण-अवरोहण-लहर में,
उमड़ उठेगी स्वर-तरंगिणी रसधार
घहर-घहर भर जायगी अम्बर में,
रस-स्रोत, ओत-प्रोत करेगा ब्रह्माण्ड सब
तान गूँज जायगी अखण्ड चराचर में,
तुम मेरी मानिनी, दानिनी, रानी, करो मुझे
कृतकृत्य जीवन के प्रथम प्रहर में,
विस्मारक नाद की अनन्त गान-लहरियाँ
तरंगित हुईं, देवि, मम मानसर में।

११९

स्रष्टि प्रेरणा के तीव्र, मन्थन-विषाद भरे
झल-झल झलके हैं तारे नभ-सर में,
अखिल ब्रह्माण्ड का दुरूह चक्र-व्यूह भेद
कर गूँजती है गायन-ध्वनि प्रान्तर में,
सूर्य-चन्द्र-ग्रह-सौर - मण्डल - आकाश - गंगा—
मन-मणि सम गुँथे गान-प्राण-हर में,
घूम-घूम झूम-झूम नृत्य करता है विश्व,
विश्व रूप, शक्ति-बीज ब्रह्म के अधर में;
अवध नची है, दशरथ नृप नाच रहे,
कैकेयी नाचती पड़ी ज्ञान के चक्कर में,
इस क्षण केवल श्रीराम शान्त, स्थिर बुद्धि,
विचरण कर रहे हैं प्रासाद भर में ।

१२०

एकोऽहं यद्यपि बहु रूप हो गया मैं यह—
ध्वनि उठती है इस सृष्टि के भँवर में,
विश्व-नियमों की क्षुद्र घंटिका खनकती है
नियति की कटि में, चरण में, सुकर में,
क्रान्ति - उत्क्रमण - सुविकास - नाश- पाश-बद्ध
जूझता है जग लीलामय के समर में,
एक सूत्र, एक लय, एक तान, एक गान
एक ध्यान, भेद कहाँ पर में ? अपर में ?
वन-वासी अवध-निवासी के ये भेदभाव
दूर हुए, भेद नहीं जंगल में, घर में,
द्वैत भाव मिट रहा, दूर हो रहा है भेद
शीतल छाया में, रवि किरण प्रखर में ।

१२१

एक महाकाल के अनेक क्षण खण्ड रूप
भेद-भाव युत फैल रहे जग भर में,
दिन, रात, प्रहर, मुहूर्त्त, क्षण, घटिकादि,
सब का निलय महाकाल के उदर में,
स्वयं विकराल महाकाल दीन भाव धरे
लीन हो जाता है श्री अकाल के अन्तर में,
उस क्षण तन्मयता सिन्धु लहराता आके
भेद भाव मिट जाता क्षर में, अक्षर में,
यही आत्म लय का अगेय गीत गाने दो, री,–
परम आनन्द कन्द अनहद स्वर में,
उमँग-उमँग पूर्ण नेह भर ले आने दो–
प्राण आरोहण-अवरोहण-लहर में ।"

१२२

यों कह, उनका चुम्बन करते
करते लक्ष्मण मौन हुए,
अथवा हृदय-निगूढ़ भाव सब
कुछ मुखरित, कुछ गौण हुए,
एक बार दोनों ने दोनों
को देखा आँखें भर के,
पैठ गए ऊर्म्मिला-हृदय में
नयन ऊर्म्मिला-श्रीवर के,
एक दूसरे पर बलि जाते,
हृदय ग्रन्थियाँ खोले-से,–
कुछ क्षण तक तो यों ही दोनों,
बैठ रहे अनबोले-से ।

१२३

हुए स्फुरित कुछ ऊर्मिला-अधर
फिर कुछ कण्ठ निरुद्ध हुआ,
फिर, हठ करते हिय का आकुल
अभिव्यंजन हत-बुद्ध हुआ,

कुछ अटके, कुछ भटके, ठिठके,
वचन लाज-लटकीले वे,
अन्तरतर में पैठ रहे अति–
अरुण, करुण, चटकीले वे;

थके शब्द, रस-गोपनीयता–
से झगड़ा करते-करते,
फिर मुखरित हो उठे छबीले
वे कुछ-कुछ डरते-डरते;

१२४

"मेरे प्राण, त्राण की तुम से,
नहीं माँगती मैं भिक्षा,
मुझे याद है, देव, तुम्हारी
स्पर्श-तितिक्षा की शिक्षा;

आदर लाड़, प्यार, जीवन में–
इतना तुम ने मुझे दिया,
चिर अनुरक्ति-सुधा-रस मैं ने
अंजलि भर-भर अमित पिया;

लखन-प्रिया बन अमर हुई हूँ
श्री विदेह की कन्या मैं ।
देव, तुम्हारे श्री चरणों में–
बैठ हुई हूँ धन्या मैं,

१२५

देव, तुम्हारे शुभ दर्शन से
मेरा जीवन धन्य हुआ,
श्री चरणों में आत्म-निवेदन
मेरा विनत, अनन्य हुआ,
तुम मेरी शुद्धा निष्ठा, प्रिय,
तुम मेरी परमागति हो,
तुम मम ज्ञान-राशि तुम मेरी–
पावन परब्रह्म–रति हो,
तुम मेरे संचित प्रसाद हो–
जीवन-किसलय-सम्पुट के,
बड़े जतन से तुम्हें पा सकी
हूँ, हे प्राण, स्वयम् लुट के ।

१२६

तुम मेरे यौवन-निशीथ की–
दीप-शिखा हो इठलाती,
एकाकिनी यात्रिणी की तुम,
हो आलोकमयी बाती,
तुम हो मेरे सुभग सबेरे,
मेरे बालातप तुम हो,
जप तुम हो, तप तुम हो, अव्यय-
मम अश्वत्थ विटप तुम हो,
तुम मेरे प्रज्वलित हुताशन–
अधिष्ठान आत्माहुति के,
तुम हो चिर प्रकाश दाता, प्रिय,
मेरे जीवन की द्युति के ।

१२७

तुम मम अर्चन, वन्दन, पूजन,
ज्ञान, ध्यान के हो स्वामी,
अनुगामिनी तुम्हारी मैं; तुम
मेरे अभय अग्रगामी,
कितने नेह-निगूढ़ तत्व ये
आत्म-रमण-रीतियाँ कई,
तुम ने मम हृद्गत की हैं, हे–
देव, सुरत-रीतियाँ नई;
तुम मेरे गुरुदेव पुरातन,
सतत सनातन रूप प्रभो,
तुम हो मेरी प्राण-प्रतिष्ठा
तुम मम मूर्त्ति अनूप, प्रभो !

१२८

तुम मेरी जीवन-कुरंगिणी–
के आदर्श शिकारी हो,
हे प्रिय, तुम मेरे जीवन के
बड़े चतुर धनुधारी हो,
मेरी चपल अहंता की यह–
मृगी हुई कब की घायल,
प्रिय, मैं तो हो चुकी कभी की
तव धनु बाणों की कायल;
समय नहीं है कि मैं दिखाऊँ
नीके तीखे बाणों को,
आज समय ही नहीं, बताऊँ–
उन सब शर-सन्धानों को ।

१२६

तुम मम कृति-पति, मति-पति रति-पति,
तुम मम चिर अविकारी हो,
तुम मम प्रकृत कला कौशल, तुम-
नवल भाव संचारी हो,
तुम मेरी तूलिका, सुकठिनी,
तुम मेरी छबि, तुम कविता,
तुम हो मेरे अमल चन्द्रमा,
तुम मम जीवन-नभ-सविता;
तुम हो मेरी प्रेम-पूर्णता,
तुम मेरी आध्यात्मिकता,
तुम मेरे आराध्य देव हो-
तुम हो मेरी तात्विकता !

१३०

मेरे जन्म - जन्म के तुम प्रभु,
मैं तव चरणों की दासी,
तुम मेरे चिर-नेह भिखारी,
मेरे हृदय-दश-वासी,
मेरे द्वारे अलख जगाते-
तुम शिव शंकर रूप बने,
मेरा अहं-भाव-विष पीते-
तुम प्रलयंकर रूप बने;
खूब लिया संदेश-वहन का
अतुल भार अपने शिर यह,
खब किया जो आज कर लिया
निज-जीवन-पथ सुस्थिर यह ।

१३१

प्रथम प्रात का ऋण भुगताने
को अब विपिन-गमन होगा,
वन जग-मग आलोकित होगा
चिर अज्ञान-दमन होगा,
विजन-गमन मिस जन-गण-संग्रह
का संदेश-वहन होगा,
अथवा किसी ऊर्म्मिला का सुख–
उपवन-देश-दहन होगा;
आग लगा, सुख-बाग जलाए–
राग-सुहाग लुटाते-से,
मेरे प्रिय, तुम विपिन पधारो,
ममता–मोह छुटाते-से।

१३२

मेरी करुणामयी सुमित्रा–
माँ रोएँगी, रोने दो,
ओ मेरे आखेटक, अपने–
ही मन की तुम होने दो,
मैं? मैं इन अपनी आँखों को
फोड़ूँगी, यदि ये रोवें,
देखूँगी कि कहीं न तुम्हारे
पथ की बाधाएँ होवें;
तुम जाओ, सुखेन जाओ; हम–
दोनों की कुछ बात नहीं,
हमें चलित कर दे, यह चौदह
वर्षों की न बिसात कहीं।

करुण

१३३

हम नारी हैं चिरप्रतीक्षिका,
हम हैं चिर परीक्षिताएं,
चिर वियोग यज्ञाहुति से हम
सन्तत हुई दीक्षिताएं,
निभृत कुटी की द्वार-देहली
पर चिर नेह-प्रदीप धरे,–
युग-युग लौं उकसाती रहती
हैं हम बाती, हरे, हरे;
चौदह बरस ? नहीं प्रिय चाहो–
यदि, चौदह युग लौं जाओ,
खूब करो उद्धार विश्व का,
ज्ञान-रश्मियां फैलाओ ।

१३४

मैं नारी हूं, देव, बनी हूं
मैं नित संग्रह-भाव मयी,
अपनी निधियों के प्रति मैं हूँ
कुछ-कुछ कृपण स्वभावमयी,
मैं गृह भी हूँ, गृह-स्वामिनि–
हूं, घर की रखवालिन हूँ,
मैं हूँ अपने घर की रानी
निज उपवन की मालिन हूं,
मैं बखला उठती हूँ, प्रिय, यदि
कोई मेरी वस्तु छुए,
वे हैं मेरे शत्रु कि जो मम
उपवन-नाश-प्रवृत्त हुए ।

१३५

यह कैकेयी कौन, कि जो श्री–
राम चन्द्र को भेजे वन ?
यह कैकेयी कौन ? उजाड़े
जो सीता का सुखद सदन ?

यह कैकेयी कौन ? ऊर्म्मिला का
उपवन जो करे दहन ?
कैकेयी? लूट ले सुमित्रा
माता की गोदी का धन ?

आर्यपुत्र, मैं ? मैं कुछ भी तो
समझ न पाई ये कर्त्तब,
कोसल जनपद में यह विप्लव
हुआ कहो क्यों ? कैसे ? कब ?

१३६

सब जन हुए आज पागल ? या–
मैं ही हूँ बौरानी-सी ?
क्या मैं ही यों सोच रही हूँ
मूर्त्तिमती नादानी-सी ?

यह अन्धेर ? प्रचण्ड मौर्ख्य का
यह निष्ठुर आदेश, प्रभो,–
तुम भी धर्म, धर्म कहते हो
इसको हे प्राणेश, प्रभो,

आग लगे इस धर्म-क्रान्ति में
जो बुद्धि का विनाश करे,
है कैसा यह धर्म कि जो जन–
गण के हृदय निराश करे?

१३७

सुनती हूँ कि नृपति दशरथ का
है कोई प्रदत्त वह वर,
जिसके कारण आर्य राम, औ
श्रीलक्ष्मण होंगे वनचर;
होंगी श्रीरामानुगामिनी
सीता जीजी, जानूँ हूँ,–
अपनी तेजस्विनी बहिन को
बचपन से पहिचानूँ हूँ,
यह प्रतिपाल वचन का क्या है?
यह वर है क्या बला, कहो?
धर्म-कर्म है कहाँ? किधर है–
निष्ठा इस में भला, कहो?

१३८

यह है सब पाखण्ड, प्राणप्रिय,
बुद्धि दोष का यह व्यापार,–
जिस के वश नरपति ने खोया
यह समस्त सद्भाव, विचार;
परिमित है, निःसीम नहीं है–
धर्म, वचन-प्रतिपालन का,
रखना पड़ता है विचार भी
जन-समाज-परिचालन का,
वचन पालने में होता है
पूर्ण विचार हितामृत का,–
देश, काल, पात्रता, परिस्थिति,
धार्मिक भाव, नृतानृत का।

१३९

वरंब्रूहि कह, देना भी क्या
कोई सहज ठठोली है ?
वर दें भिखमंगे वामन वे ?
जिनके काँधे झोली है ?

वर देना है काम उसी का
जो प्रभु अन्तर्यामी है,–
सर्व-शक्ति जिसके एकांशस्थित
है, जो निष्कामी है ।

बड़ी अनोखी बात कि अब वर
देने लगे द्विपद जन भी,–
भाव-समत्व-स्थिति है जिनके
हिय में नहीं एक क्षण भी ।

१४०

यदि तुम मेरे प्रेम नेम-वश
हो कर मुझे एक वर दो,–
और माँग लूँ मैं तुम से यह,
कि तुम ब्रह्म-हत्या कर दो ।

तब क्या वह वरदान तुम्हारा,
बोलो, धर्म-विहित होगा ?
वह व्रत परिपालित होगा ? क्या-
उस में धर्म निहित होगा ?

तुलनात्मिका-बुद्धि से व्रत का
पालन नहीं रहित होता
व्रत-परिपालन सदा, प्राण प्रिय,
ज्ञान-विचार सहित होता ।

१४१

यह है एक कुपरिपाटी, प्रिय,
यह सम्पूर्ण स्वधर्म नहीं,
सोचो तो, इस धर्म-धर्म में
हो जावे न अधर्म कहीं;
माँ कैकेयी धर्म-कर्म का
लोम-चर्म हैं खींच रहीं,–
अपने स्वार्थ-बीज को वे हैं
इसी बहाने सींच रहीं,
यह अज्ञान भयंकर है, प्रिय,
तात-चरण श्री दशरथ का,
खो बैठे हैं सद्विचार सब
वे निज कृति के इति-अथ का।

१४२

जन-गण-मंगलकारी सीता–
रमण आर्य श्रीराम सदा,
धर्म धुरन्धर, देव-पुरन्दर–
वन्दित, वे निष्काम सदा,
वे हैं मेरे पितृ देव सम
सदा समत्व बुद्धि वाले,
उन्हें समझ क्या सकें स्वार्थ-रत
मूर्ख ममत्व बुद्धि वाले ?
आर्य राम के एक चरण नख
पर त्रैलोक्य निछावर है,
उन का ही तो है इस जग में
जो जंगम है, स्थावर है !

१४३

नित एकत्व भाव धारा के
चिर वाहक जो राम स्वयं,–
'भुंजीथाः त्यक्तेन' मन्त्र के
चिर साधक जो राम स्वयं,–
उन्हें कभी मोहित कर सकती
क्या यह स्वार्थ-भाव-माया ?
उनके आगे क्षुद्र, अवध के
राजपाट की यह छाया;
घोर विचार शून्यता है यह
श्री कैकेयी रानी की,
प्रदर्शिनी कर रहीं आज वे
अपने हिय अज्ञानी की ।

१४४

यह अन्याय, धर्म का नाटक–
रचता हुआ, अवध आया,
फैला रहा हमारे गृह में
यह अपनी मिथ्या माया,
सभी फँस गए हैं इस भ्रम में,
तुम भी भ्रमित हुए, स्वामी !
धर्म-विचार, अधर्म-आक्रमण–
से अतिक्रमित हुए, स्वामी,
शिथिला बुद्धि हुई है; सब जन–
किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए,
उठो धनुर्धर मेरे, तुम क्यों
यों वनगमनारूढ़ हुए ?

१४५

इस अन्याय, अधर्म दुष्ट के
शिर पर चरण–प्रहार करो,
अपनी प्रज्ञा के तीरों के
तक-तक तीखे वार करो,
नाश करो इस अन्ध दम्भ का,
आज अवध को पूत करो,
इस पाखण्डमयी धार्मिकता
को तुम भस्मीभूत करो,
जाओगे तुम ज्ञान-रश्मियाँ
फैलाने वन-निर्जन में ?
यहाँ अवध को छोड़ोगे क्या
यों ही निबिड़ तिमिर घन में ?

तर्क

१४६

यह अविचार विपिन जाने का
राम-हृदय कैसे आया ?
उनके विमल हृदय-दर्पण में
पड़ी असत् की क्यों छाया ?
या तो सब जग पागल है, या–
फिर मैं ही हूँ उन्मत्ता,–
सब जग ? या मैं ही भूली हूँ
धर्म्मा-धर्म, कर्म-सत्ता ?
राम, लखन, सीता, कौशल्या,
मात सुमित्रा, सब अरुझे ?
या फिर, प्रिय, मेरे हीहिय की
ज्ञानाग्नि के स्फुलिंग बुझे ?

१४७

माना मैं नारी हूँ कृपणा,
मैं हूँ स्वार्थ-स्वभाव मयी,
किन्तु तत्व-विश्लेषण की है,
मुझ में अविकल चाह नयी,
मुझे तनिक भी संग-दोष की
नहीं दीख पड़ती छाया,
मोह नहीं है, लोभ नहीं है,
नहीं रंच ममता-माया;
शुद्ध-भावना से उत्प्राणित
मेरे ये विचार, प्यारे,—
आज उमड़ आए हैं बरबस,
निर्णयार्थ, न्यारे-न्यारे ।

१४८

तुम कहत हो वन-जन-मन में
होगा ज्ञान-विकास नया,
मैं कहती हूँ प्रथम अवध में
करो अधर्म-विनाश नया,
धर्म-धुरीण राम के भ्राता,
पूज्य सुमित्रा के जाये,
यह अन्याय हो रहा है, प्रिय,
तव सम्मुख, दायें-बायें;
यह अधर्म का भाव यहाँ पर
फैल रहा है जन-गण में,
पहले इसको करो पराजित,
प्रिय, तुम निज जीवन-रण में ।

१४९

धर्म-धारणा में, मेरे प्रिय,
तुम प्रचण्ड-सी क्रान्ति करो,
सद्विचार, सद्भाव, तर्कमय–
कृति से सब की भ्रान्ति हरो,
कह दो आज पिता दशरथ से
कि यह अधर्म नहीं होगा,
कह दो, लक्ष्मण के रहते यह
यह घोर कुकर्म नहीं होगा;
राज नहीं कैकेयी का यह,
दशरथ का न स्वराज यहाँ,
ज़न-गण-मन-रंजन कर्त्ता ही
होता है अधिराज यहाँ।

१५०

मन्त्र-मुग्ध मणि-फणि अनन्त-सम
तुम कैसे यों दीन हुए ?
हे मेरे अपराजित, बोलो,
किस धुन में तुम लीन हुए ?
कहाँ गई वह सहज वीरता
उचट चोट करने वाली ?
कहां गई हुङ्कारमयी वह
वाणी, भय भरने वाली ?
भू-लुण्ठित कर दो अधर्म यह
अपने चरण प्रहारों से,
कम्पित कर दो दिग-दिगन्त यह
निज गभीर ललकारों से।

१५१

आर्य धर्म के करवट लेने
की यह घटिका आई है,
महाक्रान्ति के सूत्र आज यह
अपने सँग-सँग लाई है,

स्वार्थ-प्रेरणा का रौरव रव
शान्त करो, निस्तब्ध करो,
निज ज्वलन्त शंख-ध्वनि से, प्रिय,
सब के हृदय विदग्ध करो,

महानाश का मन्त्र फूँक दो,
मेरे विकिट क्रान्ति कारी,
भस्म करो ये गलित रूढ़ियाँ,
मेरे निपट भ्रान्तिहारी ।

१५२

ऐकान्तिक कर्तव्य नहीं है
पितुराज्ञा-पालन, प्राणेश,—
यह भी क्या, मैं तुम्हें बताऊँ
हे मेरे विशुद्ध ज्ञानेश ?

है उस में भी काल-परिस्थिति—
बन्धन, देश-अवस्था का,
करना पड़ता है विचार-निज
धर्म-स्वकर्म-व्यवस्था का;

धर्म-बंध से गुरुजन-आज्ञा
का पालन निर्बन्ध नहीं,
छुट सकता है अंश-कर्म से
पूर्ण धर्म-सम्बन्ध कहीं ?

१५३

आंशिक कर्म रूढ़ियाँ क्यों कर–
रहीं भावना तव विकला ?
बस अच्युत सद्धर्म-परिधि ही
है अलंघनीया विमला;

भक्तराज प्रह्लाद कर चुके
हैं पितुराज्ञा उल्लंघित,
फिर भी उनकी पुण्य-स्मृति है
आज सकल जन-गण-वंदित,

लंघनीय है आज्ञा गुरुजन–
की अधर्म्य, अविचारमयी,
मान्य गुरोराज्ञा क्यों होगी,
जो विषमयी, विकार-मयी ?

१५४

तुम विचार-क्रान्ति के उपासक,
तुम नवीनता उन्नायक,
तुम प्राचीन दम्भ के भेदक,
तुम जड़ता के गति-दायक,

तुम कोदण्ड, प्रचण्ड-भाव के,
नवोत्क्रान्ति के तुम सायक,
तुम तूणीर चमत्कारों के,
तुम प्रत्यंचा निश्चायक;

शब्द-बेधन-क्षम तुम हो, तुम–
संशय – वाक्य - नष्ट - कर्ता,
तुम हो निपट अचूक खिलाड़ी
"भवति-न भवति"–भाव हर्त्ता

१५५

आज अवध में फैल रहा है
निपट कुकर्म-विकर्म बड़ा,
यहाँ धर्म की ओट लिए इस–
जन-पद-बीच अधर्म खड़ा,
छाया है दुष्कर्म भयानक,
धर्म-भावना रोती है,
बोलो, मेरे निपट धनुर्धर,
तुम को आज चुनौती है,–
आँखें खोले, धोखा खाते,
यह अधर्म स्वीकार करो,–
या फिर कैकेयी-कुमनोरथ–
गढ़ को क्षण में क्षार करो।

१५६

आज जगत को सूर्य वंश की
टेक तनिक दिखला तो दो,
धर्म किसे कहते हैं, भोले–
जग को यह सिखला तो दो,
दिखला दो, दो हाथ, धर्म की
धाक-साख बिठला तो दो,
इस अधर्म के जमे हुए जो–,
चरण, उन्हें फिसला तो दो,
खिसका तो दो अचल शिला इस–
भीषण, जड़ परिपाटी की,
पगडण्डी निर्विघ्न करो, प्रिय,
अगम धर्म की घाटी की।

१५७

आज धनुष की डोर सजाए,
शर संधाने, सज्जित हो,–
कूद पड़ो, ललकार भरे, तव–
प्राण रण-नदी मज्जित हों,

यहाँ स्वार्थ-परता दिखलाती
है अपनी आकृति, स्वामिन्,
आज करो विद्रोह भयानक
इस अधर्म के प्रति, स्वामिन्;

गुरु-जन, माता, पिता, सुहृज्जन,
जो भी हों अधर्म धारी,
उन से लोहा लेने में मत
झिझको, हे स्वकर्म कारी ।

१५८

विद्रोही ही जग में करते
हैं सुधर्म-निर्माण नया,
शुष्क अस्थियों में संचारित
करते हैं वे प्राण नया,

नव-धारा-वाही विद्रोही
नूतन काल-प्रवर्त्तक है,
महानाश-ताण्डव का गतिमय
विद्रोही, ही नर्तक है;

उसकी गति में नाश सृजन, ये
उभय परस्पर हैं मिलते,
जैसे शूल धन्य होता है
कोमल शत-दल के खिलते ।

१५९

है विद्रोह पतित-पावन, वह
अभिनव सृजन-निशानी है,
है विद्रोह नित्य जाग्रति मय,
गति की गहन निशानी है,

अलस, मदिर, रसमय, स्वप्नोत्थित
नयनों का वह सपना है,
यह विद्रोह नवाशा-पूरित
हिय का विकल तड़पना है,

प्रिय-भविष्य-दर्शन की आशा
है विद्रोही के हिय में,
सुख-बलि है, आत्माहुति है, नित–
इस के जीवन सक्रिय में।

१६०

सकल सृष्टि विद्रोह-कला की
एक लहर मस्तानी है,
इसीलिए प्रति वस्तु यहाँ की,
प्रियतम, आनी-जानी है,

स्थिरता केवल जड़ता में है
जीवन में अस्थैर्य भरा,
इसीलिए तो मानव-हिय में
सतत विकास-अधैर्य भरा,

सहज हठीले तुम विद्रोही,
दरसा दो विद्रोह-कला,
चूर्ण-चूर्ण निज पदाघात से,
कर दो भीम शिला अचला।

१६१

इन आब्रह्म भुवन लोकान्तर–
में विद्रोह सतत छाया,
पुरुष, प्रकृति के बीच दृष्टिगत
होती चिर विरोध छाया,
एक सचेतन है, दूजी ने–
जड़ता ही को अपनाया,
पुरुष अगुण, गुणमयी प्रकृति है,
अक्षर पुरुष, क्षरा माया,
बन्धन-मुक्ति, सगुण-निर्गुण के
बीच विरोध-भाव आया,
अथवा यह विद्रोह निरंजन–
रंजन अपना रँग लाया ।

१६२

क्षर-अक्षर में, अचर-सचर में–
अजर-अमर विद्रोह भरा,
परम पुरुष की द्रोह-रूपिणी
है यह प्रकृति परा-अपरा;
कर जड़ से विद्रोह, सचेतन
अंकुर आविर्भूत हुआ,
कर विद्रोह परम निर्गुण से
गुणमय विश्व प्रसूत हुआ;
फिर तुम आज अवध में विप्लव
करने से क्यों डरते हो ?
प्रिय, बतलाओ, क्यों चुपके से
पितुराज्ञा शिर धरते हो ?

१६३

जग पूजित है सत्य-धर्म-रत,
सन्निष्ठा-मय विद्रोही—
गतानुगति का वह विध्वंसक
वह प्राणों का निर्मोही,—

परिपाटी-द्रोही विद्रोही
जग की आवश्यकता है,
धीर उत्क्रमण, सतत प्रगति की
वह परमावश्यकता है,

यदि न जलाए ज्वाला उस के
नव विचार की दाहकता—
तो फिर कैसे हो सकती है
निखिल लोक संग्राहकता ?

१६४

उस के हिय में है अस्वीकृति,
निष्ठा-प्रेरित नास्तिकता,
उसकी नास्तिकता में भी है
शुद्ध तर्क की आस्तिकता,

नासदीय सूक्तोक्त भावना
है हिय में मंगलकारी;
उसकी आँखों में रहती है
प्रश्न-चिन्ह की चिनगारी;

चिन्तन में ललकार भरी है
रसना में है 'नहीं ! नहीं !'
प्रबल पुराण-पुरातनता कर
सकती विचलित उसे कहीं ?

१६५

विद्रोही है ज्ञान-वह्नि का–
पुंज, प्रचण्ड, अमन्द, ज्वलन्त,
धर्म, विचार, सुसंस्कृति, गति का
प्रखर प्रकाश अजस्र, अनन्त,
नव-विचार-उत्पादक जो भी
है, बस, वह विद्रोही है,
नवल-भाव-उन्नायक जो भी
है, वह ही विद्रोही है,
तुम भी विद्रोही हो, प्रिय, तुम–
परिपाटी के शत्रु बड़े,
सार-शून्य रूढ़ियाँ तुम्हें किमि
रख सकती हैं यों जकड़े ?

१६६

अन्ध, अविश्लेषित, अविचारित
स्वीकृति ही आडम्बर है,
गुणातीत की अस्वीकृति का
चिन्ह धरा है, अम्बर है;
निर्गुण लीलामय की यह सब
लीला अस्वीकृति-मय है,,
स्वीकृति में यह विश्व कहाँ है ?
स्वीकृति में लय ही लय है;
तुम हो सगुण रूप मेरे, प्रिय,
निज अस्वीकृति प्रकट करो,
आज गुरोराज्ञालंघित कर
पौर-जानपद-कष्ट हरो ।

१६७

"पर-पर-···, मैं क्या कहती हूँ?
औ' यह किस से कहती हूँ?
मुझे सँभालो, प्रिय, प्रवाह के
प्लावन में मैं बहती हूँ,
खूब जानती हूँ: मेरा यह
कथन व्यर्थ है, है निःस्सार,
मैं हूँ एक ओर, है दूजी
ओर कृत्स्न जग का अविचार,
मुँह बाये चौदह वर्षों की
अवधि खड़ी है सम्मुख आज,
हा! कैकेयी सास, बनी क्यों—
तुम जग भर की दुर्मुख आज?

१६८

ओ प्रिय, तनिक झाँक देखो तो,
हुआ हृदय सूना-सूना,
मुझे समस्त विश्व लगता है
प्रिय, अतिशय ऊना-ऊना;
चौदह बरस, एक सौ अड़सठ,
अरे महीने हैं इतने!
पाँच सहस्त्र एक सौ दस-दिन!
क्षण मुहूर्त्त ये हैं कितने?
सचमुच समय अनन्त-वन्त है—
इस क्षण इसका भान हुआ,
लम्बी होती है दुख-छाया
इस क्षण इसका मान हुआ।

१६९

सार तत्व मेरे जीवन का
अब वन-वन में भटकेगा,
वह वन-पशुओं से उलझेगा,
वह शूलों में अटकेगा,
यहाँ ऊर्म्मिला राज करेगी
प्रासादों में, उपवन में,
हृदय, अरे ओ निष्ठुर, निर्मम
फटता क्यों न एक क्षण में ?
आँखो, ओ बेपीर ऊर्म्मिला–
की निःसार नृत्य शीला–
पथराईं तुम नहीं अभी तक ?
देख .रही हो यह लीला ?

१७०

मेघ घिरेंगे, शीत आयगी,
ऋतुएँ आएँ - जाएँगी,
सरयू की इठलाती लहरें
बलखाती लहराएँगी,
कोयल कूकेगी, कुहकेगा
तृषित पपीहा उपवन में,
यहाँ ऊर्म्मिला होगी, होंगे–
सीता-राम-लखन वन में !
हाय, हुई निरुपाय ऊर्म्मिला,
कोई तनिक सहारा दो,
मुझ अनाथिनी को उसका वह
अपना बाँका प्यारा दो ।

१७१

शून्य हृदय, मन शून्य, शून्य चित,
शून्य कल्पना का अम्बर,
नियम-नियन्त्रण-शून्य नियति है,
सुप्त जगद्धर विश्वम्भर;
यहाँ घृणित अन्याय हो रहा,
सुनने वाला नहीं यहाँ !
राज करेंगे भरत? लखन वन–
वन विचरेंगे यहाँ, वहाँ ?
घोर अनन्त निराशा का यह
चँदुआ याँ ताना किसने?
अरे, आज जीवन का पूरा
यह ताना-बाना किसने ?

१७२

तार-तार सब अलग हो गए,
टूटा तारतम्य - व्यापार,
असहनीय हो गया दैव को,
लखन-ऊर्म्मिला का यह प्यार,
बिधना आज चुनौती तुझको,
कर ले तू कस-कस कर वार,
देख, रहे अवशेष न तेरा–
कोई निष्ठुर अत्याचार;
हाँ, हाँ सब कुछ सहना होगा,
सह लूँगी, हाँ, सह लूँगी,
तुम वन जाओ, किसी भाँति मैं
यहाँ अवध में रह लूँगी ।

१७३

प्रिय, बिन बोले उमड़ आय यदि–
यह हिय, तो मेरा बस क्या ?
मैं क्या करूँ कभी रह-रह यदि
छलके घट करुणा रस का ?
ओ निर्म्मोही, निठुर धनुर्धर,
तुम मूँदो अपने नैना;
कान मूँद लो, सुने-अनसुने
कर दो तुम मेरे बैना;
तड़पन तो होगी, होने दो,
रोऊँगी, रो लेने दो;
अपने युगल चरण तुम मुझको
आँसू से धो लेने दो।

१७४

ओ प्रिय, दिवस काटने का तुम
कुछ तो जतन बता जाना,
जिस से पुनः अवध आने पर–
पड़े न तुमको पछताना,
अवधि-अन्त में छटा लख सकूँ
मैं इन सरसिज-चरणों की–
देते जाना मुझे सुमरिनी
अपने कुछ संस्मरणों की;
कर दो मुझ को लक्ष्मण-मय, निज–
आत्मरूप मुझको कर दो,
रिक्त हुआ जाता हिय, इस में
तुम लक्ष्मण-लक्ष्मण भर दो।

१७५

क्यों न मुझे तुम वन बीहड़ में
संग-संग लेकर चलते ?
क्यों छोड़े जाते हो मुझको
अवधि-वह्नि में याँ जलते ?
संग चलूँगी, वन विचरूँगी,
तुम पर न्यौछावर हूँगी,
मिला कण्ठ में कण्ठ, गान से
मैं अटवी को भर दूँगी,
किन्तु जल्पना है मेरी यह
आया इसका ध्यान मुझे,
मैं क्या-क्या कहने लगती हूँ
इसका रहा न ज्ञान मुझे ।

१७६

मँडराने लग गया धुआँ यह
मेरे मानस-मंडल में,
यथा सृष्टि के पूर्व धूम्र था
पूरे ब्रह्म-कमण्डल में,
सब विचार धूमिल से हैं, बस—
एक वेदना स्पष्ट हुई,
धूम्र-आवरण के अन्तर से
अग्नि-शिखा आकृष्ट हुई;
ना जानूँ क्या हुआ कि मन में
मूक-चूक ही शेष रही
सब बातें तो लुप्त हो चुकीं,
एक हूक अवशेष रही ।

१७७

जब तुम वन में होगे, तब यदि
ऋतुओं का ऊधम होगा,–
तो मेरा क्या होगा? वह दुःख,
बोलो, कैसे कम होगा ?

सन-सन करती जब आवेगी
पवन मदोन्मत्ता बहती,
जब मम आँगन में डोलेगी–
सुरत अतीत कथा कहती,–

तब मेरे इस निष्ठुर हिय का
होगा कैसा हाल, कहो ?
कैसे समझाऊँगी इसको–
मैं, हे दशरथलाल, कहो ?

१७८

उषा, प्रात, मध्यान्ह, साँझ, सब–
नित प्रति आएँ-जाएँगे,
नैश-गगन में नखत हँसेंगे,
निशानाथ मुसकाएँगे,

काली रात , सतत ज्योत्स्ना-मय,
निशि का याँ उद्भव होगा,
कभी स्फटिक दिन, कभी साभ्र दिन
का सुरम्य ताण्डव होगा,

रमण, तुम्हारी अनुपस्थिति में
कैसे इसे सहूँगी मैं ?
कौन यहाँ होगा जिस से निज
हिय की कथा कहूँगी मैं ?

१७९

क्या बीतेगी करुणा भरिता
श्वश्रू माता के मन पे ?
क्या बीतेगी उन के करुणा–
जर्ज्जर तापस-जीवन पे ?

बिना राम के कोशल-जनपद
का क्या होगा, पता नहीं;
बिना राम के नृपति न दे दें
आपने आकुल प्राण कहीं;

यह सब अनाचार, सन्निष्ठा
के धोखे हो रहा यहाँ,
इसको ही तुम कहते हो निज
जीवन का संदेश महा ?

१८०

मैं कुछ भी समझी न, हो न हो,
मैं हूँ कुण्ठित बुद्धिमयी,
किंवा मेरी बुद्धि हुई हो
शोक - विकार - अशुद्ध - मयी,

पर इसका क्या करूँ ? हृदय में-
लप-लप करतीं ज्वालाएँ–
रोम-रोम झुलसाए देतीं
हैं ये अति विकरालाएँ,

धैर्य्य? अहो प्रिय, नारी का यह
जीवन है धृति-मति-प्रतिमा,
पर इस का क्या हो ? मैं तो हूँ–
आज बनी अति-गति-प्रतिमा ।"

१८१

यों कह हुई ऊर्म्मिला नीरव
प्रिय के कन्धे पे झुक के,
मानों आत्म-निवेदन लेने
लगा बलाएँ रुक-रुक के;
सलज, डबडबाती अँखियाँ भर-
आईं, आँसू छलक पड़े,
मानों कमल-दलों से आतुर
वे सीकर कण ढलक पड़े;
आश्वासन से भरे लखन के
बचन, मौन से उलझ पड़े;
फिर सहसा अभिव्यक्ति-प्रेरणा
के प्रसाद से सुलझ कढ़े।

१८२

"प्रिये, जनक नन्दिनी ऊर्म्मिले,
तुम हो नित अविकारमयी,
तुम हो संग-दोष-रहिता, तुम-
पुण्य पवित्र विचार मयी,
यह सुन्दर ऐकान्तिक-आंशिक
धर्म्म - समन्वय - विश्लेषण,
कर्म - अकर्म - विकर्म - वाद का,
प्रिये, तुम्हारा सुविवेचन,-
नित्य सत्यता मयी तुम्हारी
शुद्ध भारती कल्याणी,-
यह सब, मुझे, सर्व अंशों में-
स्वीकृत है, मेरी रानी।

१८३

वह तव नित-विद्रोह-प्रेरणा
है अतिशय कल्याण-मयी;
परिपाटी - उच्छेद - भावना
है जग-जन की त्राणमयी;
तत्सम्बन्धी सभी तुम्हारी
उग्र उक्तियाँ हैं अमला,
दोष रहित, सद्भावोत्प्राणित,
सभी युक्तियाँ हैं सबला;
किन्तु एक है बात और भी—
उस पर तनिक विचार करो,
नैंक सोच लो, माँ कैकेयी—
से यों तुम मत रार करो।

१८४

कैकेयी माँ दूर देश की हैं,
वे हैं अनुभव शीला;
युद्ध-सन्धि में प्रकट कर चुकीं—
हैं वे निज निपुणा लीला;
उत्तर-पश्चिम से प्राची तक—
विस्तृत है उनका अनुभव,
इसीलिए उनके हिय में है
आया एक भाव अभिनव,
हैं गौरव-कांक्षिणी बड़ी माँ—
कैकेयी, यह है प्रत्यक्ष,
पर, इस बार, हुआ है उनके
गौरव का कुछ ऊँचा लक्ष्य।

१८५

आर्य्यों के उत्तरपथ-आगत
वैभव से वे परिचित हैं,
किन्तु आर्य-विस्तार विन्ध्य की
ओर बहुत ही परिमित है;
रह-रह कर कैकेयी को यह
दक्षिण पथ ललचाता है
बहुत दिनों से विन्ध्य-विजय का
सपना उन्हें सताता है,
इसीलिए, रानी, उन ने यह
ऐसी युक्ति मिलाई है,
निज सपना सच्चा करने की
घटिका वे ले आई हैं।

१८६

आर्य राम त्रैलोक्य जयी हैं,
यह कैकेयी जानें हैं,
लक्ष्मण की कर्मठ निष्ठा को,
सुन्दरि, वे पहिचानें हैं,
केवल राम सपथ कर सकते
हैं इस अपथ विपिन-मग को,
बस हम ही कर सकते हैं यह
गौरवदान आर्य-जग को;
कैकेयी ने सोच समझ कर
रचा खेल यह सारा जब,—
सिवा खेलने के है बाकी
रहा कौन सा चारा अब ?

१८७

यह वरदान और आज्ञा तो,
प्रिये, औपचारिकता है,
राज भरत को, विपिन राम को,
यह सब सांसारिकता है,

विपिन-गमन से ज्ञान-धर्म की
विस्तृत स्फूर्त्ति नई होगी,
अतः मात की विजयोत्कण्ठा
की संपूर्त्ति नहीं होगी;

विपिन-गमन सांस्कृतिक विजय स
केवल उत्प्राणित होगा,
वह मन-रंजन, जन-दुख-भंजन
सब जग-सम्मानित होगा ।

१८८

तुम मत समझो इस को केवल
कौटुम्बिक विवाद, रानी,
तनिक पुराणमयी आँखों से
इसको देखो, कल्याणी,

आज नवल इतिहास-पृष्ठ का
अभिनव श्रीगणेश होगा,–
उस पुराण का, जिसका नायक
सीता-पति रमेश होगा;

धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक,
तत्त्व विचार सिखाने को,–
आर्य राम अवतीर्ण हुए हैं
जग को पन्थ दिखाने को ।

राम की महानता

नवीन उद्भावना

१८९

तुम कह सकती हो कि अवध से—
ही न ज्ञान क्यों फैलावें ?
कह सकती हो कि यदि बात यह—
है, तो हम क्यों वन जावें ?

किन्तु, देवि, संदेश-प्रचारण
साधारण-सा काम नहीं,
शक्ति कहाँ ? जब तक कि साधना
जन में आठों याम नहीं ?

राज-भोग-मय जीवन में वह
ओज कहाँ, आदर्श कहाँ ?
चिन्तन-स्थिरता कहाँ ? कहो वह
विमल विचार-विमर्श कहाँ ?

१९०

आज हमारे कन्धों पर है
कितना महत् कार्य, रानी,
क्या अन्यथा सहज वन जाते,
अग्रज राम आर्य्य, रानी ?

इस स्वधर्म-सम्पूर्त्ति-अर्थ तो
कुछ संयम करना होगा,
अध्यवसाय, अध्ययन, जप, तप
मन-शम, दम करना होगा;,

यह है एक साधना, साधक—
सिद्ध आज दोनों तैयार
यह अज्ञान हटेगा, अब श्री
राम उतारेंगे भूभार।

१९१

कर उठता है अवश हृदय यह
हाहाकार विलाप, प्रिये,
चौदह बरस, अवधि लम्बी है,
दुख का तौल न नाप प्रिये,

पर, तुम आर्य-नन्दिनी, विमले,
आर्य - वधू तप - विमण्डिता,
करुणामयी सुमित्रा माँ की
स्नेह-मूर्त्ति तुम अखण्डिता,

मुसका कर कह दो कि अजी, हाँ,
निर्म्मोही, जाओ, जाओ,–
ज्ञान-विराग मुझे न सिखाओ,
जाओ वन, जन-मन भाओ।

१९२

तुम ने मेरी माँ को देखा
केवल सुख की घड़ियों में,
अब देखना महत्ता उनकी
तुम इन दुख की घड़ियों में,

कैसे वे तुम पर नित प्रति बलि–
बलि जाएँगी, छिन-छिन में,
तनिक देखना कैसे तुमको
जोहेंगी निशि में, दिन में;

कैसे तुम्हें सान्त्वना दूँ मैं ?
क्या कह के समझाऊँ मैं ?
तुम सब कुछ जानो हो, तुम को
कैसे धैर्य्य बँधाऊँ मैं ?

१९३

इतना तो तुम खूब समझ लो
कि तुम लखन की रानी हो,
हृदय-आश्रम की तुम तरला रति,
मेरे मन की रानी हो,
जंगल में तव नाम-स्मरण से
संतत मम मंगल होगा,
मेरे लिए अन्यथा वह तो–
जंगल ही जंगल होगा;
तुम कहती हो कि तुम चलोगी
मेरे संग संग बन में,
किन्तु, देवि, मैं राम नहीं, बस
और कहूँ क्या इस क्षण में?"
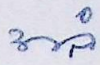
१९४

"मेरे प्राण, मोह माया के
तुम मेरे संहारक हो,
तुम हो श्री गुरुदेव, ऊर्म्मिला–
के, तुम शुद्ध विचारक हो,"
यों लक्ष्मण के चरणों में झुक
विमल ऊर्म्मिला बोल उठी,
मानों मूक मौन रसना, वर–
पाकर सहसा डोल उठी,
"यह उपदेश स्नेह मय दे कर
तुम ने मुझ को धन्य किया,
तुम ने मेरी चलित बुद्धि को,
अब एकस्थ अनन्य किया ।

१९५

धन्य धन्य तुम, धन्य राम हैं,
धन्या हैं जीजी मेरी,
धन्य नृपति, वन-वास धन्य है,
धन्य सास तीजी मेरी,

धन्य अरण्य, धन्य कोशलपुर,
जिस में खेले राम-लखन,
धन्य यह घड़ी जब वन जाते
सीता - लक्ष्मण - राम - चरण,

धन्य सँदेस, धन्य यह जीवन
धन्य स्वधर्म, स्व-कर्म नया,
धन्य वह घड़ी शुभ भविष्य की
जब फैलेगा धर्म नया।

१९६

करो अर्चना नव प्रभात की,
हिरण्मयी उस प्रतिमा की,
वन में अलख जगाओ, देखो—
अपलक, ललक झलक-झाँकी,

पटपरिवर्त्तक, काल-प्रवर्त्तक,
नर्त्तक, ज्ञान-प्रगति-दाता,
तुम संस्कारक, उपचारक तुम,
धर्म - कर्म - सद्गतिदाता;

दीप सँजोए, तुम वन जाओ,
तिमिर हरो, अज्ञान हरो,
यह भूभार उतारो, जन-गण—
मन को तुम सज्ञान करो।

१९७

कौन आर्य रानी न कहेगी
कि हाँ सुखेन कहो, स्वाहा !
राज, भोग, सुख, सब अर्पित हों
लक्ष्य-प्राप्ति के हित, आ हा !

इस स्वाहा ! स्वाहा ! में कितना
गौरव है, कितना बल है ?
आत्मदान की चरम वेदना-
में भी प्रिय, कितनी कल है !

मानवता की पाद-पीठ पर
तुम को न्यौछावर कर के,
रो लेगी ऊर्म्मिला तुम्हारी,
चुपके-चुपके, जी भर के ।

१९८

यहाँ वेदना देते, जग को-
निर्मल ज्ञान-दान देते,
तुम जाओ, चलती बेला, हँस-
मुझको प्राण-दान देते,

प्रिय, हिय निश्चय धड़क उठे हैं,
सोच-सोच यह अवधि बड़ी;
मुरझाने लगती है आशा
सूने मग में खड़ी-खड़ी;

पर, इस से क्या ? बड़ा पुरातन
यह जीवन-युद्धस्थल है;
जाओ, मेरे प्राण, ऊर्म्मिला-
सदा तुम्हारी अविचल है ।"

१९९

"साधु, साधु, यह भला किया जो–
तुम ने यह अनुमति दे दी,
मुझ को नई स्फूर्त्ति दे दी औ'
संनिष्ठा की रति दे दी।"
यों आजानु भुजाओं में भर,
लखन-प्रिया, लक्ष्मण बोले–
"रानी, तुम ने आज हृदय के
मेरे सब बन्धन खोले,"
चुम्बन करते, हिय लिपटाते,
यों कह लक्ष्मण मूक हुए,
अथवा लखन-ऊर्म्मिला-हिय के
सहसा अगणित टूक हुए।

२००

एक क्षण होता है जीवन में, 'नवीन' ऐसा
जब सब व्यक्त भाव रुक-रुक जाते हैं,
भाव-अभिव्यक्ति शक्ति-हीन अबला-सी थक
गिर पड़ती है, नेत्र झुक-झुक आते हैं,
हृदय के वेदनानल की कुछ लपटों में
मानव भाषा के शब्द फुंक-फुंक जाते हैं,
मौन-विष के बुझे हुए वे मूक-हूक-तीर
बरबस हिय बीच भुंक-भुंक जाते हैं;
लड़ते-झगड़ते-अटकते अस्फुट शब्द
हिचकी के मिस टुक जाते टुक आते हैं,
हिचकियों-आहों के व्याज से शतियों के सब
शब्द-ऋण छिन ही में चुक-चुक जाते हैं।

२०१

एक क्षण आता है जीवन में 'नवीन' ऐसा,
जब क्षुब्ध मौन पारावार लहराता है,
उमड़ आती है ऐसी बेबसी की लहरी कि
शब्द-दैन्य-भाव हिय बीच हहराता है;
व्यथित हृदय-तल मथित, थकित होता,
केवल निश्वास-मय घोष घहराता है,
कर्षण, घर्षण, अश्रु-वर्षण के ताण्डव में
मौन वेदना का उत्तरीय फहराता है;
उस क्षण हृदय सिन्धु की उन लहरों में,
सब शब्द कौशल बह अवश जाता है,
ढह जाता कृत्रिम भाषा का व्याकरण-भौन,
केवल तन्मय मौन, गौण रह जाता है।

२०२

कब कैसे आता है जीवन में 'नवीन' क्षण,
जब घन रण ठन जाता है अपने आप?
मौन-भाव, अभिव्यक्ति-भाव गुँथ-गुँथ जाते,
गोपनीयता के रण आँगन में चुप-चाप;
बिन बोले-चाले, नयनों के झरोखों से झाँक–
झाँक झट तकने लगता है हृदय-ताप;
कभी आँसू बन, कभी रिक्त चितवन बन,
हिय की व्यथा छलकती है अतुल अमाप;
कौन वेदना-दानी रसज्ञ है जिसने दिया,
शब्द-पटु रसना को दान यह मौनालाप?
यह मौन-भाव लीलामय का वरदान है?
या कि यह केवल है एक मूक अभिशाप?

२०३

सब बाह्य जग, सब अन्तर जगत, सब–
काल, सब देश मौन-मय बन जाते हैं,
काल-अशेषता, आकाश-अनन्तता मिल के,
एक होतीं, मौन के वितान तन जाते हैं;
अहो-रात्रि धीरे-धीरे, गुप-चुप नाचते से,
दीखने लगते हैं जब साजन जाते हैं;
एक-एक निमिष निस्तब्ध, शब्द दीन हुए,
अनन्त अयुत युग बन-बन जाते हैं;
रसना, निस्तब्ध होती, कण्ठ ध्वनि-हीन होता,
मौन देव हिय में मगन मन आते हैं,
पीतम की कण्ठ ध्वनि के कम्पन-संस्मरण–
कण, स्मृति-आकाश में छन-छन आते हैं।

२०४

कुछ ऐसी दाहकता होती है विरह की, कि–
हिय में सहसा अनोखे दाग दगते हैं,
बोल चाल की रुझान मिटती अपने आप,
भाषण प्रवृत्ति-पुंज अवश भगते हैं;
हृदय-कुरंगम तड़पता है चुपचाप
जब कि व्यथा के तीखे बाण आ लगते हैं;
अंग-अंग सिहर-सिहर कँप उठते हैं,
रोम-रोम अनबोली बिथा में पगते हैं;
कथा भरे मौन नैन सैन, अनबोले बैन,
शब्द-रस-माधुरी को सहसा ठगते हैं
लगती ठगौरी बौरी भोरी-भोरी भावना को,
अलसित नयन मौन-भाव जगते हैं।

२०५

"मेरी विमल ऊर्म्मिला को तुम
खूब प्यार कर लो, देवर,
कहाँ मिलेंगे चौदह वर्षों
तक फिर ये मधु-मधुर अधर?
पियो ऊर्म्मिला रानी का रस–
स्नेह आज अंजलि भर-भर,
ओ निष्ठुर, ओ विकट धनुर्धर,
अहो हठी, मेरे देवर।"
करुणामयी जनकजा सीता
जब आकर यों बोल उठीं,
तब उस मौन-उदधि में मानों
शब्द-मयी कल्लोल उठी।

२०६

लक्ष्मण-भुज-वेष्टिता ऊर्म्मिला
सकुच गई, लक्ष्मण झिझके,
व्रीड़ा रंजित वे कपोल हो–
गए ऊर्म्मिला के निज के,
"बलि जाऊँ, दोनों ऐसे ही
बने रहो तुम कुछ क्षण को,
देवर, यों ही गोदी में तुम
लिए रहो अपने धन को;
यह मेरा मातृत्व अस्फुटित
तनिक धन्य हो जाने दो,
मेरी वत्सलता को, देवर,
तुम अनन्य हो जाने दो।

२०७

सती सुमित्रा माँ के जीवन
के दुख-सुख की गहराई,
नयनों से नापने निमिष में
सीता आज यहाँ आई,
आज बलाएँ ले लेने दो
तुम दोनों की इसी तरह,
सकुचो मत, शीतल होने दो
नयन, ऊर्म्मिले, किसी तरह,
त्वम् अखण्ड सौभाग्यवती भव,
देवि, ऊर्म्मिले, कल्याणी,
अवधि-अन्त में पूर्ण सुखी तुम
होगी, ओ बहिना रानी ।

२०८

अच्युत सती राम-जाया की
तुम यह आशिष गृहण करो,
इस वियोग को, विमल ऊर्म्मिले,
धीर भाव से सहन करो;
समझाए भी नहीं मानते,
बड़े हठी हैं लाल लखन,
बरबस, बहन, कर रहे हैं ये,
आर्य-पुत्र का भार-वहन ;
कौन आज है सकल त्रिलोकी
में, जो पद-नख पे इनके—
न्यौछावर सत्वर न करेगा
श्री, वैभव, सब गिन-गिन के?"

२०९

यों कहते-कहते भर आईं
श्री सीता की आँखड़ियाँ,
मानों सीकर-कण अभिषिक्ता
हुईं कमल की पाँखड़ियाँ,
सजल कमल-दल से जल ढल-ढल
अमल कपोलों पर आया,
ज्यों करुणा-कर्षण, हिय-तल से,
व्याकुल जल भर-भर लाया;
श्री सीता ने अपनी सजला
आँखें पोछीं अंचल से,
ज्यों धैर्य ने शान्त होने को
कहा भावना चंचल से।

२१०

लक्ष्मण ने सीता-चरणों में
उठकर किया नम्र वन्दन,
ज्यों सदेह विश्वास कर रहा
शुद्ध भक्ति का अभिनन्दन;
सीता ने लक्ष्मण को कम्पन–
युत शुभ आशीर्वाद दिया,
ज्यों याचक को करुण कृपा ने
कम्पनशील प्रसाद दिया;
फिर सीता से मिली ऊर्म्मिला–
अमित शोक-तप्ता अरुणा,
ज्यों अखण्ड शक्ति में सन्निहित
हो जाती गभीर करुणा।

२११

लक्ष्मण, सीता और ऊर्म्मिला
दोनों के सँग यों निखरे,—
ज्यों मध्याह्न, उषा सन्ध्या को
लेकर, संग-संग बिचरे;
सीता और ऊर्म्मिला दोनों
भुज भर ऐसे चिपट गईं,—
जैसे आशा और निराशा
रीझ परस्पर लिपट गईं;
फिर धीरे से विमल ऊर्म्मिला
बोली छाती किए कड़ी,
"जीजी हृदय मसोस रहा है,
ना जानूँ क्यों, घड़ी-घड़ी।"

२१२

"मैं जानूँ हूँ, बहिन ऊर्म्मिले,
क्यों अकुलाता विकल जिया,
मैं जानूँ हूँ कि क्यों तड़पने-
लग जाता है, हाय, हिया;
बहिन, तुम्हारे हृदय-सिन्धु के
बड़वानल की ज्वालाएँ—
मैं जानूँ हूँ कितनी शोषक
हैं वे अति विकरालाएँ;
बस चलता तो मैं न कभी यह
बुरी घड़ी आने देती,
बस चलता तो लखन लाल को
मैं न कभी जाने देती।

२१३

नहीं शक्ति श्री राम स्वयं की
जो कि रोक रक्खें इनको,
कौन कर सके है अंजलिगत
इस दिन-मणि को, इस दिन को ?

मानों लूट चली मैं तुम को,
अनुभव करती हूँ ऐसा,
यही सोचती हूँ कि हाय, यह–
मेरा है अनर्थ कैसा ?

पर, क्या करूँ नहीं समझेंगे
ये लक्ष्मण समझाए से,
अपनों से ही जोर चले है,–
ये बन रहे पराए–से ।

२१४

जगती भी क्या याद करेगी
यह सनेह - सेवा - निष्ठा,
भ्रातृ-प्रेम की आज हो रही–
है, ऊर्म्मिले, नव प्रतिष्ठा;

यह वियोग-क्लिष्टा, हिय-रति से
श्लिष्टा, निष्ठामयी घड़ी,–
करने आई आज मधुकरी,
यह रघु-कुल के द्वार खड़ी;

भिक्षा दी दशरथ - कौशल्या–
श्री ऊर्म्मिला - सुमित्रा ने,
अपनी झोली भर-भर ली है
इस याचिका विचित्रा ने ।

२१५

श्री दशरथ ने रामचन्द्र सम
पुरुषोत्तम सुत भेंट किया,
माँ कौशल्या ने सीता दे,
निज जीवन-सुख भेंट किया;
पूज्य सुमित्रा, बहन ऊर्म्मिला–
ने जो कुछ दी है भिक्षा,–
वह तो स्वयं, निवेदन को ही
है मानों अर्पण–शिक्षा;
बलि-वेदी-पथ की पगडण्डी
सकरी, ऊँची, नीची,
पर, तुम ने तो आत्म-निवेदन
की परिसीमा खींची है ।

२१६

आत्मार्पण-भावना विमल की
तुम हो स्फूर्ति-मयी महिमा,
विगलित करुणा, व्यथा, वेदना
की तुम मूर्त्तिमती प्रतिमा;
यह महान् बलिदान तुम्हारा,
यह स्वाहा, यह न्यौछावर,
कहाँ मिलेगा ? यहाँ भरा है–
तुम ने गागर में सागर;
सच कहती हूँ बहन, नहीं है
लेश औपचारिकता का;
इस बलिदान-संस्मरण में है
काम न सांसारिकता का ।

२१७

मँझली माँ न हृदय दे दिया,
तुम ने दे डाला जीवन,
वह जीवन-धन, न्यौछावर तुम
जिस पर होती हो क्षण-क्षण;
मैं लज्जा से गड़ जाती हूँ,
देख तुम्हारा यह बलिदान,
कितना आत्म-निमज्जन गहरा!
क्या ऊँचा बलिदान-विधान!
तुम जलती ही यहाँ रहोगी
सुलगाए संस्मरण-अनल,
किस मुँह से कुछ कहूँ तुम्हें मैं,
ओ मेरी ऊर्म्मिला विमल?

२१८

मैं जाऊँगी अपने पिय के-
सँग, इस में कुछ तो कल है,
पर तुम? हाय, लखन के आगे-
चल सकता किस का बल है?
तुम सँग होतीं तो कट जाते
लम्बे चौदह जीवन भी,
जंगल मंगल मय हो जाता,
खलता नहीं एक क्षण भी;
पर, लक्ष्मण हैं बड़े हठीले,
चलता उन से किसका बस?
लाख स्ववश हों हम नारी, पर-
फिर भी हैं पुरुषों के वश।"

२१९

"अन्तर है श्रीराम चन्द्र में,
जीजी, और सुलक्ष्मण में,—
वही भेद जो कि है सिद्ध—गुण,
और साधना-लक्षण में;

वह अन्तर जो उन दोनों में
है, वह है तुम में मुझ में,
आर्य राम हैं सिद्ध; भावना
है मुमुक्षु रामानुज में;

इसीलिए वे सकुचाते हैं
मुझे साथ ले चलने में;
जीजी, है कल्याण इसी में—
यहाँ अवध में जलने में।

२२०

मैं ने कहा, मुझे सँग ले लो
मेरा याँ कुछ काम नहीं;
तो बोले कि ऊर्म्मिले, मैं हूँ
लक्ष्मण, मैं श्रीराम नहीं;

मैं न कहीं हो जाऊँ बाधा
उनकी परम साधना की,
मैं प्रतिबन्धक कहीं न होऊँ
उनकी शिवाराधना की;

ठीक कहा है उन ने, जीजी,
तुम में मुझ में क्या समता ?
तुम हो त्रिगुणातीत भगवती,
मैं हूँ दुर्बलता, ममता।

२२१

अच्छा है, जीजी, तुम जाओ,
हिय में गड्ढा करती-सी;
जाओ, अपने चिर-वियोग की
चिनगारी याँ धरती - सी,

जाओ, आज याद आते हैं
जीवन के सब मधुमय क्षण,
जाओ, वे देखो, आते हैं—
बालापन के सुसंस्मरण,

ओ जीजी, देखो, वह माँ, वे—
तात-चरण, वे गुर्वाणी,
वे क्रीड़ाएँ, वे लीलाएँ,
वह तुतली-तुतली वाणी ।

२२२

वह किलकारी भरी कण्ठ-स्वर—
लहरी, वह सुरम्य उपवन,
वह रोना, वह मचल रूठना,
वह हँसना, वह पुष्प-चयन,

वह माँ का दुलार, वत्सलता—
वह, वे उनके मृदु चुम्बन,
वह झुँझलाहट, जब होता था
दोनों का वेणी-गुम्फन,

माँ से यह झगड़ा कि ऊर्म्मिला
को चुम्मी दी, न दी हमें—
उस को ही दुलार करती हो,
अब समझी मैं खूब तुम्हें ।

२२३

फिर कल्याणमयी जननी की
वह मुसक्यान मनोहर-सी,
दोनों को गोद में उठाना,
वह कम्पन-गति थर-थर सी,
वह सनेह की धार मौनमय,
माँ का वह अनबोलापन,
वे क्षण, हम दोनों का बाला—
पन का वह मृदु भोलापन,
यह निपटारा कि यह अमुक स्तन
जीजी का, यह है मेरा,
माँ का कहना, दोनों जीजी—
के हैं, बता कहाँ तेरा ?

२२४

फिर दोनों का हँस कर माता—
की गोदी में छिप जाना,
फिर श्री पितृदेव के कन्धों—
पर चढ़ना, फिर इतराना,
फिर उन से कुछ बात पूँछना,
फिर उनका कुछ समझाना,
साम छन्द का, उनके कहने—
से, फिर कुछ गायन गाना;
फिर उनकी वह तन्मयता, वह—
डुबकी, वह गति थिर, अचला,
फिर उन महामहिम योगेश्वर
की स्वप्निल आँखें सजला।

२२५

जीजी, जीजी, तात चरण की
वह सागर गम्भीर गिरा,
फिर यज्ञायोजन, धनुभंजन–
फिर, फिर वेदी अग्नि-शिरा,
फिर संवरण सभी बहनों का,
फिर वे सब सुख की बतियाँ,
श्वसुरालय में स्नेह मयी उन
सासों की पुलकित छतियाँ,
वे रतियाँ सुख की, जीजी, जब–
मैं–तू के बन्धन टूटे,
लुटे राम सीता से और
ऊर्म्मिला ने लक्ष्मण लूटे ।

२२६

ये संस्मरण धुएँ से आए
उठ स्मृति-नभ-थल भरने को,
क्या ये अलम् नहीं हैं हिय के
टुकड़े-टुकड़े करने को ?
इतना खेला, खाया, सुख से
प्रतिदिन संग-संग, सीते,
और आज तुम किए जा रही
ये सब राग-रंग रीते ?
जीजी, त्रिगुण-विजयिनी, वरदे,
मुझ को थोड़ा सम्बल दो,
थोड़ी सी कल दो, थोड़ी-सी
आशा, थोड़ा सा बल दो ।

२२७

अब तक कभी नहीं समझा था,
कि यह वियोग-व्यथा क्या है ?
अब तक यही समझ रक्खा था,
जीवन एक मधु कथा है;
सीता और ऊर्म्मिला बिछुड़ें,–
असम्भावना-सी यह थी,
लखन ऊर्म्मिला पृथक् - पृथक् हों,
यह शंका भी दु:सह थी;
कौन जानता था: भविष्य यह–
अमित हलाहल-मय होगा ?
किसे ज्ञात था: यह भावी का
समय अश्रु-जल मय होगा?

२२८

अभी अभी ये कहते थें यह
कि तुम सुनों मेरी वाणी–
मधु-पीयूष मिले हैं जीवन–
रस में संग-संग, रानी;
जीजी, यह सत्यता, नित्यता–
यह, हृदयंगम आज हुई,
जान गई कितनी जल्दी सुख–
घटिका होती छुई-मुई;
सुइयाँ-सुइयाँ सी चुभ गइयाँ,
मेरे ही-तल में, जीजी;
रम्य रमण-क्षण गए, वेदना–
व्यथा आज मुझ पर रीझी ।

२२९

जीजी, कभी-कभी घन वन में
स्मरण मुझे भी कर लेना,
कभी-कभी अपने देवर के
हिय में मम स्मृति भर देना;
आर्य राम के श्री चरणों में
करना नित मेरा वंदन,
तनिक सम्हाले रखना, हैं अति
उग्र सुमित्रा के नंदन;
मेरे सेंदुर की रक्षा तुम
घन-वन में करती रहना,
हे तुम अच्युत सती भवानी,
हे मेरी अच्छी बहना।"

२३०

"ओ ऊर्म्मिले सलौनी, मरी
अनुजा, ओ लक्ष्मण-जाया,
जनक देव सम सिद्ध तपोधन–
के हिय की तुम मृदु माया,
अम्मा की तुम बड़ी लाड़िली–
छोटी बेटी नेह भरी,
तुम लक्ष्मण-स्वामिनि, घन-दामिनि
तुम करुणा-रस-नेह भरी,
तेजमयी तुम, ओजमयी तुम,
परम तपस्या-भाव मयी,
रागमयी, वैराग्यमयी, तुम
समवेदना स्वभावमयी।

२३१

यह मुझसे मत कहो कि क्षण भर–
भी तुम मुझसे बिछड़ोगी,
हिय में तुम्हें लिए जाऊँगी,
कैसे मुझसे पिछड़ोगी ?

वन-खण्ड में, अरण्य गहन में,
सदा बसोगी मम मन में,
दुलराती डोलूँगी तुम को
मैं निज हिय में, वन-घन में;

सन्ध्या के झुटपुटे समय में,
हँस मुसकाती ऊषा में,
सदा बलाएँ लूँगी मैं तब
निज मन की मंजूषा में।

२३२

तुम्हें छिपाए निज डिबिया में,
मैं वन-वन में डोलूँगी,
मन की बात करूँगी तुम से,
मैं गुप-चुप रस घोलूँगी;

लक्ष्मण-अग्रज बड़े रँगीले
गहरा रंग छानते हैं,
आर्य-पुत्र, ऊर्म्मिले, तुम्हारे–
हिय की व्यथा जानते हैं;

प्राणों से भी प्रिय लक्ष्मण हैं
उनको, यह तुम जानो हो,
उन के मौन सनेह-सिन्धु की
गहराई पहचानो हो।

२३३

मुख से नहीं, नयन से बातें
करते हैं वे, री बहना,
खूब जानती हो तुम यह सब,
तुम से व्यर्थ अधिक कहना,
प्रातः आज लखन जब बोले
कि वे संग जाएँगे वन,
तब वे यों देखने लग गए
मानों उफन गया जीवन,
रहे मौन, बोले न रंच भी,
बस, आखें तैरती रहीं,
फिर ललाट की रेखाओं ने
हिय-विषाद-वेदना कही ।

२३४

खड़े रहे लक्ष्मण आज्ञा के—
लिए देर तक राम-समक्ष,
पर, व्रश्चिक - दंशन - पीड़ा से
भरा हुआ था उन का वक्ष;
फिर "अच्छा" यों कह कर, फिर से
वे विचार-तल्लीन हुए,
पर, लक्ष्मण के जाने पर वे
सहसा करुणा-दीन हुए;
मुख से निकला—"हाय ऊर्म्मिला!"
औ फिर हिय अवरुद्ध हुआ,
आँसू नहीं एक भी निकले,
मन तड़पा, हत-बुद्ध हुआ ।

२३५

विचलित होती देख मुझे, वे–
सम्हल गए, फिर इक छिन में,
बादल हटे, नेत्र चमके, रवि–
मानों दो चमकें दिन में,
तुम से, बहना, तुम से मैं क्या–
कहूँ बात अपने मन की ?
मेरे लिए बनी है क्या-क्या
यह मृदु मूरत लक्ष्मण की,
आर्य-पुत्र से नहीं पा सकी
हूँ प्रसाद माता-पन का,
पर मातृत्व उमड़ता मेरा
मुख देखूँ जब लक्ष्मण का ।

२३६

यह समझो कि लखन हैं मुझको,
अधिक कोख के जाए से,
प्रियतर हैं वे मुझको अपने
निज के गोद-खिलाए से;
ज्यों सिंहिनी जोहती रहती,
है अपना शावक चंचल,
त्यों लक्ष्मण पर फैला दूँगी,
मैं अपना दुकूल अंचल;
आर्य-पुत्र की छत्रच्छाया
में भय का कुछ लेश नहीं,
उन के साहचर्य में, रानी,
कुछ आशंका, क्लेश नहीं ।

२३७

वर्ष, मास, दिन, रात, प्रात औ,'
सन्ध्या, त्रुटि, घटिका, पल, क्षण,
इन सब को अतिलंघित कर, फिर
लौटेंगे श्री राम, लखन;
बहन, तुम्हारी सीता भी, श्री–
रामचन्द्र की छाया-सी,–
अवधि अन्त में अवध आयगी
'ब्रह्म-जीव बिच माया सी;'
वह देखो, भविष्य के कोने–
पर लौ-सी सुलगाए वह–
नन्हीं आशा विहँस रहीं है,
हलकी ज्योति जगाए वह।"

२३८

"तुम में शुद्ध दीर्घ दर्शन की,
जीजी, है सामर्थ्य बड़ी,
तुम भविष्य दृष्टा हो, मैं हूँ–
वर्तमान के बीच पड़ी,
नहीं दीख पड़ती है मुझ को
आशा की किरणें झिलमिल,
इसीलिए तो जला जा रहा–
है मेरा यह हिय तिल-तिल;
जब तुम कहती हो, भविष्य है
परम सुखद, चिर-मंगलमय,
तब कुछ-कुछ कम हो जाता है
इस मन का यह जंगल-भय;

२३९

मुझे नहीं दिखलाई पड़ती
भावी की स्वरूप-रेखा
मेरा तो अवलम्ब बनी है
तब श्रद्धा अनूप-लेखा,
तुम कहती हो, इसीलिए तो–
वह भावी मंगलमय है ?
यों तो, यह मेरा जीवन-थल
पंकिल है, अति जलमय है;
राम-वल्लभा के वचनों पर
मेरा है विश्वास, बहन,
इसी सहारे पार करूँगी
अवधि-उदधि गम्भीर गहन।"

२४०

"क्यों कातर हो रहीं, ऊर्म्मिले,
मुझे न अधिक अधीर करो,
अपना वह विश्वास दिखा दो,
मेरी दुविधा-पीर हरो,
हम आर्यों के लिए, ऊर्म्मिले,
काल सदा निःसीमित है,
वह अशेष है, अन्तहीन है,
वह तो सदा अपरिमित है;
वर्त्तमान है कर्म-साधना,
भावी ही जीवन-फल है,
वहीं मुक्ति-निवार्ण, वहीं है;
त्राण, वहीं स्थिति अविचल है।

२४१

यह जीवन अनन्त है, रानी,
अन्त-वन्त है यह वनवास;
प्रेम-योग अच्युत, अनन्त है,
क्षण भंगुर वियोग का त्रास;
सीता-राम, ऊर्म्मिला-लक्ष्मण
का सम्बन्ध अनन्त, अछेद्य,
पर वियोग का यह अन्तर है,
दुर्गम नहीं, नहीं दुर्भेद्य,
स्वयं उठेगा यह अवगुंठन,
होगा फिर संयोग-विहार,
क्यों छोटा करती हो मन को,
अरी ऊर्म्मिले, तुम इस बार ?

२४२

खूब ठीक तुम कहती हो है–
अवधि-उदधि गंभीर गहन,
पर, तव तपश्चरण नौका है,
श्रद्धा है पतवार, बहन !
लक्ष्मण भैया की संस्मृति है
केवट, आशा धीर पवन;
अवधि-अन्त है, इस नौका का
तटवर्त्ती विश्राम भवन;
नौका - चालन - प्रेरणमय है,
सीता के आशीर्वचन,
तुम अवश्य सकुशल पहुँचोगी
सागर के उस पार, बहन ।

२४३

वन-जल-थल में, अनिल-अनल में
तुम होगी सँग-सँग मेरे,
लक्ष्मण के स्मृति-नभ-मंडल को
सदा रहोगी तुम घेरे,
आर्य पुत्र के हृदय अतल में
वत्सलता की झाँईं - सी
चमक-चमक उछलोगी, रानी,
लक्ष्मण की परछाँई-सी,
यहाँ छोड़ कर तुम्हें, न समझो,
हम दम्पति सुख लूटेंगे,
सब विहार-सुख इस कोसलपुर
में ही पीछे छूटेंगे।"

२४४

"तुम अरागिणी बन, वैरागी–
आर्य राम के सँग जाओ,
इस विराग-अनुराग-रंग में
मुझको भी तुम रँग जाओ;
जीजी, अपने ही हाथों से,
इकटक ज्योति जगा जाओ,
वरदे, मेरे आकुल हिय में,
अपलक लगन लगा जाओ;
लगन लगाती, ज्योति जगाती,
हिय-मन्थन करती जाओ,
वन में नवयुग का उद्घाटन
अभिनन्दन करती, जाओ।

२४५

अवध अँधेरी करती, वन में-
उजियाला करती जाओ,
सीते, हल-सीता से पूरित
करती वन-धरती, जाओ,
भाषा, योग, ज्ञान, कृषि, यह सब
वन में छिटकाती जाओ,
वन-वासिनियों की हिय-कलियाँ
तुम नित चिटकाती जाओ,
विमल वैजयन्ती संस्कृति की
वन में फहराती जाओ,
राम-लखन सँग सरयू-लहरी-
सी तुम लहराती जाओ।

२४६

"अंजन-रंजित चंचल खंजन-
मद-भंजन इन नैनों में,-
राम निरंजन-रंजन, घन-मन-
रण-व्यंजन इन सैनों में,-
जीवन-वरण, मरण-अपहरणा,
वन-वन-दर्शन-चाह भरे,-
हर्षण, वर्षण, आकर्षण की
कम्पन आह अथाह भरे,-
धैर्य्य-निकन्दन-क्रन्दन कर,
गुरु-जन-वन्दन करती जाओ,
रामानुगामिनी वन हिय में,
तुम स्फुलिंग भरती जाओ।

२४७

थर-थर लहर-लहर अन्तर से
सर-निर्झर बह आने दो,
हहर-हहर झर-झर कर उसको
अपनी-सी कह जाने दो,
बह जाने दो तनिक धीरता,
तिनके-सी, मेरी जीजी,
वन जाओ, मम नेत्रांजलियों–
से तुम कुछ भीजी-भीजी;
रोको मत अपने को, मुझ को,
आओ हम दोनों रो लें,
आओ जाती बेला थोड़ा-सा
यह अश्रु-रंग घोलें।"

२४८

भर भर आई चारों आंखें,
झरझर बरबस बरस पड़ीं,
सरस हो गई बन जाने की
वह अति दाहक अरस घड़ी;
सीता के वक्ष पर ऊर्म्मिला
झुकी सनेह समाश्रित-सी,
और ऊर्म्मिला के शिर पर झुक–
सीता गई निराश्रित सी,
विमल ऊर्म्मिला की भुज-लतिका
सीता का गल-हार हुई,
सीता की भुज वल्लरियाँ कुछ
शिथिल हुईं, लाचार हुईं।

२४६

लखन देखते रहे दूर से
नयनों में विषाद भर के,
वे हो गए समाधि-मग्न-से
बीती बात याद करके,
इतने ही में दाशरथी श्री
आर्य राम, नित धीर मना,
वहाँ पधारे गजगति से वे
पुरुषोत्तम गंभीर मना,
छिटकाते अविचलित भावना,
धैर्य, तितिक्षा, क्षमता, बल,–
आग फूँकते, जीवन देते,
राम पधारे अचल, अटल।

२५०

जिन के पग-डग पर डगमग–
डगमग भूमण्डल होता था,
जिनकी स्मिति-रेखा पर जग सब
अपनी सुधबुध खोता था;
जिनके भ्रू-विलास में उद्भव,–
प्रलय नाचता रहता था,
जिनके अतल हृदय में करुणा–
मैत्री-निर्झर बहता था;
पूर्णकाम, निष्काम राम वे
वहाँ पधारे, नेह पगे,
उन की श्री मुख-आभा से भव–
भय भागे, सब क्लेश भगे।

२५१

राम,——श्याम तन, निरानन्द घन,
जन - गण - मन - रंजनकारी,
राम,——मगन-मन-गगन - विहारी
भव - भय - दुख - भंजनकारी;
राम,——खिलाड़ी, बारी बारी
दुख-सुख-खेल खिलाते वे,
राम,—रुलाते, राम,—हँसाते,
विष - पीयूष - पिलाते वे;
राम,——अमानी, अति अभिमानी,
निर्गुण—सगुण एक सँग वे,
राम,——सहारे, जग उजियारे,
राम,——अनेक-एक रँग वे ।

२५२

राम,——नहीं नर, एक चिरन्तन
मनन-पुंज हिन्दू-मन का,
राम,—एक उत्कर्ष - कल्पना,
इक आदर्श आर्य्य-जन का;
राम,——सत्य, शिव, सुन्दर भावों—
की कल्याणमयी झाँकी,
राम,——सच्चिदानंद - भाव की
छवि नयनाभिराम, बाँकी,
राम,—विचार-विमन्थन-रत हिय—
का नवनीत मधुरिमामय,
राम,—नित्यतामय, - मंगलमय
संतत सुन्दरता - संचय ।

२५३

राम,——उपद्रष्टा, अनुमन्ता,
भर्त्ता, भोक्ता, सर्वेश्वर,
राम,——विदेही, राम,—सदेही
राम,——सीयपति, परमेश्वर;

राम,——रमापति, त्रेतायुग की
संस्कृति की विभूति प्यारी,
राम,——त्याग, तप, जन रंजन की
मगन लगन न्यारी, न्यारी;

राम,——शब्द वह जो कि चराचर
में फैला है, गूँज रहा,
राम,——अखण्ड शक्ति वह, जिसकी
सत्ता फैली यहाँ-वहाँ ।

२५४

पुरुषोत्तम, सर्वोत्तम, तमहर,
रविकुल - कमल - दिवाकर वे,
राम पधारे, जन रखवारे,
अशरण-शरण, गुणाकर वे;

खड़ी हो गईं दोनों बहनें
हिय की दुर्बल त्रुटियाँ-सी
फिर ऊर्म्मिला राम चरणों में
ढुली गंग - जल - लुटिया - सी;

कोमल, दृढ़ कर-पत्र राम के—
छुए ऊर्म्मिला के शिर पे,
मानो सुस्थिरता छाई हो
विकल भावना अस्थिर पे ।

२५५

रसना हिली राम की, निकली—
आशीर्वादमयी वाणी:
"तपस्विनी भव, चिर सौभाग्यवती भव
त्वम् भव कल्याणी;"

सजल नयन तब उठीं ऊर्म्मिला
आँसू पोंछे सीता ने,
धीरज दिया राम ने,
करुणामयी राम-परिणीता ने;

सुधृति गृहीता हुई ऊर्म्मिला,
शान्त हुई, प्रकृतिस्थ हुई,
हृदय हुआ उपरमित, और सब
चित्त-वृत्ति विरतिस्थ हुई।

२५६

"देवि, ऊर्म्मिले, कर्त्ता कितना
है स्वतंत्र निज कृतियों में,—
है परतन्त्र, व्यक्ति कितना निज—
कर्मों की आवृतियों में,—

किस सीमा तक स्व-परिस्थिति से
कर्त्ता पुरुष नियन्त्रित है
किस सीमा तक वह नैसर्गिक
नियमों से अनुतन्त्रित है,—

किस सीमा तक कर्मी करता
कर्मों का दायित्व-वहन,—
हैं ये प्रश्न निगूढ़, ऊर्म्मिले!"
बोले यों श्री राम वचन।

२५७

"कौन जानता है कैसे यह
हुआ प्रवर्त्तित घटनाचक्र ?
कौन जानता विधि ने खींची--
भाग्य रेख सीधी या वक्र ?
आज दोष-गुण के वितरण का
अवसर नहीं, बहू रानी,
इस क्षण वस्तुस्थिति - स्वीकृति में
ही है मंगल, कल्याणी !
दुःख, वदना, व्यथा, दाह औ'
चिन्ता, क्षोभ, वियोग - अनल,
यह सब तुम ले लो, कल्याणी,
फैलाए अपना अंचल ।

२५८

जीवन में, वरदान समझना
अभिशापों को ही जय है,
युद्धस्थल में तनिक हिचकना
ही मानवता का क्षय है;
जीवन, मरण, दुःख, सुख जो कुछ
मिले उसी का स्वागत है,
भय किसका, जब यह सब संसृति
अ नख-चरण - शरणागत है ?
सुख दुख तो स्वभाव,–इन्द्रिय-गुण–
वशवर्त्ती माया मय है,
भय?-भय तो इस क तर मन का
केवल छाया-भ्रम-भय है ।

२५९

यज्ञाहुति की पुण्य भस्म ही
से विभु ने यह सृष्टि रची,
यज्ञाहुति से ही, जग में जन,
गण-हिताय यह वृष्टि मची,
देवि, जानती हो यज्ञाहुति ?
वह क्या है ? क्या है वह यज्ञ ?
शुद्ध यज्ञ किस को कहते हैं
श्री विदेह सम मुनि तत्वज्ञ ?
ये तिल-घृत–इन्धन–ग्राहुतियाँ
हैं विडम्बना यज्ञों की,
प्रचलित यज्ञों की परिपाटी
है प्रवंचना यज्ञों की ।

२६०

स्रष्टि रची प्रभु ने निर्गुणता–
की ग्रपनी ग्राहुति दे के,
जगत रचा माता ने ग्रपने
हिय की रुधिराहुति दे के;
ग्रात्म-दान-सेवा की यज्ञा–
हुतियों ही से यह जग है,
यज्ञ-भाव से मुख मोड़े वह
ग्रात्म-प्रवंचक, जग-ठग है;
उसी यज्ञ का निठुर निमन्त्रण
ले कर ग्राया है यह क्षण,
तुम्हीं बता दो, बहू, क्या करें ?
घर बैठें या जाएँ वन ?

२६१

शुद्ध यज्ञ है--सर्वभूत-हित-
रत हो कर जीवन देना,
शुद्ध यज्ञ है--जग-हिताय सब
अपना तन, मन, धन देना,
शुद्ध यज्ञ है--जग की सेवा,
तत्लीना, चिर मुक्ति मयी,
शुद्ध यज्ञ है-आहुति देना,
देह - भावना - भुक्ति मयी,
प्राण-यज्ञ तो प्राण-दान है
निज आदर्शों की धुन में,
आत्म-यज्ञ है--लय हो जाना
अगुण-सगुण-गुण-निर्गुण में ।

२६२

किरणों की अजस्र आहुतियाँ,
हैं दे रहे अंशुमाली;
मेघ उठे, धाराएँ बरसीं,
सरसी, हरषी प्रति डाली;
भू-नक्षत्र-सौरमण्डल द-
आहुतियाँ आकर्षण की,-
कब से झाँकी दिखा रहे हैं
शुद्ध यज्ञ के दर्शन की !
इसीलिए कहते हैं : प्रभु ने-
सकल विश्व सह-यज्ञ रचा,
बन सह-यज्ञ स्वयं जगती में
लीलामय सर्वज्ञ नचा ।

२६३

अणु-अणु से, कण-कण से क्षण-क्षण
यज्ञ-भाव ये उमड़ रहे,
प्राण-दान, आत्मार्पण के ये
मेघ घनेरे घुमड़ रहे;
लघुता कहाँ ? स्वार्थपरता वह-
कहाँ ? कहाँ संकुचित व्यथा?
संचय कहाँ ? ग्रहण कैसा ? जब--
अपरिग्रह की यहाँ कथा !
इस आहुतिमय, आत्मदान मय,
विमल यज्ञ-पूरित जग में,--
कैसे बैठ रहें हम, अपना
बिना दिए कुछ, इस मग में ?

२६४

यह वन-गमन प्रथम आहुति है
मानवता के चरणों में,
यह तो छोटा सा अथ है
जन-सेवा के उपकरणों में;
जो कुछ लिया अभी तक उसका
यह कृतज्ञता-ज्ञापन है,
आगे की सेवाओं का यह
प्रथम चरण-संस्थापन है;
लक्ष्मण भी जाएँगे वन, है--
यही व्यथा अन्तरतर में,
मेरी शक्ति नहीं कि रख सकूँ,
मैं लक्ष्मण को इस घर में ।"

२६५

"आर्य, सिधारो अपने सँग ले
जीजी को, ले इन को भी,
मैं कभी न वन जाने देती
एकाकी इक छिन को भी,
मेरी जीजी हैं रघुकुल की,
श्री, विभूति, लज्जा, करुणा,
आर्यों की वे हैं धृति, मेधा,
क्षमा, कीर्त्ति, सेवा अरुणा,
इस प्रसून को लिए, अकेले
जाने देती मैं न कभी,
हठ करती, चाहे फिर होते
क्षुब्ध, कुपित गुरु देव सभी।

२६६

आर्य, त्वदीय छत्र-छाया में
रंच मात्र भी भीति नहीं,
मंगल ही मंगल है, मेरे–
हिय में शुद्ध प्रतीति यही;
सीता-रमण राम के सँग-सँग
दाहक भव-भय-भीति कहाँ ?
द्वन्द्व - विमुक्ति वहाँ, दृढ़ता स्थिर,
समता, निर्भय-नीति वहाँ;
आशंका, शंका, निर्बलता,
आकुलता का त्रास नहीं,
भीति-भावना आ सकती है
कभी आप के पास कहीं?

२६७

"आप सिधारें, कोसल जन-पद
को अनाथ करते जाएँ,
अटवी को, अटवी के जन-गण—
को, सनाथ करते जाएँ,
यह अज्ञान-भार भूमण्डल—
का, इसको हरते जाएँ,
अलख जगाते, लगन लगाते,
दीप शिखा धरते जाएँ;
लिखते जाएँ इतिहासों के
पृष्ठों पर यह प्रगति-कथा,
हरते जाएँ मानवता की
यह जड़तामय अगति - व्यथा ।

२६८

और क्या कहूँ ? आर्य, जानते—
हैं अन्तर का कोलाहल,
छिपी आप से नहीं, देव, यह—
चित्त-वृत्ति मम दोलाचल;
इधर-उधर मैं भूल रही हूँ,
अस्थिरता के भूले में,
उड़ी जा रही हूँ तिनके-सी
पड़ कर मोह-बगूले में,
पर, हे आर्य, आत्म आहुति की
यह घटिका यदि आई है,
तो मैं बाधा नहीं बनूँगी,
श्री रघुवीर दुहाई है !"

२६९

सुन कर वचन ऊर्म्मिला के श्री–
रघुवर धीर उमड़ आए,
उनके गहन नयन-अम्बर में
कुछ-कुछ मेघ घुमड़ आए,
सीता, राम, ऊर्म्मिला, लक्ष्मण
गहरे पैठ गए जल में,
सम्हले राम, अन्यथा होता
निश्चय आप्लावन पल में;
उसी समय, सब के नयनों में
पड़ी सुमित्रा की झाँईं
अथवा उस क्षण वहाँ सुमित्रा
माता नौका-सी आईं ।

२७०

सब ने चरणों में वन्दन की
श्रद्धांजलियाँ अर्पण कीं
वृद्धा श्रद्धा को नव विश्वासों ने
भेंट समर्पण की;
झुके देर तक राम सुमित्रा
माता के श्री चरणों में,
मानों नवधा भक्ति लग गई
पद - सेवा - उपकरणों में;
उठा राम को हृदय लगाया
स्नेह विह्वला माता ने,–
मानों दिव्य चरित अपनाया
हो पौराणिक गाथा ने ।

२७०

राम सुमित्रा के वक्षस्थल
पर शिर रख यों व्यक्त हुए—
मानों लघु चापल्य-भाव सब
वत्सलता-अनुरक्त हुए ;
पूज्य सुमित्रा माता ने ली
कई बलाएँ तन्मय हो,
ज्यों प्राचीन-नवीन विचारों—
में संघटित समन्वय हो;
एक हाथ से खींच हृदय से
लिपटाया सीता को यों,
सन्ध्या ने अपने हिय में हो
खींचा दोपहरी को ज्यों ।

२७१

इधर-उधर सिय-राम, सुमित्रा—
माँ उन के मध्यस्था थीं,
मानों यौवन-स्मृतियों से घिर
बैठी वृद्धावस्था थी;
अथवा ऊषा और प्रात बिच
रेखा-सी धूमिल तम की
किंवा दो गतियों के अन्तर
में वह श्वास परिश्रम की;
सीय-राम के मध्य सुमित्रा
यों शोभित हो गईं भली
ज्यों दो चंचल मायाओं को
संग लिए करुणा निकली ।

२७२

अंचल पकड़, दृगंचल नत कर,
शरमाए, कुछ हिचके से,—
कुछ आतुर से, कुछ गभीर से,
कुछ-कुछ मन में झिझके से—
आर्य राम बोले धीरे से
वचन करुण-रस लिपटाने;
ज्यों संकुचित कृतज्ञ भाव वह,
बैठा हो कुछ सुलझाने;
एक-एक शब्दों में उमड़ीं
आतुरताएं कई-कई,
धीर सुमित्रा माँ की स्मृतियाँ
मानों जागीं नई-नई।

२७३

"तुम से कहते सकुचाता हूँ—
कुछ, हे तपस्विनी माता,
तुम ने छुटपन से ही धृति-मति
दी है, मनस्विनी माता,
बैठ तुम्हारी गोदी कितना—
यह दुलार रस पान किया,
माँ, तव आँगन मचल-मचल नित
वत्सलता का दान लिया;
रज-रंजित मुख तुमने चूमा,
दूध पिलाया ललक-ललक,
हम सब को जोहता रहा है
तव वात्सल्य सजग, अपलक।

२७४

धूल भरे, खिसियान भरे, ये–
पग-रगड़ते राम-लक्ष्मण,–
आपस में नित उलझ-सुलझते
लड़ झगड़ते राम-लक्ष्मण,–
'राजा बेटा राम' तुम्हारा
औ तव 'बड़ा हठी' लक्ष्मण,
आज तुम्हारे द्वारे आया
दिखलाता कौतुक-लक्षण,
अलख जगाते जोगीड़ों की
सब सज-धज साजे आए,
भीख माँगते, दौड़े अपनी–
माँ के दरवाजे आए।

२७५

तुम अजस्र दानिनी, जननि, हैं–
बड़े भिखारी हम दोनों,
नित्य-नित्य भिक्षा लेते हैं,
पारी-पारी हम दोनों;
अबकी लेने भीख तुम्हारी
हम दोनों सँग-सँग आए,
हे माँ देवि, तुम्हारे भिक्षुक
देखो तो क्या रँग लाए;
लज्जित हूँ, अति लज्जित हूँ, माँ,
क्या कह दूँ मैं, क्या न कहूँ,
श्री चरणों में विनय करूँ या,
माँ, केवल मैं मौन रहूँ ?

२७६

माँ, कितना यह आत्मनिरीक्षण,
जीवन का कितना अनुभव,
तव मानस-मंडल में कितना
एकत्रित है लय-संभव,

तुम ने अपनी इन आँखों से
क्या-क्या नहीं देख डाला ?
देखे कितने पट-परिवर्तन,
देखीं स्थितियाँ विकराला;

जीवन में मौलिकता है, या—
है केवल चर्वित-चर्वण ?
तुम ही जानो हो कैसा है—
माता, यह घटनाकर्षण ।

२७७

माँ, तुम चरम तपस्या-रूपा,
परम भागवत भक्तिमयी,
आत्मसमर्पण की तुम प्रतिमा,
वत्सलता अनुरक्तिमयी ;

जगद्धात्री तुम करुणामयि,
सृष्टि-पालिका अविचल हो,
समतामयी, समन्वयरूपा,
दुख-सुख में तुम अविकल हो;

जननि, तुम्हारी मधुर गोद में
सुख—सपना दिन रैन रहे,
कितनी गहरी-गहरी बातें
तव अनबोले नैन कहें ।

२७८

जननि, अभी तक गूंज रही हैं
वे लोरियाँ कि 'मेरे बाल,
देखो वह निंदिया आई है
तुम्हें खिलाने, मेरे लाल,
चन्दा मामा चुम्मी देने
आया होकर हाल-बिहाल,
सो जाओ मेरे लालन, मम–
गोदी को तुम करो निहाल' ;
एक बार फिर वह स्वर गा दो,
आज सुला दो सब संशय,
अपना अंचल फैला दो, माँ,
कर दो हम को अजय, अभय ।

२७९

ठुमुक-ठुमुक तुम आज नचा दो,
अपने ये नन्हे शिशु द्वय,
कर दो इनके चरण चलित तुम
आदर्शों की ओर अभय;
हिय थिरका दो, मन थिरका दो
कर दो हम सब को तन्मय,
अलख-झलक झाँकी-दर्शन का
हिय में तुम भर दो निश्चय;
ये जाए कोख के तुम्हारे
आज हुए हैं यौवन-मय,
देखो, अपने शिशुओं की यह
क्रीड़ा दृग में भर विस्मय ।

२८०

खेल अनेक खिलाने वाली,
लाड़-लड़ाने वाली, माँ,
हिय हुलसाने वाली, हँस-हँस,
गोद चढ़ाने वाली, माँ,
आज गोद से खिसक-खिसक कर
भाग रहे हैं बालक ये,–
यह भी आँख-मिचौनी देखो,
माँ, सनेह प्रतिपालक हे;
अपने इन प्यारे वत्सों को
ओझल होने दो कुछ क्षण,
इसी व्याज से बहलाने दो
इन बच्चों को अपना मन।

२८१

हे निष्ठुर जग की कोमलता,
हे सनेह की दीप-शिखे,
हे वत्सलता की स्रोतस्विनि,
हे जीवन-मंगलाम्बिके,
विश्व-सृजन की तीव्र वेदने,
जीवन धारण की संक्रान्ति,
मानवता के शैशव-मानस
की तुम, हे कल्लोलिनि भ्रान्ति,
तुम विषाद की मूक-व्यथा हो
चपल भाव की हे विश्रान्ति,
हे माँ, हे संसार जननि हे–
भ्रान्त जगत की चिर निर्भ्रांति।

२८२

हे एकाक्षर नाम धारिणी,
माँ, तुम हो कल्याणमयी,
प्रथमोच्चारण की प्रणोदना
की हो तुम चाहना नयी,
तुतली असंस्कृता वाणी की
हो तुम मुग्धा गुण गरिमा,
आद्य शब्द संस्फुरण भाव की
तुम हो मूर्त्तिमती महिमा ;
मुसकाते अधरों से 'माँ' का
तरल लार-सा नाम चुआ,
थर-थर, लहर सिहर, अन्तर से
उद्गीरित यह नाम हुआ ।

२८३

माँ,——शैशव की अश्रुधार से
भरी मटुकिया सरस बनी,
माँ,——खीझे शिशु के रज-रंजन
से जिसकी सब गोद सनी;
क्षणिक हास के मृदु विलास से
उत्फुल्लिता सलौनी, माँ,
दुग्ध दान कर्त्री, पयस्विनी,
मधुरा, निरी अलौनी, माँ,
माँ,——प्रबोध दायिनी, सुसंस्कृति-
शिक्षा की गुर्वाणी,——माँ,
माँ,——बालक की शब्द-दीनता
की अतुला मृदु वाणी,–माँ ।

२८४

अश्रुसनी, मुसक्यान कनी,
परिहास अनी, विगलित करुणा,
जग संचालक के हिय की तुम
वत्सलता–आभा अरुणा,
मेघ खण्ड सी अमला, सजला,
सजग दामिनी सी चपला
मातृ-धर्म पालन में माँ, तुम–
अचल हिमांचल सी अचला;
गहर गभीर मृदंग घोर-सी
सेवा मूर्त्ति सुक्षमता-सी
सतत रक्षिका नभ मण्डल-सी
संलग्ना हो ममता-सी ।

२८५

संध्या क अश्वत्थ वृक्ष की,
डाली-सी तुम कूजित हो,
मुखरित, उत्फुल्लित प्रभात की
प्राची-सी तुम पूजित हो;
कितन पंछी अभय गोद में
रैन-बसेरा करते हैं,
प्रात, तुम्हारे स्मृति अम्बर में
कितने आन विचरते हैं;
साँझ-प्रात, दिन रात, तुम्हारा
ही तो एक सहारा ह,
भला-बुरा, जैसा ह वैसा
बालक सदा तुम्हारा ह ।

२८६

जननि, तुम्हारी मधुर लोरियाँ
जीवन-गायन गाती हैं,
कितनी करुणा, वत्सलता यह
कितनी व सरसाती हैं;

यह अभिशाप जगत सृजनन का
शुभ प्रसाद तुम ने माना,
पूर्ण आत्म-उत्सर्ग भाव को
ही तुम न सब कुछ जाना;

जीवन के उत्क्रान्ति काल की
माँ, तुम हो अति मौन व्यथा,
शत-शत शताब्दियों क पट पर
लिखी तुम्हारी अमिट कथा ।

२८७

तुम से अधिक व्यथा तत्त्वों का
और कौन है ज्ञाता, माँ ?
तुम हो करुण स्वरूपा, तुम हो
मौन वेदना-लाता, माँ,

तुम हो महद् ब्रह्ममयि, जननी,
तुम हो ईश भक्ति-रूपा,
तुम जग की आधारभूत हो,
तुम हो आदि-शक्ति रूपा,

तुम हो जीवन मरुस्थली की
कुसुमित लतिका रस-भरिता,
तुम जीवन उछालती-सी, माँ,
अवतरिता सरिता त्वरिता ।

२८८

माँ के बिना असम्भव है जग,
सूना है, तम-शोकित है,
माँ की नेह-दीप-बाती से
सब जग-मग आलोकित है;
माँ के भीने अंचल में हैं
टँकी हुई जीवन-स्मृतियाँ,
माँ की मीठी गोदी में हैं
उलझी शैशव की कृतियाँ ;
क्यों हो इतनी ऊँची तुम, माँ,
भेद तनिक यह खोलो तो,
किस पुनीत माटी से तुम को
गढ़ा ईश ने, बोलो तो ?

२८९

माँ, मैं हूँ तव सुख का तस्कर,
बहू ऊर्म्मिला का दाहक,
मानो मैं बन कर आया हूँ
व्यथा-वेदना का वाहक,
पर लक्ष्मण को अवध छोड़ना
यह तो कार्य कठिनतम है
लक्ष्मण हठी जनम के हैं, यह
जानो हो, माता मम हे !
वह लक्ष्मण का अतुल प्रेम, वह–
कठिन नेम तुम जानो हो,
लक्ष्मण के आदर्श भाव को,
जननी, तुम पहचानो हो ।

२६०

लोग कहेंगे : त्याग राम का,–
शासन-सिंहासन छोड़ा;
लोग कहेंगे : क्या निस्पृहता !
राजभोग से मुख मोड़ा,
पर, यह कितने जानेंगे, माँ,
कि है त्याग की परिसीमा,–
जहाँ, राम के त्यागभाव की
गति भी नहीं पहुँचती, माँ,
बहू ऊर्म्मिला का मुख-मण्डल
और तुम्हारे, जननि, चरण,
रामचन्द्र के त्याग-भाव को
लज्जित करते हैं क्षण-क्षण ।

२६१

राम नहीं, न यह सीता भी,
लखन न, नहीं तात दशरथ,–
परम पूजनीया कौशल्या
माँ भी नहीं, न बन्धु भरत,–
कोई नहीं पहुँच पाते हैं
जहाँ तुम्हारा आसन है,–
वहाँ–जहाँ ऊर्म्मिला बहू के,
करुण-भाव का शासन है ;
यह ज्वलन्त बलिदान तुम्हारा
यह लोकोत्तर त्याग, जननि,
और कहाँ मिल सकता है यह
ध्रुव विराग-अनुराग, जननि ।

२६२

करुणा, दया, तितिक्षा, सेवा,
ये सब तव हिय-संगिनियाँ,
मौन-वेदना, धीर-सान्त्वना
हैं तव तन-मन रंजिनियाँ;
तुम विरागिणी, भक्ति-रागिणी
तुम हो मूर्त्तिमती क्षमता,
तुम सनेह-रस-धारा हो, माँ,
तुम हो वत्सलता, ममता,
कैसे तुम से कहूँ कि वन को
जाने दो सिय-राम-लखन ?
तो नहीं कहूँगा, माँ, हो
चाहे पितुराज्ञा-लंघन ।

२६३

यदि तुम चाहो, तो पितुराज्ञा
क्या ? जगपति की आज्ञा को—
राम करेगा लंघित, सब को,
दश सहस्र पितुराज्ञा को;
जननी तव संकेत मात्र पर
ये सब धर्म-कर्म-बन्धन,—
उन्मूलित कर सकता हूँ मैं,
कर सकता इनका भंजन ।"
"बस, बस, मेरे वत्स," सुमित्रा—
माता तब यों झट बोलीं,
ज्यों आतुर अभिव्यक्ति-भाव ने
निज स्वर-मंजूषा खोली ।

२९४

"तुम ने मुझे निहाल कर दिया,
मेरे लाल, राम मेरे,
सूने मानस-नभ-मंडल के;
तुम नव मेघ-श्याम मेरे,
धन्य हुई पाकर मैं इतना–
यह विश्वास तुम्हारा लाल,
पर तुम यह क्या कहते हो, हे–
मेरे प्यारे भोले बाल ?
यह अगाध तव भक्ति–भाव, यह–
प्रेम-नेम-विश्वास परम––
बलि जाऊँ, मेरे हिय को है
पहुँचाता सुख-शान्ति चरम।

२९५

पर मैं कैसे कहूँ, कि तुम
पितुराज्ञा उल्लंघित कर दो ?
कैसे कहूँ धर्म पालन से
अपने को वंचित कर दो ?
भवितव्यता अमिट है, यह वन–
गमन राम का, लक्ष्मण का;
पालन तो निश्चय होगा ही,
सुत तव तात-चरण-प्रण का;
हम ? मैं, बहू ऊर्म्मिला, जीजी–
कौशल्या, सब सह लेंगी,
छाती पर पत्थर रख कर इस
अवधि-अन्त तक रह लेंगी।

२६६

कह लेंगी हम सब आपस में,
सब अपने जी की बातें,
सह लेंगी हम ज्यों-त्यों दुखकी
सब तीखी-तीखी घातें,
तुम्हें रोक रखना, हे लालन,
है यह चरम स्वार्थ-परता,
वह तो है कायरता, वह है–
नव - सन्देश - निरादरता;
करो गमन वन, बन जोगी तुम
निर्जन-विचरण करो भले,
तव अनुगमन-करण लक्ष्मण के–
मन की दुविधा हरो भले।

२६७

वह सुनसान तान सुन पड़ती
है क्रन्दन के गायन की,
वत्स राम, होने दो वन में
तुम लीला रामायण की;
इधर अवध में, करुण रुदन का
राग उठे तो उठने दो,
गुरुजन-मातृ-पितृ-हृदयों की
संचित निधियाँ लुटने दो,
जुट आने दो आज भीर तुम,
करुणामय सन्तापों की,
छिटकी है क्या छटा आज यह
जगपति के अभिशापों की।

२६८

किसने भेद बनाए हैं ये
जग में गायन-रोदन के ?
दोनों ही तो हिय मन्थन के—
फल हैं, व्यथा-प्रणोदन के,
गायन सगुण, रुदन निर्गुण है,
दोनों ही में पीड़ा है,
दोनों ही हैं करुणा-रंजित,
दोनों में रस-क्रीड़ा है,
गायन में स्वर-गुण-बन्धन है,
क्रन्दन में है निर्गुण मुक्ति
हिय-विलाप ही से अभिभूता
होती है गायन की युक्ति।

२६९

तान गीत की बँधी हुई है;
गायन है स्वर-दामोदर;
क्रन्दन-बन्धन हीन सदा है;
बहता मुक्त रुदन-निर्झर;
स्वर-लहरों की सीमाओं से,
रोदन-सर निर्मुक्त सदा,
गायन की वह प्रकृत अवस्था
निःसीमा-संयुक्त सदा,
राम ललन मन हरण, आज है
स्वागत इस क्रन्दन-क्षण का,
स्वागत है रोदन का,—गायन
के इस जनक विलक्षण का।

३००

जिस अन्तर से तुम-रिपुसूदन--
लक्ष्मण-भरत-गीत निकला,
उस में क्रन्दन-व्यथा भरी है,
जो है अति अतीत, विकला,
मैं यह कैसे भूलूँ, लालन,
कि तुम आँसुओं के फल हो,
दाहक प्रबल निदाघ-प्रतीक्षा–
के तुम मम शीतल जल हो,
बिना रुदन के कब निकला है
गायन फूटे कण्ठों से ?
वह तो सदा बहा है केवल,
दुख के लूटे कण्ठों से ।

३०१

राम, तुम्हारी मधुर कण्ठ-ध्वनि,–
इस के सुनने के पहले,–
कितने रोने रोये; पाया–
तब तुमको उनके बदले,
पाकर तुम्हें निहाल हुईं हम
माँएँ, दुख भूलीं अगले,
पर अँसुओं से सिंचे-खिंचे हो
तुम मम गायन-स्वन, पगले,
करुणा की गहराई से हूँ
लाई तुम्हें उठा कर मैं;
उसी गहनता में पाऊँगी
तुमको आज लुटा कर मैं ।

३०२

जो क्रन्दन में गायन, गायन
में क्रन्दन अनुभूत करें,—
सत्-विद्, तत्-विद्, चिदानंद-विद्
वे ही हैं अवधूत खरे;
तुम निर्जन में जनपद देखो,
भोग त्याग में तुम देखो;
सर्वेश्वर समझो, निःसाधन—
वन-वासी कर अपने को,
हम माँएँ भी इस क्रन्दन में
गायन-अनुभव कर लेंगी,
तव विरहानल को, चन्दन, सम,
हम निज हिय में भर लेंगी।

३०३

मम मन में शून्यता, रिक्तता,
एकाकिनी व्यथा छाई,
सूनी-सूनी सी लगती है,
राम, अवध की ठकुराई;
निरवलम्ब आधार-शून्यता,
देखो, जीवन में आई,
चौथेपन में स्वावलम्ब की
क्या ही यह लकुटी पाई!
तुम ने खूब परीक्षा लेने—
की ठानी है, रामललन,
नई वयस में वन जाने की
निकली है यह नई चलन।

३०४

योगायोग हुआ यह कैसा ?
इस में है कल्याण चरम,
संभवतः हो इसी व्याज से,--
मानवता का त्राण परम,
बुद्धिग्राह्य है यह सब, लालन,
पर हिय में है मूक व्यथा,
यह वियोग पैदा करता है,
मन में एक अचूक व्यथा;
सीता-राम-लखन बिन चौदह-
बरस ?--तड़प जाता है जिय ;
लाख-लाख समझाने पर भी
टूक-टूक होता है हिय ।

३०५

इसका क्या उपाय है ?
माता का यह हृदय विचित्र बड़ा,
सदा धड़कता ही रहता है
कर लो चाहे खूब कड़ा ;
तुम्हें नहीं रोकूँगी; जाने-
दूँगी मैं निर्जन वन में,
राम, कहो तो, माता हूँ या
निपट राक्षसी, इस क्षण में ?
रे तू माँ के हृदय, विरोधों-
का है तू आगार, अरे,
रे, पसीजते पत्थर, धिक-धिक,
तेरा निष्ठुर प्यार अरे ।

३०६

प्यार बड़ा, सत्कार बड़ा, यह
लाड़, दुलार बड़ा कर के,–
तुम्हें विपिन में भेज रही हूं
मैं हिय से झगड़ा कर के;

वत्स, सिधारो तुम, मैं हिय से
यहाँ अकेले लड़ लूँगी;
जैसे-तैसे मैं निष्ठुर इस–
हिय से यहाँ झगड़ लूंगी;

हिय-निस्पन्दन नहीं बनेगा,
वत्स, तुम्हारा पद-बन्धन,
विनिर्मुक्त, निर्बन्ध सिधारो
वन तुम, हे दशरथ नंदन।

३०७

सुवन, तुम्हारी विकट प्रतीक्षा–
में यौवन बीता रीता;
ढलती हुई वयस में पाया
तुम सम फल यह मन चीता;

सोच रही थी, जीवन विष मय
था, पर अब तो मधु मय है,
क्षण भर को भूली कि––यहां तो
एकरूप-मय विष-मय है,

खूब करा दी स्मृति तुम ने हे
प्रिय, इस निपट सत्यता की,
मैं मोहावृत्त हो भली थी
सुध इस नित्य तथ्यता की।

३०८

सीमा सदा हुआ करती है,
लालन कष्ट सहन की भी,
जीवन में बांधी जाती है
सीमा दुःख-वहन की भी,
पर यह होता वहां जहां हों
दुख, सुख ये न्यारे न्यारे,
सीमा कैसी वहां जहां दुख,
पर सुख, सुख पर दुख वारें?
इसीलिए अभिशाप रूप यह
जगपति ने वरदान दिया,
अथवा आर्य धर्म सैद्धान्तिक-
तत्वों का सम्मान किया।

३०९

दुख में दुख होता है; सुख में–
अनुभव होता है संतोष;
इस में मेरा दोष नहीं, मम–
मातृ-हृदय का है यह दोष;
आते देख तुम्हें सीता जब
उत्फुल्लित हो जाती है,
या ऊर्म्मिला, लखन के आगे
जब मुकुलित हो जाती है,
तब, हे वत्स, सुमित्रा का यह
हिय हो जाता है मुदमान;
और तुम्हारे बिना दिवस-क्षण
बन जाते हैं कल्प समान

३१०

मां का मन ही ऐसा है, मैं–
कहो क्या करूं ? क्या न करूं ?
कैसे हिय को समझाऊं मैं ?
कैसे मन में धैर्य धरूं ?
पर अतिरिक्त धैर्य के कोई
मार्ग न शेष रहा, हे राम,
ज्वाला-प्लावन आज इधर को
सहसा आन बहा है, राम,
तन-मन भस्म हो रहा है यह,
अंगारे जीवन-पथ में,
पर, इस से क्या ? नहीं करूंगी
अपना यह मस्तक नत मैं ।

३११

हँस हँस आज करूँगी स्वागत
ज्वाला का, अंगारों का,
हँस हँस भार उठाऊंगी इन–
विपदा के अम्बारों का,
धर्म-मार्ग से च्युत न करूंगी
तुम को, हे अच्युत लालन,
अवध उजाड़ो, विपिन बसाओ,
करो कर्म-व्रत-प्रतिपालन ;
शंकर तुम, प्रलयंकर बन कर
वन में करो राम-लीला,
वत्स, लिए अपने सँग जाओ
अनुज लखन, सीता शीला ।

३१२

जीवन की थाली में कितनी
यह वेदना भरी है, लाल,
छलक-छलक पड़ती है, पथ में–
कैसे कोई रखे सँभाल ?

वत्स, धूम्र की कुंडलियां उठ–
आती हैं अन्तर-तर से,
झर पड़ती हैं आँखें जैसें
सावन के मेघा बरसें,

सुनने वाला कौन रहेगा
याँ विलाप के बैनों का ?
यहां रहेगा कौन पोंछने
वाला आंसू नैनों का ?

३१३

कुछ ऐसा है लिखा भाग में
कि यह रहे जीवन सूना,
कुछ ऐसा है योग कि मिलता–
रहा दुःख नित दिन-दूना,

इधर-उधर टक्कर खाता, यह–
मंडाराता अकुलाता मन,
जन-पद में भी सदा करेगा
अनुभव भाव निपट निर्जन,

सीय लाडिली, राम दुलारे,
हे तुम मुझ निर्धन के धन,
विजन सुखेन पधारो, मेरे
प्यारे सीता, राम, लखन ।

३१४

सीते बेटी, तुम से मैं क्या
कहूँ ? जानती हो सब कुछ,
प्रकट करूँ मैं क्या हिय अपना
तुम सैं नहीं छिपा अब कुछ,
ऐसे रत्न बहू-बेटों को
भेज रही हूँ निर्जन में,
फिर भी ये निर्मोही मेरे—
प्राण रमे हैं इस तन में,
बहू, कदाचित अभी और भी
कष्ट शेष हैं जीवन में,
यहाँ और भी कुछ अनर्थ ही
होगा इस चौथे पन में।

३१५

पति परायणा, पतित पावना,
भक्ति भावना मृदु तुम हो,
स्नेहमयी, वात्सल्यमयी, श्री—
राम-कामना मृदु तुम हो,
तुम नारी हो, तुम नारी की
हृदय-व्यथा से परिचित हो,
तुम हो करुणामयी, बहू, तुम
समवेदना अपरिमित हो;
इस हिय में है अनिवर्चन मय,
जो कुछ वाङ्मय रहित, बहू,
है विश्वास, उसे समझोगी
तुम अति आदर सहित, बहू !

३१६

सदा पटा है तुम से मेरा
सौदा आँखों-आँखों में,
तुम हो एक ग्राहिका मेरी,
बहू, सहस्रों-लाखों में;
व्याकरणज्ञा हो अनबोली
भाषा की, तुम कल्याणी,
खूब समझती हो तुम छानी–
छानी नयनों की वाणी,
भाषा की, वाक्यों की, श्रुति की,
शब्दों की गति जहाँ नहीं,
सीते बेटी, सहज पहुँचती
है यह तव मति महा वहीं।

३१७

हिय में जहाँ हो रहा है यह
हाहाकार प्रचंड, बहू,
जहाँ उठ रही है यह ज्वाला,
चंड, ज्वलन्त, अखंड, बहू,
उस थल तक जा-जा कर आतीं
लौट-लौट शब्दावलियां,
जैस झुलस-झुलस जाती हों
खर निदाघ में नव कलियां,
निःशब्दता राज करती हो–
जहाँ, वहाँ कैसी अभिव्यक्ति ?
वहाँ पहुँच पाती है केवल
सह-अनुभूतिमयी अनुरक्ति ।

३१८

बहू, समझती हो तुम मेरे
हिय की गहर गभीर व्यथा
तुम से नहीं छिपी है, बेटी,
माँ के हिय की धीर-कथा,

इस असीम वेदना परिधि से
घिरी हुई हूँ, सीमित मैं,
अचरज है जीवित हूँ अब तक,
और रहूँगी जीवित मैं;

विधिना ने कठोरता-प्रतिनिधि
रूपा मुझे बना कर के,
धो डाले हैं अपने कर द्वय,
मम हिय में पाहन भर के।

३१९

माएँ जिसे उठाए फिरतीं
आंखों में, हिय में, मन में,
कभी धूल भी नहीं लगी थी
जिस के उत्फुल्लित तन में,

वही बहू सीता सुकुमारी
घूमेगी अब निर्जन में,
और सुमित्रा राज करेगी
यहां महल के आंगन में,

हिय फट जाना था, पर है यह—
बड़ा कठोर हृदय, बेटी,
इतिहासों में लिखी जा सकूँ,
हूँ मैं वह निर्दय, बेटी !"

३२०

"ओ माँ !" अश्रु सनी सीता यों
बोलीं व्यथा भरी वाणी,
"देवि, चिरन्तन सहन शीलता
की तुम हो चिर गुर्वाणी,
यों निज आत्म-प्रदान कर के
मुझको तुम लज्जित न करो,
ओ माँ, गहरे व्यथा-सिन्धु में
मुझे और मज्जित न करो;
इस अस्थिरतामयी अवध में
तुम हो एक, स्थिरा, अचला,
और दूसरी कौशल्या माँ,
हैं धृतिमती निपट अटला ।

२१३

यह कोसल जन-पद जहाज है
क्षुब्ध वेदना सागर है,
पार लगाने वाला तुम द्वय-
का यह हिय करुणाकर है,
तुम हो करुणामयी धीरता
ज्ञान-विदग्धा, तपस्विनी,
तव पद-नख पर स्वयं तितिक्षा-
न्यौछावर है, मनस्विनी,
पूज्य श्वसुर की दशा बड़ी ही
चिन्तनीय है, हे माता,
केवल तव धीरता बन रही
है सब की चिन्ता-त्राता ।

३२२

मैं ने तुम से निज जननी का
प्यार, दुलार, लाड़, पाया,
मात, रही है सदा तुम्हारी
मुझ पर वत्सल घन-छाया,
एक अबोध बालिका से मैं,
युवती होकर बढ़ी यहाँ,
सासों की छाया में मैं श्री
राम चरण में चढ़ी यहाँ,
देवि तुम्हीं ने तो मुझ को यह
आत्मार्पण का पाठ दिया,
और तुम्हीं ने मम मन–मन्दिर
का यह मुक्त कपाट किया ।

३२३

उसी तुम्हारी शिक्षा का यह–
परिपालन है विजन-गमन,
सदा प्रणोदक हैं मेरे तो
तव श्री चरणों के रज-कण,
उन्हें देख कर ही मम मन में
होती है विराग की स्फूर्ति,
उन के दर्शन से होती है
मेरी आत्म-निवेदन-पूर्ति ;
हे माँ, उसी तुम्हारी पद-रज
का यह शुभ प्रसाद पा कर,
सीता, राम अनुगमन करती,
आज अयोध्या से बाहर ।

३२४

माता, तुम अच्छेद्य कवच वह
अपने आशीर्वादों का,
पहनाओ अपने पुत्रों को,
भय न रहे अपवादों का,

मुझको दृढ़ता, स्थैर्य, अचलता–
का तुम, माँ, दे दो वरदान,
भर दो मेरे अंचल में, माँ,
शिव-संकल्प-रूप कल्याण;

अवधि-अन्त में तव-चरणों के
दर्शन कर फिर फूलूँगी,
एक बार फिर तव ग्रीवा में
डाल भुजाएँ भूलूंगी ।

३२५

राम विश्व-विजयी, भय किसका ?
हैं लक्ष्मण दुर्दान्त बली,
मेरे पीछे हैं देवर; हैं
आगे सीता-कान्त बली;

संग संग हैं, जननि, हमारे–
तप-साधन-सिद्धान्त बली,
कैसे फिर हो सकते भौतिक
भय से हम आक्रान्त बली ?

आज हो रही है इस नगरी
में नैतिक उत्क्रान्ति भली,
हमें मिलेगी निश्चय वन की
डगरी में विश्रान्ति भली ।

३२६

सिद्ध राम, साधक लक्ष्मण हैं,
मैं साधना-रूप निष्ठा,
अपरिग्रह की आज हमारे
कुल में हुई नव प्रतिष्ठा,
राज छुटा, छुट गई भोग की
सकल वासना वह क्लिष्टा,
विजन मिला, हो गई हृदय में
त्याग-भावना संश्लिष्टा ;
मुक्ति-युक्ति मिल गई मधुर यह,
अपने आप बन्ध टूटे,
जननि, तुम्हारे राम, लखन ये—
भोग-भावना से छूटे ।

३२७

मेरे पति, मेरे देवर ये,
रँगे विराग-त्याग रँग में,
देखूँगी सब कौतुक वन के
इन दोनों के सँग-सँग में ;
चौदह वर्षों का वन-अनुभव,
ले कर मैं घर आऊँगी,
माँ, कितनी ही कौतुक-मणियाँ
मैं अपने सँग लाऊँगी ;
देवि, तुम्हारी यह उच्छृंखल,
कुछ-कुछ यह अल्हड़ सीता,
हो आएगी बड़ी पंडिता
बड़ी ज्ञान-अनुभव-नीता ।

३२८

आकर तुम्हें सुनाऊँगी, माँ,
सब विचित्र वर्णन वन के
देवर के सब कार्य, और सब
कर्म-धर्म जीवन-धन के;

हम तीनों की बाट जोहती–
रहना, तुम मत थकना, माँ,
तुम मेरी ऊर्म्मिला बहिन को
खूब सम्हाले रखना, माँ,

यह लक्ष्मण की कितनी प्यारी–
है, इसको तुम जानो हो;
और लखन से अधिक ऊर्म्मिला–
को हे माँ, तुम मानो हो।

३२९

अभी, एक दिन, मुझ से हँस कर,
लालन लक्ष्मण यों बोले:
भाभी, खूब ठगे तुम सब ने
माताओं के मन भोले,

ऐन्द्रजालिकाएँ मिमिला की
होतीं बड़ी कला वाली.
किन्तु देखने में तुम सब यों
लगती हो भोली-भाली।

राम, भरत, लक्ष्मण, रिपुसूदन
अब न कहीं के यहाँ रहे,
अब तुम सब बधुओं के आगे
हम बेटों की कौन कहे?

३३०

मैं बोली कि ललन तुम लाए
हमें लूट मिथिलापुर से,
अब यों बातें बना रहे हो
ठगे हुए ठग-ठाकुर-से ?

हम ने माता पिता छोड़ कर
आकर यहाँ प्रवास किया,
अपना सद्म छोड़ कर, लालन,
इस तव गृह में वास किया ;

फिर भी डाह कर रहे हो तुम
क्यों हम से ? कुछ न्याय करो ;
निष्ठुर युवक, युवतियों के प्रति
तुम यों मत अन्याय करो ।

३३१

तो बोले कि, डाह की क्या ?
मैं बात कर रहा मन्तर की,
निश्चय तुम सब जानों हो कुछ
घातें जन्तर-तन्तर की;

आर्य राम पर तुम ने पढ़ कर,
फूंकी कुछ पुड़िया ऐसी,
कि बस तुम्हारे कर में उनकी
वृत्ति हुई गुड़िया जैसी,

भगत भरत भैया भी छोटी
भाभी के फरफन्द फँसे ;
और तुम्हारी विमल ऊर्म्मिला
ने मुझ पर छलछन्द कसे ।

३३२

मातात्र्प्रों को उधर, सुतों को
इस दिशि सर करके तुम ने
सिक्का खूब जमाया सब के
हिय को हर करके तुम ने,
इसीलिए कहता हूँ, तुम सब
जादूगरनी हो, भाभी
सीख साख कुछ आई हो, तुम–
सब हिय-हरनी हो, भाभी,
मां, लल्ला की इन बातों से
चुआ पड़ रहा मेह घना;
तुम जानो हो, विमल ऊर्म्मिला
पर उनका है नेह घना।"

३३३

बहू, जानती हूँ, हैं हिय में,
बातें कई कई मेरे
उठ-उठ आती हैं संस्मृतियां
हिय से नई-नई मेरे,
पर उनके टटोलने को अब
अवसर नहीं रहा, बेटी
अतः ऊर्म्मिला से मैं ने अब–
तक कुछ नहीं कहा, बेटी,
इसके लिए पड़े हैं चौदह–
बरस, नहीं जल्दी कोई,
देख परख लूंगी पीछे मैं
हिय की निधि धोई-धोई।

३३४

राम, नयन अभिराम, वत्स, तुम,
जलद श्याम, मेरे बारे,
जाओ करो सनाथ विपिन को,
मेरी आंखों के तारे ;

लक्ष्मण वत्स, कहूँ क्या तुम से ?
भार तुम्हारा गुरुतर है,
अपने पन को दिखलाने का
आया यह शुभ अवसर है ;

माम् विद्धि त्वम् जनकनन्दिनी,
रामं विद्धि दशरथं त्वम्;
विद्ध्यटवीं – त्वमयोध्यानगरीं,
गच्छ वनं त्वम् यथा सुखम् ।

३३५

वत्स, वन गमन के मिस मेरे
पय की आज परीक्षा है,
आज देखना है : कैसी मम
दुग्ध-धार की दीक्षा है,

एक बार पहले ही अध्वर–
नाशक दुष्ट-दलित कर के,
तुम दोनों ने दिखलाए हैं
कौतुक निज तीखे शर के,

किन्तु परीक्षा अब की, लक्ष्मण,
है दुस्तर, है बहुत कड़ी,
पर मम पय-पोषिता तुम्हारी
बांहें भी हैं बड़ी-बड़ी ।

३३६

तुम आजानु बाहु, लालन मम,
जीवन के हो उजियारे,
शिव संकल्पमयी निष्ठा-युत
विपिन सिधारो, हे प्यारे !

स्मरण रहे जीवन अशेष है,
मोह न झटका दे तुम को,
जीवन की लालसा, मार्ग से
कहीं न भटका दे तुम को ;

मैं प्रसन्न हूँ, आदर्शों पर
तुम को न्यौछावर करके,
पूर्ण करो जीवन-सँदेस तुम,
लालन, अपना जी भर के ।

३३७

स्मरण रखो, सीता है रघुकुल–
की लज्जा, गौरव गरिमा,
और मातृ-शक्ति है तुम्हारे
लिए वत्स, सीता महिमा,

यदि सीता को, प्राण तुम्हारे–
रहते, आँच लगी कुछ भी,
तो तुम को कपूत समझूँगी
मुख देखूँगी मैं न कभी ;

जाओ वन, ज्वलन्त आदर्शों–
से उत्प्राणित हो करके,
त्याग-तपस्या-रत हो जाओ,
अहं-भावना खो करके ।"

३३८

"माँ, देखोगी : दूध तुम्हारा
नहीं लजाएगा लक्ष्मण,
देकर अपने प्राण करेगा
वह आदर्शों का रक्षण,
जिस के बन्धु राम हों, जिसकी–
पूज्य सुमित्रा महतारी,
धिक् है वह, यदि प्राण-मोह में
पड़, बन जाए अविचारी;
एक-एक घूँट में तुम्हारे–
पय के, मैं ने अमृत पिया,
कैसे विचलित कर सकती है
मुझे मृत्यु की अनृत क्रिया ?

३३९

जननि, तुम्हीं ने तो सिखलाया–
है : कि मरण ही जीवन है,
लीलामय के प्रांगण में तो
प्राण-हरण ही जीवन है,
कहा तुम्हीं ने न था कि लो इन–
मृत्यु-गीत की कड़ियों में,
बन्धन-भंजन की घड़ियों में,
आत्मदान की लड़ियों में,
जीवन-स्वर, जीवन-क्षण, जीवन–
मुक्ता, ये हैं टँके हुए,
वैसे ही जैसे कि शून्य में
सभी अंक हैं अँके हुए ?

३४०

हे मेरी गुर्वाणि जननि, तव–
शिक्षा है अंकित उर में,
वैसे ही जैसे जग-पोषण
संचित है लघु गो-खुर में,
अवधि-अन्त में देखोगी तुम
लक्ष्मण या तो लक्ष्मण है,
या पहुँचा है वहाँ जहाँ की
स्थिति अज्ञेय, विलक्षण है ;
निश्चय जानो, दूध तुम्हारा–
नहीं लजाएगा लक्ष्मण,
वरदे ! दो वरदान तुम्हारा
लक्ष्मण होवे शुभ लक्षण ।"

३४१

यों कह, आतुर हो लक्ष्मण ने
थामें माँ के पूज्य चरण,
और चरण कमलों में कर दी
भक्ति-अश्रु की निधि अर्पण ;
उठा लिया माँ ने, छाती में भर
गोदी में बिठा लिया,
फिर कँपते-कँपते शब्दों में
उन को आशीर्वाद दिया ;
माँ के आशीर्वादों से सिय–
राम-लखन अभिषिक्त हुए ;
विपिन चले हिय-घर्षण-चन्दन
से अर्चित, संलिप्त हुए ।

भर दो, माँ, भर दो अन्तर तर,
तव वेदना, व्यथा, करुणा से, आप्लावित कर दो अभ्यन्तर,
भर दो, माँ, भर दो अन्तर तर ।

इति श्री तृतीय सर्ग
श्री लक्ष्मणार्पणमस्तु ।
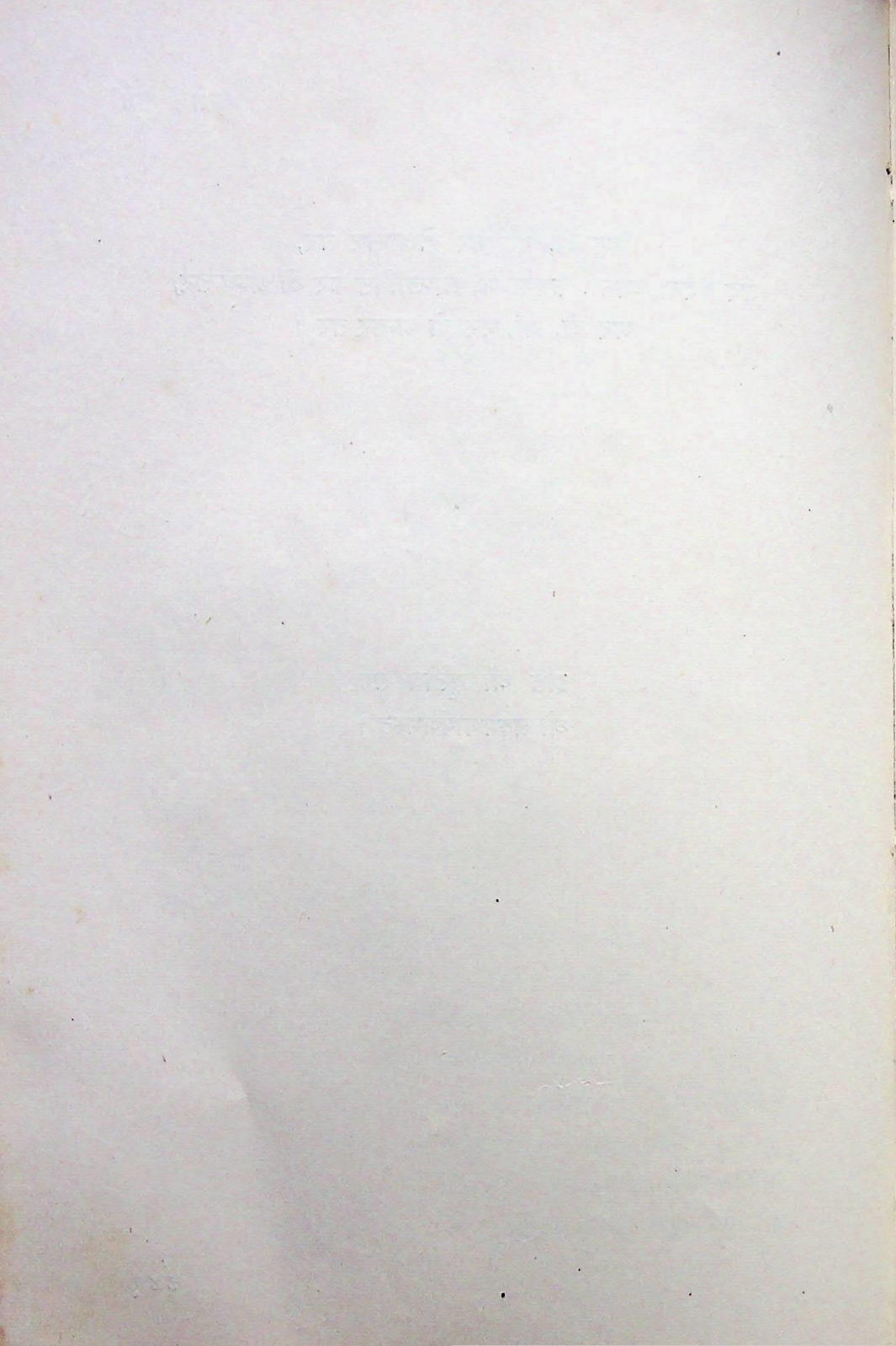
अथ श्री चतुर्थ सर्ग

विरह मीमांसा

१

निर्गुणता वरणावृतकर,
हृदय-स्पन्दन-रण अपना,–
अर्धोन्मीलित नयनों में,
भर विश्व-व्यथा का सपना–
अधरों की स्मिति-रेखा से,
आन्दोलित करता कम्पन,–
क्षण-संक्रम से छुटवाता,
परिरम्भण, हिय-अवलम्बन,–
है ऐसा कौन खिलाड़ी
करता जो यों मनमानी ?
जिस ने संघर्ष दिया, वह–
है कौन वेदना-दानी ?

२

अस्तित्व,–तक्र, हिय,–मटुकी,
वेदना,–रई गति चलिता,
आकर्षण,–रज्जु बना है,
छलकीं बूँदें रस गलिता ;
किस के अदृष्ट हाथों ने
यह मन्थन-दंड सम्हाला ?
यह चिर मन्थन का किस ने,
वरदान शाप दे डाला ?
मथ सृष्टि-तत्व को किस ने
करुणा-नवनीत निकाला ?
किस ने रस-दान दिया यह
नित नया, अतीत, निराला ?

३

जग-हृदय अकारण यों हीं
करता रहता हा, हा, हा,
कुछ है जिसके पाने को,
जग होता है नित स्वाहा ;
व्रण है गहरा, कसके है,
धरने को मिला न फाहा,
कुछ ज्ञात नहीं वह क्या है,
व्रण का अंजन मन चाहा ?
कुछ है, है कहीं, कहाँ है ?
क्या है ? है कितना ? कैसा ?
जिन ने पाया वे कहते :
है वह बस इतना, ऐसा ।

४

अति रिक्त-रिक्त-सा हिय है,
सूना सूना जीवन है,
सूना ही जीवन-पथ है,
सूने जीवन के क्षण हैं ;
अस्तित्व-विटप, करुणा से–
नित सींच रहा है कोई,
फूली जीवन-टहनी पर–
कलिकाएँ धोई-धोई ;
जगती का यह कौतुक लख,
जगती की आँखें रोईं ;
जग गई हिये में सहसा
करुणा कुछ खोई-खोई ।

५

कोई दे रहा यहाँ पर
जीवन में एक उलहना,
बोलो तो, जग में कब तक–
होगा एकाकी रहना ?

हो बड़े ढूँढने वाले,
देखें, ढूंढो हम को तो,
हम यहीं छिपे हैं तुम में,
तुम देखो, कुछ दमको तो ;

अवगुंठन तनिक हटा दो,
कुछ दूर करो तम को तो ;
हम को पाओगे बरबस,
तुम अन्तर में चमको तो ।

६

ये युग पर युग बीते हैं,
कुछ खोज रहा है प्राणी,
तुम कैसे ? छिपे किधर हो ?
हो कहाँ, वेदना-दानी ?

अस्तित्व विहग यह जब से–
जग का हो गया निराला,
जिस क्षण से अवश हुआ है,
जग अहं-भावना वाला,–

जब से यह द्वैत समाया
जगती के अन्तर तर में,
तब से मँडराती करुणा
सब के मानस-अम्बर में ।

७

सुन रहा जगत है कब से
युग-युग की व्यथा-कहानी,
कब से मँडारती है यह,
आतुरता छानी-छानी;
उद्भ्रान्त वृत्तियाँ आईं,
जग भूल गया अपने को,
पागल-सा फिरता, जब से—
सच्चा समझा सपने को;
अपने को सपने में खो,
लुट गया जगत मतवाला,
चढ़ गई बहुत ही गहरी
अस्तित्त्व-रूप की हाला ।

८

है बस, इतनी चेतनता :
वह ढूंढ रहा धन अपना,
है भूला नहीं अभी तक,
अज्ञात नाम का जपना ;
इस मद में भी तो उसको
वेदना सताती रहती,
भटकाती है वह निशि दिन,
अन्तस्तल रहती दहती ;
पीतम के इस बिछुड़न की,
वेदना बड़ी गहरी है ;
स्वप्निल अतीत की संस्मृति,
आकर्षक है, जहरी है ।

९

जग में, प्रशान्त निर्गति से—
गति आविर्भूत हुई है,
उस क्षण से प्रति अणु-कण में,
वेदना प्रसूत हुई है ;

अव्यक्त भाव से जग यह
जिस क्षण से व्यक्त हुआ है,
यह विश्व ईश के हिय से—
जिस क्षण से त्यक्त हुआ है,

उस दिन से उस ही क्षण से,
उट्ठी ह व्यथा पुरानी,
अणु-अणु में समा गई है,
यह विरह-वेदना-रानी ।

१०

जग को विभु ने अपने से
है अलग किया जिस दिन से,
यह पुनर्मिलन-उत्कंठा
हिय में उमड़ी उस छिन से ;

है असन्तोष-सा मन में,
कुछ असम्पूर्णता-सी है,
परितृप्ति नहीं मिलती है,
यह यात्र्चाऽमोघा-सी है ;

मानो सालस हाथों से,
उड़ जायँ अचानक तोते ;
ज्यों लुटें सुसंचित निधियाँ,
सब रहें नींद में सोते ।

११

अक्षर से क्षर प्रकटा है,
निर्गुण से सगुण हुआ है,
वह एक अनेक बना है,
वह विगुण, सुनिपुण हुआ है,
अब सगुण, अगुण होने को–,
यों अकुलाता है छिन-छिन,
क्षर, अक्षर में मिलने को
दिन बिता रहा है गिन-गिन,
अपना पन पा जाने की,
है यही एक आकुलता,
खट-खट निशि-दिन होती है,
देखें यह पट कब खुलता ?

१२

रह रह कर कोई गायक,
मन में स्वर सींच रहा है,
तम्बूरे के तारों को,
छिन-छिन में खींच रहा है,
स्वर-साम्य नहीं मिल पाता,
ढीली खूँटियाँ पड़ी हैं;
है तार-तम्य बिखरा सा,
दरकी तूँबी, लकड़ी है;
स्वर-तान कहां से उट्ठे ?
स्वर-साधन रंच नहीं है,
सुस्वर वह नहीं निकलता,
केवल वेदना यही है ।

१३

अचरों में व्यथा भरी है,
चिर आकर्षण मिस, विभु ने,
सचरों में करुणा फूँकी,
इस संघर्षण मिस, विभु ने,

जड़ में भर दी है करुणा,
अणु को गति-बन्धन दे कर,
चेतन में व्यथा उँडेली,
जीवन-निस्पन्दन देकर,

अब अखिल विश्व में प्रति छिन,
यह हा-हा-कार मचा है ;
लीलामय ने यह नाटक
क्या ही अदभुत विरचा है !

१४

घन उमड़ें,–हिय भी उमड़े,
घन बरसें,––आंखें बरसें,
लू चले हृदय में तब, जब–
जड़ जग निदाघ में तरसे;

क्या ही विभु ने भेजा है–
यह अपरस्पर अवलम्बन,
जड़-चेतन का प्रकटा है,
आलिंगन, मुद परिरम्भण ;

पर, प्यास नहीं बुझती है,
लग रही आस की फाँसी,
आ जाओ, अलख खिलाड़ी,
तुम डाले गलबहियां सी ।

१५

जड़ जग का सारा वैभव
चेतन ने प्रकट किया है,
चेतन को स्थिर अवलम्बन
जड़ जग ने यहां दिया है,
फिर भी न तोष पाया इन,–
आदानों प्रति दानों से,
सन्तुष्टि नहीं हो पाई
आपस के सम्मानों से ;
रह गई अतुष्ट पिपासा,
है हूक उठ चली हिय की,
यह हूक मिटेगी तब, जब,
मूरत देखेंगे पिय की ।

१६

कलियाँ रोतीं टहनी पे,
रोते प्रसून डाली पे,
पत्तियाँ बिलखती हैं ये
बेलों की प्रति जाली पे ;
लतिकाएँ रो-रो गिरतीं
विटपों के वक्ष स्थल पर,
झर रहे ओस के आंसू
वन-उपवन में छल-छल कर ;
करुणा-जल सिंचा हुआ है
जग की क्यारी-क्यारी में,
है भरा व्यथा का पानी
इस जीवन की झारी में ।

१७

जब अनिल सिसकती आती
पूछने बात कलियों की,
तब व्यथा सुना जाती है
वह जग की सब गलियों की;
तृण, पर्ण, प्रसून, विटप, दल,
सुनते हैं व्यथा-कहानी,
सुन कर वे ढरकाते हैं
अपने अन्तर का पानी ;
अपनी स्वीकृति देते हैं,
डुल-डुल कर मन्द पवन में
करुणा ही करुणा रहती,
है गृह, वन में, उपवन में।

१८

जीवन की सिसक भरी है
तरु में, गुल्मों में, तृण में,
ज्यों कसक भरी रहती है
गहरे पीड़ामय व्रण में,
प्रच्छन्न प्रेरणा बन के
छिन-छिन में उठ उठ आती
तरु में जीवन-रस बन के,
वह पर्णों में लहराती,
कोंपल बन-बन कर फूटी
जीवन की सिसक रसीली,
बन गई बेल, वल्लरियां,
कलिका बन गई लजीली।

१९

पतझड़ में अरुझानी-सी,
नव द्रुम-दल में उलझी-सी,
वेदना नित्य जीवन की,
आई सुलझी-सुलझी सी ;

वल्कल के अन्तर-तर में,
रस-गति संभूत हुई है,
रस-आरोहण के मिस-से
वेदना प्रसूत हुई है ;

जीवन की पैनी पैनी–
नन्हीं-नन्हीं-सी सुइयाँ,
चुभ गईं सृष्टि के हिय में,
झर उठीं बिथा की फुहियाँ ।

२०

अटकी विकास-उत्कंठा–
कलियों के अस्फुट उर में,
ज्यों गमन-लालसा उलझे
पिय के झंकृत नुपूर में,

कुसुमों के फूले हिय से
आंसू झर रहे व्यथा के,
कुछ अकथ कथा कहते हैं,
आडोलित पर्ण लता के ;

है चिर वियोग-दुख अंकित
द्रुम की पत्ती-पत्ती में,
है भरी व्यथा फूलों की
रज की रत्ती-रत्ती में ।

२१

उद्ग्रीव हुए, आतुर से,
तरु किसको बुला रहे ये ?
कुछ सैन निमंत्रण देते,
क्यों बाहें डुला रहे ये ?

है कौन पाहुना जिसकी
हिय बीच प्रतीक्षा धारे,
हैं खड़े खड़े कब से ये,
मुरझाए विटप बिचारे !

इन को आमंत्रण देते
हैं वर्ष सहस्रों बीते,
पर आए नहीं, अभी तक
वे निठुर अतिथि मनचीते ।

२२

आतुरता लिए पधारीं
सज-सज पत्तियाँ नवेली,
हैं नृत्य कर रहीं कब से
अकुलाती यहां अकेली,

नव अभिसारिका बनीं ये
द्रुत पवन-यान पे चढ़ के,
पिय को ढूँढने चली हैं,
उड़-उड़ दिन में पतझड़ के,

ससुराल पत्तियाँ चल दीं
बिछुड़ीं शाखा-जननी से,
पर मिल पाईं न अभी तक
अपने पिय सजन धनी से ।

२३

शाखाओं से हहराती
बह रही निमंत्रण करुणा,
नव किसलय दल के मिस से
कँप उठी वेदना अरुणा,

यह जीवन-सिसक निराली
अभिव्यक्त हो उठी छिन-छिन,
यह क्षणिक चेतना रोई
पूरन अनन्त जीवन बिन,

चिर जीवन का आवाहन
करते शतियां बीती हैं,
वृक्षों पत्तों को आहें—
भरते शतियां बीती हैं ।

२४

कोयलिया विरह-भरी-सी
विष बुझे बोल बोले है,
वह कुऊ कुऊ के मिस से
नभ में करुणा घोले है,

अन्तस्तल की ज्वाला से
पड़ गई कोकिला काली
उस कूक-हूक से कांपी
सब आमों की हरियाली,

उमड़ी कोयल कंठों से
पिय-मिलन-बिथा मतवाली,
पत्तियां कँप उठीं रह-रह
सिहरी प्रति डाली-डाली ।

२५

रो-रोकर बिलख रहा है
यह काग दरद-दीवाना,
कां-ओ कां हो ! तुम निष्ठुर,
यह भेद नैक बतलाना,
इस की-की, कहां-कहां में
सब समय बीतता जाता,
आशा कह रही कि पीतम
अब आता है, अब आता,
इस अब-अब की जब तब में,
लगभग सब जीवन बीता,
जब तनिक टटोला हिय को
पाया रीता का रीता ।

२६

विहगों के कल कूजन से
हिय करुणा उमड़ रही है,
पंखों के फैलाने में
आतुरता घुमड़ रही है,
उनको चटपटी लगी है
साजन के दरस-परस की,
हिय के निस्पन्दन के मिस
अन्तर की करुणा कसकी,
है नित अनन्त जीवन वह
सुषमा पाने को जिसकी,–
जग भर की विहगावलियाँ
कूजन मिस रोईं सिसकीं ।

२७

खंजन न फुदक प्रकट की
अन्वेषण मय आकुलता,
प्रकटी मयूर-पंखों से
दुख की चित्रित संकुलता,
प्रकटी कपोत-कूजन में
आकंठ व्यथा-मंजुलता,
मैना ने अमित प्रकट की
निज अहं-स्वभाव-विफलता,
कह के भी मैना, मैं-ना,
खोई तन्मयी मृदुलता,
कर दी विनष्ट क्षण भर में,
अपनी वह परम अतुलता।

२८

खंजन चंचलता प्रकटी
अंजलिगत चल पारद सी,
कुछ लगी ढूंढने रह-रह
वह आतुर विकल दरद सी,
छिन उलझी कुछ दानों में,
वह छिन ठिठकी, छिन अटकी
छिन इधर, छिन उधर फुदकी
छिन यहाँ, छिन वहाँ भटकी,
वह घड़ी-घड़ी अकुलाती,
कुछ ढूंढ रही हिय-रंजन,
पर पा न सकी वह अब तक
निज खंजन-रूप निरंजन।

२६

केकावलियाँ सब नाचीं
घन-गर्जन की ध्वनि सुन के,
डग मग पग थिरक उठीं वे,
हिय थिरक उठे सब उनके,
आँखों से खूब लुटाई
आंसू-लड़ियां चुन-चुन के,
युग-युग से नाँच रहे हैं,
हैं मोर बड़े ही धुन के,
अकुलाए हैं दर्शन को
वे सब उस नृत्य-निपुण के,
जिस ने लघु जीवन दे कर,
बांधे दृढ़ बंध त्रिगुण के ।

३०

दिन रैन कबूतर अपनी
कहते हैं गुटुर-कहानी,
कंठों से छलकाते हैं
वेदना व्यथा अनजानी,
जीवन के वाण लगे हैं,
हो रही यहाँ मनमानी,
कुछ भेद न खुल पाया है,
हैं यां सब बातें छानी,
यह भेद भरम क्या समझें
मूरख कपोत अज्ञानी ?
पर, व्यथा प्रकट करती है
यह गुटुर गुटुर मय बाणी ।

३१

कहती है छद्म कहानी,
मैंना मैं-ना कह-कह के,
यदि तू है 'ना' तब फिर क्यों–
कहती 'मैं' ना रह-रह के ?

पिय से विरहित हो 'मैं' के
धक्के खाए सह-सह के,
क्यों खोया निज को 'मैं' की
इस सरिता में बह-बह के ?

पड़ कर 'मैं' के फन्दे में
अलबेला पीतम खोया,
बस उसी घड़ी से निशि-दिन
हिय रोया, मानस रोया।

३२

सन्ध्या के श्यामल क्षण में
चिर दीप-शिखा-सी जलती,
जड़ता के काले तल में
जीवन की सिसक उछलती,

सन्ध्या आ फैलाती है
अँधियाले रँग का अंचल,
उस में भर देता कोई
गहरी वेदना अचंचल,

चल मन्द समीरण के मिस
कँप उठते हैं सूने क्षण,
अस्तित्व-व्यथा से कम्पित
होते वसुधा के कण-कण।

३३

भुटपुटे समय में कोई
नीरव गायन गाता है,
मानस-दिङ्मंडल को यह
कम्पित करता जाता है

लाता है कहाँ-कहाँ से
स्वर-सामंजस्य निराला ?
ऐसा स्वर फूँक रहा है,
पड़ता छाले पर छाला,

भर दे, हाँ, निर्दय भर दे,
तू रिक्त हृदय में करुणा,
अँधिआरे में उसका दे
तू दीपशिखा वह अरुणा ।

३४

छिन्नाभ्र, लालिमा-रंजित
नभ-बीच डोलता रहता,
मानो क्षत, भ्रमित पथिक-सा
वह पथ टटोलता रहता,

या सई साँझ वह नभ में
मन लगन रोलता रहता,
अथवा दिनमणि किरणों का
सिन्दूर घोलता रहता,

प्रति सन्ध्या को नभ स्थल में
बादल की नित की क्रीड़ा,
बरसाती ही रहती है
तन मन की आकुल पीड़ा ।

३५

सन्ध्या क्या आती मानो
ढल जाता यौवन दिन का,
काला सा पड़ जाता है
चम-चम उजियाला छिन का,

सन्ध्या बटोर लाती है
दिन की स्मृति आह-भरी-सी,
उजियाली-सी, गोरी-सी,
सुख - संस्मृति - चाह - भरी - सी

सन्ध्या के अनु-अनु छिन क
इस गुँथे हुए धागे में,
हैं टँकी सुसंस्मृति-मणियाँ
क्षण के काले तागे में।

३६

उजियाले को अँधियाला
आ ढँक लेता है ऐसे,
श्यामल अंचल ढँकता है
सुकुमार गौर मुख जैसे,

झीने अँधियाले पर से
उजियाली बिथा चमकती,
ज्यों दर्शन-आतुर आँखें
घूँघट की ओट दमकतीं,

गहरा होता जाता है
छिन-छिन अँधियाला जग में,
ज्यों घिरती निपट निराशा
चिर प्रेम-प्रतीक्षा-मग में।

३७

इन सूने-सूने क्षण में
मन में खुट-खुट होती है,
आकांक्षा निरी अकेली
भोली लुट-लुट रोती है,
नित घनी साँझ की बेला
कोई डाकू आता है,
बटमार निपट सूने में
सब कुछ लूटे जाता है,
हिय-तल अकुलाता रहता
सन्ध्या के प्रति पल-पल में,
अँधियाला बिम्बित होता
लोचन के कम्पित जल में ।

३८

धूमिल-सा होता जाता
इस नभ का नीला अम्बर,
आती हैं पहन-पहन ये
दिग्वधुएँ श्याम दिगम्बर,
दुख भरी निराशा-सी कुछ,
कुछ भ्रान्त श्रान्त आशा-सी,
मन-नभ में छा जाती है
कुछ क्लान्ति, मूक भाषा-सी,
सन्ध्या के इस अंचल में,
कम्पित-सी, अश्रु-सनी-सी,
ना जानें किसने भर दी,
यह इतनी व्यथा घनी-सी ?

३९

सन्ध्या को थपकी दे के
चुपके से गोद सुलाती,
आती है करुण तमिस्रा
निज अंचल-छोर डुलाती,

निशि के अँधियारे में है
संचित दुख की परछाई,
इस घनी कालिमा में है
चिर विप्रयोग की झाँई,

जल भुन कर ज्योति-विरह से
पड़ गया अँधेरा काला,
पर कहीं न दीखा अब तक
अँधियारे में उजियाला ।

४०

रह-रह कर नभ-मंडल में
उडुगण चमके कँप-कँप के,
अथवा दुख-भरी निशा के
दुख के सब छाले तपके,

इस धीर पवन के मिस से
यह पुंज उठा आहों का,
अँधियारे के मिस आया
यह दल निराश चाहों का,

चुपके ओसों के आँसू
ढरका के रतियाँ रोईं,
निःशब्द, मौनमय क्षण में
अपनी सुधबुध सब खोई ।

४१

जब पूर्व-निशा यह परिणत–
हो जाती अर्ध-निशा में,
तब हृदय-वेदना आकुल
मँडराती सकल दिशा में,

अवलम्ब ढूंढती फिरती
है निरवलम्ब लघु आशा,
अँधियारे में मिलती है
उसको नित निपट निराशा,

अति श्रान्त, निशा पगली-सी,
यह मार्ग-क्रमण करती है,
चिर अभिसारिका बनी यह
उद्भ्रान्त भ्रमण करती है।

४२

भींजी है ओस-कणों से,
यह अर्ध-रात्रि दुखियारी,
चू-चू कर टपक रही है
उसकी अँधियारी सारी,

पीतम की मगन लगन म
रात्रि ने बिता दी घड़ियां,
रो रोकर खूब भिगोई
सब समय-शृंखला-कड़ियाँ,

पर जिस ने दिन-छिन दे कर
यह दिया रात को ताना,
ढूँढे भी मिला न अब तक
वह अलबेला मस्ताना।

४३

ना जाने कहाँ छिपा है?
है कहाँ पिऊ की बस्ती?
कण-कण क्षण-क्षण जन-मन में,
सुनते हैं उसकी हस्ती,
पर हाय, द्वैत-अवगुंठन
हा, अपनेपन की मस्ती,
जग गहरी ढाल चुका है
हस्ती की मदिरा सस्ती,
हाँ, इसीलिए तो रातें—
ये, बुला-बुला कर हारीं,
पर अब तक वह न मिला है,
थक बैठीं खोज बिचारी ।

४४

जब कभी-कभी आती है
निशि पहिन चाँदनी साड़ी,
तब और दूर हो जाता
वह पीतम अलख खिलाड़ी,
हाँ, इसीलिए उजियाली—
रातों में बिथा बढ़े है,
ज्योत्स्ना में, इसीलिए तो,
यह दूना जहर चढ़े है,
निशि ढूँढ रही है पिय को
ममता की ज्योति जगा कर,
पर, वह मिलता है उस क्षण
जब ढूँढो स्वयं ठगा कर ।

४५

वह रति-रस-गोप्ता, शाश्वत,
वह प्रीति-रीति-रत, मानी,
वह प्रेम-नेम-निर्माता,
वह अलख-वेदना-दानी,
वह, जो चोटों पर चोटें
देता है छानी-छानी,
वह, जिसकी टेव यही है,
युग-युग की बड़ी पुरानी,
वह कब मिलने वाला है
अहमस्मि-रूप-ज्योत्स्ना में ?
वह तो छिटेगा आके
सोऽहं-अनूप-ज्योत्स्ना में ।

४६

निशि की अपनी उजियारी,
निशि की अपनी अँधियारी,
नित उसको ढूंढ रही हैं,
ये दोनों पारी-पारी,
ना जाने कितने-कितने
ये युग अनन्त बीते हैं ?
पर अब तक पड़े हुए सब,
क्षण, पलक, हस्त, रीते हैं
है विरह-कथा यह लम्बी,
अन्वेषण-कथा पुरानी,
है प्रीति रहस्यमयी यह,
रस-सनी भाव अरुझानी ।

४७

जब परिणत अपर निशा में
यह मध्य निशा हो जाती,
तब थकित यात्रिणी-सी वह
झुक कर कुछ-कुछ सो जाती,

यों ही सोती-सोती-सी
वह सहसा लुट जाती है,
उत्सुक ऊषा की झाँई
नभ में जुट-जुट आती है,

ऊषा निहारने लगती
निशि का अन्वेषण-सपना,
वह भी विस्फारित नयना
ढूँढती कलाधर अपना।

४८

ऊषा की उन आँखों में
है अचरज भी, वाञ्छा भी,
उन में चिर-जीवन भी है,
नवजीवन की याञ्चा भी,

जग-मग निहार कर जग को
आश्चर्य भरा नैनों में
जग नायक के पाने का
औत्सुक्य भरा बैनों में,

ऊषा जग-नट-नागर को
नित ढूँढ-ढूँढ कर हारी,
उत्कंठा लिए हिये में,
यों ही रह गई बिचारी।

४९

ऊषा के मंजुल क्षण में
कौतुकमय करुणा छलकी,
प्रिय-दर्शन की उत्कंठा
मानों नयनों से ढलकी,

लाली सी फैल गई कुछ,
कुछ उजियाली-सी छाई,
ज्यों शुभ्र वस्त्र पर, हिय ने—
आरक्त फुई बरसाई,

जग कुछ चिहुका, कुछ उभका,
कुछ झिझका उन्निद्रित-सा,
कुछ लगा ढूँढने रह-रह,
सालस सा, कुछ तन्द्रित सा ।

५०

आता प्रभात कर में ले,
रवि-दीप-आरती थाली,
मुखरित हो उठती सहसा,
हर पत्ती डाली-डाली,

करता आरती नियम से
प्रतिदिन यह सुभग सबेरा,
पर, उसे मिला न अभी तक
इस जग का चित्र-चितेरा !

यह व्यक्त सबेरा जिस दिन,
अव्यक्त काल हो लेगा,
उस दिन पिय को पाएगा,
जब अपना पन खो देगा ।

५१

हैं अष्टयाम तप करते
रवि अंशुमान तपधारी,
हैं ढूँढ रहे कुछ, निशि-दिन
यों बने हुए नभचारी,
है कुछ धुन इन्हें, बने जो–
ये ऐसे! गगन बिहारी,
विश्राम नाम को भी ये
भूले हैं कलमष हारी,
है खोज इन्हें जिसकी वह
है छिपा कहीं ऐसे स्थल,
है जहाँ न गति गति की भी,
है वह थल निभृत विविस्थल।

५२

प्रति निमिष, मुहूर्त, प्रतिक्षण,
प्रति पल, प्रति घटिका, सरणी,
ये सब मिल फेर रहे हैं
उसकी सन्नाम-सुमरनी,
आते-जाते ये निशि-दिन,–
यह उजियारा, अँधियारा,
यह आकर्षण, अपकर्षण,–
घन गर्जन, यह जलधारा,–
ये देश काल घटनायें,
ये चलन कलन मय कृतियाँ,–
नित प्रति सब ढूँढ रहे हैं
विभु के रहस्य की सृतियाँ।

५३

क्षण-क्षण में इसीलिए तो
अन्वेषण-व्यथा भरी है,
कण-कण में इसीलिए यह
आकर्षण-कथा भरी है;

जड़ आकर्षण, आतुरता—
ढुलका-ढुलका, बहता है,
चेतन हिय यह कँप-कँप के,
नित क्वासि ? क्वासि ? कहता है;

परदे में छुप के, निष्ठुर,
क्यों देते हो यह पीड़ा ?
मत विलग रहो इक छिन भी,
अब आओ करते क्रीड़ा।

५४

आ जाओ ठुमुक-ठुमुक के
जल-थल में, जड़-चेतन में,
हो जाओ प्रकट सलोने,
क्षण-क्षण में, औ कण-कण में,

जग की वियोग की ज्वाला
कुछ शान्त करो, आ जाओ,
ब्रह्माण्ड निखिल को अब मत
तुम और अधिक बिलखाओ ;

जब से ब्रह्माण्ड हुआ है
तुम से यह अलग अकेला,
प्रत्येक बिन्दु में तब से
भर गया दरद अलबेला।

५५

मानव-हिय में बिम्बित है
इस चिर-वियोग की झाँई,
है इसीलिए जीवन में
पड़ रही दुःख-परछाँईं,
आँसू, हिचकी, आहें ये
हृदय-स्पन्दन, आकुलता,
यह लगन बावरी, भोली,
यह हिय-वेदना-अतुलता ;
हिय का खिंच-खिंच के क्षण-क्षण
यों टुकड़े-टुकड़े होना,
हैं ये चिर दुख के प्रतिनिधि
यह करुण गीत, यह रोना ।

५६

यह चिर अतीत दुख-गाथा,
यह नित नवीन विरहानल,
यह क्रम अनन्त सम्भ्रम का,
यह अचल वियोग हिमाचल,
यह असन्तोष, यह तड़पन,
यह लगन अटपटी बौरी,
आँखों का लग जाना यह
हिय का खिंचना बरजोरी,
ये सब मानव-अन्तर में
चिर विप्लव मचा रहे हैं,
हृदय-स्पन्दन के मिस ये,
सब जग को नचा रहे हैं ।

५७

आँसू उमड़े अन्तर से,
चिर हिय-मन्थन के फल ये,
सम्भूत हुए हृत्तल में,
वेदना-प्रसाद-विकल ये,
चिर विरह-वल्लरी पर ये
अभिषिक्त ओस-जल-कण से,
झर उठे आह-आलोड़ित,
सुकुमार तरल कम्पन से,
नित मगन लगन-लतिका के
ये कीर्णित, कुसुम कलित से,
अति अतल विरह-वारिधि के
ये मोती अमल, ललित से।

५८

जीवन में चलते-चलते
मिल गई वेदना-बाला,
अति प्रखर विरह-शूलों से
पड़ गया हिये में छाला;
पीतम का मान मनाने
हिय अकुलाया मतवाला,
आँखों ने बड़े जतन से
गूँथी यह मोहन-माला;
पिय के अदृष्ट चरणों में
लिपटीं ये तरला लड़ियाँ
अथवा पड़ गईं अलख-सी
ये स्नेह-शृंखला-कड़ियाँ।

५९

आँसू से सींच रहा है,
जीवन का पादप कोई,
पत्तियाँ मनोरथ की ये
सिहरी हैं धोई-धोई,
जीवन-ऋतुओं को हिय ने
पावसमय बना दिया है,
सब आशाओं को इस ने
क्या ही अनमना किया है ?
जब देखो तो बादल-सा
उमड़ा-घुमड़ा रहता है,
जब देखो, दम बेचारा
उखड़ा-उखड़ा रहता है ।

६०

वेदना-अथक पनिहारिनि,
है आह लचीली रसरी,
हिय गहर गभीर कुँआ है,
हैं नयन छलकती गगरी,
है स्मृति रस्सी का फन्दा,
संकल्प बना घट-भ ब भ ब,
श्वासारोहण अवरोहण
है घट का खिंचना जब-तब,
भर-भर कर ढरकाती है
वेदना नयन-गगरी को,
पंकिल कर-कर देती है
लघु आशा की डगरी को ।

६१

विस्तीर्ण प्रतीक्षा पथ के
ये समय-क्षण रजकण हैं,
नैराश्य-कुहू छाई है,
आशंका रूप पवन है ;
कम्पित विश्वास-लकुटिया,
है लगन दीप की बाती,
आशा-यात्रिणी अकेली,
छिन-छिन कँपती, अकुलाती ;
मग जोह रही हैं कब से
प्यासी आँखें अकुलानी,
अन्तर्ज्वाला बह निकली
हो कर के पानी-पानी ।

६२

क्या ही विचित्र कौतुक यह–
अंगारों से जल टपके,
पत्थर से पानी निकले,
पानी में लपटें लपकें,
मँडराते हुए धुँए में
भर देता कोई पानी,
वह अलख वेदना-दानी
करता है यों मन-मानी ;
आँसू, विरोध-छाया के
हैं तत्त्व-रूप ये मानो,
वा मूक पुकारों के हैं
अपनत्त्व-रूप ये मानों ।

६३

इच्छा–कारीगरनी है,
सुन्दर कल्पना-भवन है,
आँखों के ये डह-डहते
आकुल से वातायन हैं,
सोपान, आँसुओं के ये
चढ़ने को बने वहाँ पर,
चढ़ते-चढ़ते फिसले है
आशा कँप-कँप कर थर-थर,
ओ निठुर नैंक आकर के
तुम पाँव थाम दो इस के,
देखो, बेचारी कब से
यह खड़ी-खड़ी है सिसके।

६४

ये आँखें भिगो रही हैं
पिय-पथ के धूल-कणों को,
नित्य-प्रति सींच रही हैं
ये विरह-त्रिशूल क्षणों को,
विस्तीर्ण प्रतीक्षा-पथ को
जल-सिक्त कर रही हैं ये,
अथवा रसमय हिय-निधि को–
नित रिक्त कर रही हैं ये,
उतराती सी अकुलाती,
झर-झर आती हैं जब-तब,
बिन कहे अकारण ही ये,
भर-भर उठती हैं डब-डब।

६५

प्रिय-पथ बुहारती रहतीं
दृग पक्ष्म सुसम्मार्जनियाँ,
आँखें बरसाती रहतीं
छिन-छिन में जल की कणियाँ,
पीतम आवें रिमझिम में,
इस आशा से झर-झर के,
ढरकीं रस की धाराएँ,
नयनांजलियाँ भर-भर के,
आते ही होंगे प्रीतम,
यह साध हिये में धर के,
जी उठी शिथिल हिय-आशा,
वह कई बार मर-मर के।

६६

इस अलग-थलग सत्ता को,
इस स्वार्थमयी रटना को,
इस स्वकेन्द्रिता माया को,
इस वैयक्तिक घटना को,
उत्सर्ग-स्वरूप बनाया,
करुणा-रस पूरित करके,
हिय कूप, समुद्र बनाया,
यह लवण अश्रु-जल भर के;
है बड़ी ईश-अनुकम्पा,
सकरुण हृदय-स्पन्दन से—
छुट गई भावना मन की
दृढ़ स्वार्थ मूल बन्धन से।

६७

है अश्रु–तत्व प्रजनन का,
है अश्रु–सार संसृति का,
है अश्रु–तार बिधना की
इस मोहनमाला कृति का,
व्यक्ति में व्यक्ति गुम्फित कर–
इस जल की तरल लड़ी में,–
सामूहिकता उपजाई
वैयक्तिक कड़ी-कड़ी में,
करुणा विगलित धारा के–
धागे में गुँथा सकल जग,
नयनों से सिक्त हुआ है,
कँकरीला जीवन का मग ।

६८

कितनी ही विरह-स्मृतियाँ
हैं गुँथी अश्रु-लड़ियों में,
उमड़ीं अनेक चिन्ताएँ
इन रोदन की घड़ियों में,
हैं गुंथे वेदना-मोती
आँसू की तरल लड़ी में,
ज्यों उलझा हो हिय-कम्पन
सकरुण संगीत-कड़ी में,
हिय की सब संचित करुणा
नित झरती ही रहती है,
अनजाने लोचन-पथ में
कुछ डरती-सी बहती है ।

६९

जग क्या है ? करुण विरह की
धुँधली-सी परछाई है,
जग-नयनों की बूँदों में
अपने-पन की झाँई है,

जब अश्रु-सलिल में 'मैं' ने
प्रतिबिम्ब निहारा अपना,
तब मूर्त-रूप बन आया—
मन का यह कल्पित सपना,

अश्रु के बिम्ब से प्रकटीं
सचराचर की क्रीड़ाएँ,
परछाँई से प्रकटी हैं
ये करुण विरह-पीड़ाएँ ।

७०

है प्रलय-अश्रु का शोषण,
उद्भाव-अश्रु-वर्षण है,
संकर्षण-शून्य प्रलय है,
उद्भव-हिय संघर्षण है,

आँसू सूखे, जग डूबा,
आँसू बरसे, जग सरसा,
आँसू के सिंचन से है
यह सब जग अजर-अमर सा;

जग आँसू की खेती है,
है विश्व बूँद नैनों की,
है सृष्टि एक प्रति-छाया
उन अलख नैन-सैनों की ।

७१

आँसू प्रणोदनामय हैं,
आँसू हैं प्रेरक कृति के,
आँसू आधार बने हैं
इस निराधार संसृति के,
रति-प्रेरक, मति-गति-प्रेरक,
संगीत-प्रणोदक आँसू,
आँसू—ध्वन्योत्पादक ये,
ये प्रीति-प्रमोदक आंसू,
प्रतिबिम्बत करते बहते
युग-युग की व्यथा पुरानी,
छल-छल कर कहते रहते,
हिय की वेदना-कहानी ।

७२

करुणा ने विगलित करके,
अन्तर के अटल उपल को,
प्रकटाया प्रीति-व्यथा के
अति विरहित तरल सुफल को,
लोचन-खिड़कियाँ उघाड़े
आते हैं ललक-ललक ये,
हिय-भवन रिक्त-सा करते
जाते हैं ढलक-ढलक ये
भीगा वक्षस्थल, भीगे—
ये लोल-कपोल, पलक ये,
झर गिरे श्वास आकर्षित,
जीवन-तरु के अमलक ये ।

७३

अति दूर, सुदूर न जाने
कितनी दूरी से आता,
वंशी का वह स्वर-कंपन
आकर हिय तरसा जाता;
आ रही कहाँ से, बोलो,
ध्वनि, मींड, मरोर सिसकती,
अन्तर में पैठ रही है,
आतुर सो तनिक झिझकती;
स्वर-दरद दिया है जिस ने
वह अलख बाँसुरी वाला,
छिप रहा कही अन्तर में,
पहने आँसू की माला।

७४

स्वरमय वादन-साधन में
भर अमर बिथा अलबेली,
उलझा दी फिर से किस ने
करुणा की गूढ़ पहेली?
संगीत-प्रसारण के मिस
कंठों से उमड़ी करुणा,
स्वर-अवलम्बन वाद्यों से,
वह उठी वेदना अरुणा,
गायन में रोदन भर के
जग लूट लिया छिन भर में,
किस ने करुणा यह भर दी
संगीत सुधामय स्वर में?

७५

भूमंडल और खमंडल
तूँबियाँ बनीं ध्वनि-चलिता,
नक्षत्रों की अगणित-सी
खूँटियाँ बनीं प्रज्वलिता ;
आकर्षण-अपकर्षण के
तारों का जाल बिछा है,
चिर काल-दारु है, उस में-
करुणा-संगीत खिंचा है ;
है वीणकार पट पीछे
स्वर पीड़ा सरसाता है
ध्वनि-विन्यासों के मिस से,
नित करुणा बरसाता है ।

७६

ब्रह्मांड-रूप वीणा की
लघु वाणी प्रतिछाया है,
हाँ, इसीलिए इस में भी
कारुणिक सुरित-माया है ;
करुणा रुण-रुण कर बहती
तारों की झंकारों से,
हिय आकुल हो उठता है
कम्पित ; स्वर-संचारों से ;
स्वर की मरोर से लगती
प्राणों को आकुल फाँसी,
संस्मरण और कस देते
साँसत की वह स्वर-गाँसी ।

७७

आकाश-रूप बाँसुरिया,—
शून्यता-रन्ध्र अगणित हैं,—
नित वायु-श्वास से निशि-दिन
यह मनहर वेणु क्वणित है ;
नित अलख अँगुलियाँ करतीं
स्वर-गतियों का परिचालन,
यों ही जग में होता है
करुणा-व्रत का प्रतिपालन ;
वेदना जगा देते हैं
स्वर पैठ-पैठ अन्तर में,
भर देते हैं स्वर-पीड़ा
जगती के अभ्यन्तर में ।

७८

बज उठती है कम्पित-सी
मुरली, सुर-लीला करती,
उत्कंठा जागृत करती,
अन्तस्तल में ध्वनि भरती ;
ये प्राण आप ही बरबस
खिंच जाते हैं ध्वनि सुन के,
बन्धन ढीले पड़ते हैं
सब लोक-लाज के गुण के ;
दे रहा दरद चुपके से,
वह अलख बाँसुरी वाला,
प्राणों को तड़पाता है,
वह पीर-पाँसुरी वाला ।

७९

जब कूक भरी वंशी यह
हिय हूक जगा जाती है,
तब सूने अन्तस्तल में
चिर-लगन लगा जाती है;

रन्ध्रों से सप्त स्वरों की
उलझी-सी पीड़ा बहती,
वह रोम-रोम को अह-रह
क्षण-क्षण सिहराती रहती;

स्वर-टीप मुरलिया की सुन
हिय-टीस रसक उठती है,
आमंत्रित अभिलाषा की
यह सिसक, कसक उठती है।

८०

स्वर बड़ी दूर से आते
सूनेपन में रह-रह के,
स्वर संग मिलन की स्मृतियाँ
आ जाती हैं बह-बह के,

आतुरता से भर जाते
पल निमिष, सभी अहरह के,
अन्तर में स्वर घुसते हैं
कानों में कुछ कह-कह के,

ओ विश्व-दरद-दीवाने,
ओ अलख-वेदना-दानी,
क्यों फैली, तनिक बता दो,
जल थल में बिथा परानी ?

८१

वीणा, तम्बूर, सरंगी,
यह बाँसुरिया धुनवाली,
ये तार ताँत के बाजे,
यह मुद मृदंग गुणवाली ;
श्वासोत्प्राणित मृदु स्वर ये,
अंगुलि-प्रहार-मय यह लय,
ये सब देते रहते हैं
नित अमित व्यथा का परिचय,
यह विश्व-वेदना क्यों है ?
क्यों है यह चिन्तन-पीड़ा ?
ओ लीलामय, तुम यों क्यों
करते हो करुणा-क्रीड़ा ?

८२

सुख की गहराई में भी
शाश्वत दुःख की झलक है,
आनन्द मुदित नयनों में
चिर निरानन्द अपलक है ;
दुख ही दुख लहराता है
सुख के अस्थिर हियतल में,
बड़वानल मँडराता है
कल्लोलित क्षुब्ध अतल में ;
संगीत-लहर से रह-रह
जग में करुणा उमड़ी है,
रोदन कंपन से झंकृत
गायन की कड़ी-कड़ी है ।

८३

संभूत महाभूतों में,
उद्भूत वनस्पतियों में,
संचरित प्राण लहरी में,
जीवनोत्क्रमण-गतियों में,
है छिपी एक आतुरता,
वेदना एक गति चलिता,
सब में है झलक दिखाती
अरुणा करुणा उच्छलिता,
ना जाने, किस क्षण, कैसे,
जग गई ज्योति प्रज्वलिता ?
है बहा रही आँसू यह,
विगलिता वेदना ललिता ।

८४

अँधियारे-उजियाले में,—
अणु-अणु में, रज-कण-कण में,—
इन सब पार्थिव तत्वों में,—
पल-निमिषों में, क्षण-क्षण में,—
अग्नि में, वायु-कम्पन में,—
जल-वर्षण, नभ-घर्षण में,—
मन-हरण किरण-नर्तन में—
आकर्षण-अपकर्षण में,—
निशि-दिन में, साँझ-सवेरे,—
इस गतिमय चलन-कलन में, —
दुख ही दुख भरा हुआ है,
संसृति के नियम-वहन में ।

८५

नूपुर के रुन-झुन-झुन में,–
गायन में, स्वर-साधन में,–
आतुरता-पुलकित तन में,–
निष्ठुर प्रिय-आराधन में,–

मन में, हृदय-स्पन्दन में,–
रोदन-स्वन में, कम्पन में,–
हिचकी के गुण-बन्धन में,–
चुम्बन में, परिरम्भण में,–

वेदना अरुण लहराई,
रतनारी करुणा छाई,
हो गई चेतना के मिस
हिय की वेदना-सगाई ।

८६

जल-थल की यह आकुलता,
विह्वलता इतनी सारी,
युग-युग की यह आतुरता,
यह मगन लगन रतनारी,

जगती की इतनी करुणा,
यह शाश्वत व्यथा घनी-सी,
ऊर्म्मिला-हृदय में उट्ठी
यह टीस मसोस सनी-सी,

इस अचर-सचर जग भर की
वेदना घुमड़ कर आई
ऊर्म्मिला बहू के आँगन
घन-राशि घुमड़ कर छाई ।

८७

वैयक्तिक व्यथा जगत की,
जन गण की कसक-कहानी,
अति परिधि-गता करुणा यह,
उत्कंठा छानी-छानी,
यह कसक-सिसक अलबेली,
यह मींड, मरोर पुरानी,
यह टीस, अथोर घनेरी,
हृदयान्दोलिका अयानी,
ये विश्व-वेदना की है
जीवन-बिम्बित प्रतिछाया,
ब्रह्मांड-व्यथा ही ने यह
आरक्त विन्दु छिटकाया ।

८८

आती-जाती रहती हैं
पतझड़ की आकुल घड़ियाँ,
झरती-उगती रहती हैं
पत्तियाँ और पंखड़ियाँ,
निशि-दिन यह पवन निगोड़ी
सन-सन करती बहती है,
छिन-छिन टल्ला दे-दे के
अपनी कहती रहती है;
यों उमड़ रही है करुणा
ऊर्म्मिला बहू के आँगन,
हिय में निदाघ रहता है,
नयनों में बसता सावन ।

८९

इस विरह-जन्य तड़पन में
निःसीमित करुणा उमड़ी,
पीड़ा छाई जन-पद में,
वन बसा, अयोध्या उजड़ी,
उखड़ी आकुल प्राणों की
ये श्वासोच्छ्वास-तरंगे,
शिथिला हो गईं अचानक
जीवन की सरस उमंगें,
कल नयन-नदी बढ़ आई,
हो गई वेदना गहरी,
ऊर्म्मिला-हृदय में आकर
यह विश्व-वेदना ठहरी ।

९०

लक्ष्मण-विछोह से हिय में
जग गई साधना तप की,
आँसू के मिस अन्तर से
श्रद्धा की अंजलि टपकी,
यह अवधि-दीप बन आई,
पीतम स्मृति-दीपक बाती,
हिय लगन जगी लौ बन के
मंजुल प्रकाश फैलाती,
इस समय प्रतीक्षा-मग में
ऊर्म्मिला लिए निज दीपक,
बैठी है जोगन बन के
नित बाट जोहती अपलक ।

९१

आशंकाओं की आँधी,
भय, अविश्वास के बादल,
कम्पित करते रहते हैं
स्मृति-दीप-शिखा को प्रतिपल,
दृढ़ श्रद्धांचल से रक्षित
वह ज्योति अखंड जगी है,
बुझने की कभी नहीं वह,
लौ ऐसी भली लगी है,
योगिनी सतत जपती है
अपने योगी की माला,
आँसू से बुझा रही है
वह अन्तरतर की ज्वाला।

९२

लुट गई ऊर्म्मिला पल में
देकर अपना जीवन-धन,
पिय के विछोह की लपटें
बन आईं यज्ञ-हुताशन,
विरहानल मय मरुथल में
खिल उठीं तपस्या-कलियाँ,
हिय धड़कन बनी सुमरनी,
संस्मृति बन गई अँगुलियाँ,
वन-वास-अवधि के दिन छिन,
मनके बन गए बड़े से,
हो गए प्राण कुछ आकुल,
कुछ-कुछ उखड़े-उखड़े से।

९३

क्रन्दन निस्पन्दन व्रण की
विस्तृत-सी करुण कहानी,
बिछुड़न के समय-पटल पे
लिख रही ऊर्म्मिला रानी,
आँसू स्याही बन आए,
मसि-भाजन नेत्र बने ये,
बन गए पर्व गाथा के
संकल्प-विकल्प घने ये,
कम्पित लेखनी बनी है
ऊर्म्मिला-हृदय की धड़कन,
गम्भीर विछोह व्यथा से
आकुल है कोमल तन-मन ।

९४

है वही ऊर्म्मिला-पीड़ा
उसकी अपनी ही बीती,
हो गई ढुलक कर उसमें
चर-अचर-व्यथा सब रीती,
उसकी उस विरह-व्यथा में
बिम्बित है जग की करुणा,
उस के हृदय-स्पन्दन में
ह विश्व-वेदना अरुणा,
जग का यों अलग-अलग-सा,
संक्रम ही बिछुड़न मय है,
लक्ष्मण का विपिन-गमन ही
ऊर्म्मिला वियोग-निलय है ।

९५

संस्मरण-सघन-घन छाए,
नयनों से बरस पड़े ये,
मन-नभ में निःश्वासों के
झंझानिल-से झगड़े ये ;
मानस दिगन्त में उट्ठी,—
स्मृति-मेघ-मालिका गहरी,
उठ चली टीस बिजली-सी
आहों मिस घन-ध्वनि गहरी ;
अभ्रावृत, तरणि-किरण-सी
चमकी आशा रह-रह के,
हृदयाकाश में तड़प कर
नित मौन पपीहे चहके ।

९६

सुख-संस्मृति-मय वह जीवन
बन गया क्षणिक सुख-सपना,
रह गया ऊर्म्मिला के ढिग
बस लखन नाम का जपना ;
अपना सर्वस्व लुटा कर,
मानवता के चरणों में,
ऊर्म्मिला खो गई सहसा,
दुख के घन आवरणों में.
पिय विरह जनित नित दुख से
जीवन बन गया उलहना,
जीवन का ध्येय बना है
यह विषय वेदना सहना ।

९७

अपने पीतम की छबि का
नयनों में बिम्ब उतारे,
बैठी हैं लक्ष्मण-रानी
प्रतिबिम्ब हिए में धारे ;
यह आँख-मिचौनी-क्रीड़ा,
यह अपलक झलक सुहावन,
वेदना-दानिनी बन के
बरसाती है नित सावन ;
उठ-उठ कर थहराती हैं
ये मेघावलियाँ काली,
बन गई निमिष में सहसा,
उजियाली भी अँधियाली ।

९८

दुख के संस्मरणों के ये
गरबीले मेघा बरसे,
जितने बरसे उतने ही
ये प्राण-पपीहे तरसे,
मूसलाधार धाराएँ
उठ धाईं मन-अम्बर से,
वेदना हूक उठ आई
जगती के अन्तरतर से,
आँधी, पानी, पंकिल थल,
जीवन में मिले घनेरे,
दुख-सार भूत बन आए
जीवन के साँझ-सबेरे ।

९९

छिन दामिनियाँ, छिन गर्जन,
छिन धाराएँ, छिन बादल,
छिन उपल विपुल, छिन फुहियाँ,
छिन उथल-पुथल, अति चंचल,
यों ही ऊर्म्मिला सलौनी
नित बिता रही निज जीवन,
आकुलता से पूरित हैं
उनके जीवन के क्षण-क्षण,
मन विकल, प्राण ये बेकल,
हिय व्याकुल, चित विरहाकुल,
ऊर्म्मिला-वेदना अमिता,
उमड़ी नयनों से ढुल-ढुल ।

१००

चल देख, कल्पने, उनको
सन्ध्या के मौन क्षणों में,
चुपके-चुपके नत हो जा
उनके युग श्रीचरणों में ;
बैठी हैं देवि सुमित्रा
करके शुचि सन्ध्या-वंदन,
उमड़ी निःश्वास हठीली,
धड़का हिय का निस्पन्दन ;
अनबोली सी बैठी है
पार्श्व में ऊर्म्मिला भोली,
ज्यों निपट धीरता के ढिग,
बैठी करुणा अनबोली ।

१०१

दिन थक कर मुरझ गया है
सन्ध्या के पल-अंचल में,
श्रम श्रान्ति व्यथा उमड़ी है
खग वृन्दों के कल-कल में,
गोधूली की वेला में
धूमिल-सा हुआ दिगम्बर,
छाया औदास्य हृदय में
कँप उठी वेदना थर-थर,
डर-डर कर धर पग धीरे
नभ में अँधियाला आया,
लुट चला उजेला छिन में
बढ़ चली तिमिर की छाया ।

१०२

संस्मरण-विहंगम आए
हिय-नीड़-निलय में अपने,
कलरव से मानस-अम्बर–
लग गया निमिष में कँपने ;
क्या दरद पराया जाने
यह बांझ सांझ अलबेली ?
सुख-स्मृति बटोर लाती है
नित यह बेदरद अकेली ;
मधुमय सँजोग की स्मृतियाँ
हिय की गुप-चुप प्रिय बतियाँ,
सन्ध्या बाँधे अंचल में
लाती हैं कई सुरतियाँ ।

१०३

वे कई मधुर घटिकाएँ
कल्लोल भरी लहरातीं,
सन्ध्या के सूने क्षण में
आ जाती हैं मदमाती,
अभिशाप रूप बन जाते
सुख क संस्मरण निराले,
दुखदाई हो जाते हैं
ये अति दुलार के पाले;
बैठी हैं साँस-बहू ये
सन्ध्या के नीरव क्षण में,
जीवन की कसक-कहानी
उट्ठी है उनके मन में।

१०४

करुणा की इन छवियों के,
कल्पने, सान्ध्य-दर्शन कर,
चुपके तू, अरी, चली आ,
उनकी पद-रज शिर पर धर;
चिर-विरह-वेदना की है,
यों उलझी हुई कहानी,
फिर कभी उसे सुलझाना,
सुन अरी, कल्पने रानी!
दर्शन कर, दीक्षित हो जा
तू करुण-रहस्य अगम में,
तब गाना विरह कथानक
कंपित स्वर कोमलतम में।

इति श्री चतुर्थ सर्गः

श्री मातृ ऊर्म्मिला चरणकमलार्पणमस्तु ।

अथ श्री पंचम सर्ग

१

छूट्यो सँग सपनो, मिट्यो लघु सँयोग अभिशाप,
चिर वरदान वियोग कौ, मिल्यौ आपु ही आप ।

२

चले जाहु भोरे सजन, अनबोले, सकुचात,
हिय की हिय में रहि गई, नैंकु न निकसी बात ।

३

प्यार कहानी हृदय में, अरुझानी अकुलाय,
बाणी अटकी कंठ में, हे मेरे रसराय !

४

वे स्वप्निल रतियाँ मधुर, वे बतियाँ चुपचाप,
ह्वै विलीन हिय में, बनीं आज बिछौह-विलाप ।

५

साजन, संस्मृति नेह की, खटकि-खटकि रहि जाय,
अटकि-अटकि आंसू झरें, भरै हृदय निरुपाय ।

६

रसक्रीड़ा, व्रीड़ा सलज, पीड़ा बनी गभीर,
रति संस्मृति निशिता अनी, बनी हियें की पीर ।

७

मुरि जनि देखहु तुम इतैं, हे सुकुमार कुमार,
अरुझि जाइँगे दृग, इहां बिछे साँस के तार ।

८

बीहड़ कानन सम भयो, जीवन-वन एकान्त,
सघन विरह-पल्लवन सौं, भयो प्रपूर्ण दिनान्त ।

९

दुसह बिथा के जमि गए, विकट झार-झंखार,
नित संकल्प-विकल्प के, ठाढ़े भए पहार ।

१०

निपट निराशा-सिंहनी, गरजि रही घनघोर,
लिए संग भय-शावकन्हिँ, डोलि रही चहुँ ओर ।

११

गहि प्रत्यंचा पलक की, भ्रकुटी तीर कमान,
आखेटक, आवहु इतैं, साधि निशित दृग बान ।

१२

अहो अरण्यक, ह्वै गयो, जीवन गहन अरण्य,
छाँडि विजन, आवहु, इतैं बसहु सनेह शरण्य ।

१३

वन लोभी तुम, विपिन प्रिय, अहो सुमित्रालाल,
मम जीवन-वन में तनिक, चलहु अटपटी चाल ।

१४

जीवन-अटवी में बिछ गत संस्मृति के शूल,
कंटक प्रिय, कबहूं इतैं, तुम आवहु पथ भूल ।

१५

जा छिन जीवन की उठी, प्रथम पुलक मुदमान,
ताई छिन तैं हौं तुम्हें, ढूंढि रही अनजान ।

१६

देस काल के गरभ में, हौं पैठी अकुलाय,
ढूंढि थकी तुमकौं, सजन, भेस अनेक बनाय ।

१७

उद्‌भिज, अडज, खनिज लौं, स्वदज, जलज अनेक,
रूप धरे, पै ना मिट्यो, यह वियोग अविवेक ।

१८

कछू छिन, तुम ने करि कृपा, या जीवन में आय,
दियो दान संयोग को हौं हुलसी हरषाय ।

१९

अब वे छिन सपने भए, गए सुदूर पराय,
निपट निराशा-जलधि में, रह्यो हृदय उतराय ।

२०

विपिन बिहारी हौं नटी, तुम नट सुघर प्रवीन,
मों बिन कैसे होंउगे, रंग-मंच-रस-लीन ?

२१

सूत्रधार तुम, सुनट तुम, तुम नाटक के प्रान,
हौं प्रवीन नट नागरी, रस-भावना-प्रधान ।

२२

अहो तनिक ठाढ़ै रहो, झटकि बाँह जनि जाहु,
निभृत नृत्य शाला भई, आहु, सजन, गृह आहु ।

२३

जीवन नाटक के परे, रीते अंक अनेक,
आवहु खेलहु तुम इतैं, छिटकावहु स्मिति-रेख ।

२४

विकल प्राण, आकुल नयन, व्याकुल मन, तन छीन,
बुद्धि चकित, हिय दुख-निरत, 'अहं' सुरत-रस-लीन ।

२५

जग सूनो, हिय रचि रह्यो, सजन, बिथा के रंग,
मानस - मंडल में छई, यह वेदना अनंग ।

२६

मन-अम्बर में कँपि रही, विरह-वेदना-चंग,
अवधि-डोरि काटहु, पिया, चलहु मोंहि लै संग ।

२७

सपने की खिरकीन तै कबहूं तो प्राणेश,
झांकि देखि जायो करो, अर्ध-चेतना देश ।

२८

जनम जनम की साधना के मम फल हृदयेश,
भले गए तुम विजन, लै नव चेतन सन्देश ।

२९

जानि गई सहसा, सजन, यहै बात सविशेष,
मोंहि मिले हैं एक सग, क्लेश और प्रेमेश ।

३०

सिहरि-सिहरि रहि जाति है, हृदय-वल्लरी दीन,
नैंक समाश्रय देहु, हे मेरे विटप नवीन ।

३१

मो अँगना फुहियाँ बरसि, सुइयाँ-सी चुभि जाँय,
घन-छहियां, बहियां पकरि, लाई विरह बुलाय ।

३२

धोए-धोए-से सघन, द्रुम पल्लवन्हिं निहारि,
कसक, सिसक मिस बहि चली, नयन उघारि-उघारि ।

३३

घन आए, छाई घटा, हहरि गिरी जल धार,
घहरि-घहरि गरजी बिथा, हिय बिच बारम्बार ।

३४

छाय रह्यो हिय गगन में, घटा टोप घनघोर,
चमकावहु स्मित-किरण निज, इतं अहो चितचोर ।

३५

भई भली, संगिनि मिली, यह करुणा गुणहीन,
चलै साधना-पथ, पथिक, हौं, तुम, करुणा. तीन ।

३६

मन डोल्यो-डोल्यो फिरै, पावस में दिन रैन,
कहा कहौं याकी कथा ? पावत नैंक न चैन ।

३७

जल बरसत, कसकत हृदय, भारी-भारी होय,
वरसावत मद रंग कोउ, घन चूनरी निचोय ।

३८

गिरत परत उठि-उठि चलत, गूंधत बीच सनेह,
ढूंढ़ि रही इत-उत तुम्हें, हिय-वेदना अदेह ।

३९

जलधारा मिस ढुरि पर्‌यो, नभ-करुणा-उद्रेक,
बुद्-बुद् मिस भू वक्ष पे छाले परे अनेक ।

४०

जल भीनी द्रुम-वल्लरी, झुमि-झूमि इठलाति,
अश्रु-सिक्त नित हरित ज्यों, बिथा-बेलि लहराति ।

४१

सिहरि-सिहरि रहि जात हैं, वायु-विडोलित पात,
ज्यों उसाँस ते कँपत हैं रोम-रोम सब गात ।

४२

पवन-बीजना लगत ही, झरत विटप-जल-बिन्दु,
आह उठत ही झरत ज्यों, नयन बिन्दु मय सिन्धु ।

४३

मेरी हलकी चुनरिया, रँगी तिहारे रंग,
देखहु, इत-उत चुअत है, अरुणा करुण उमंग ।

४४

रँग्यो-रँग्यो-सो लगि रह्यो, नभ को नील दुकूल,
पवन उड़ावत जात ये, मेघ खंड के तूल ।

४५

नील-गगन-हिय में उड़े, दल बादल के ठाट,
यों संकल्पन को उड़त , हिय बिच धूम्र विराट ।

४६

कबहुँ-कबहुँ बदरान के, वक्षस्थल को चीर,
दिनकर प्रकटत, ज्यों प्रकट होत हिये की पीर ।

४७

गंग-जमुन ज्यों मिलत हैं, श्री प्रयाग में आय,
त्यों अँखियन की दोउ नदी, अंक मध्य मिलि जायँ ।

४८

सिसक--लहर, हिचकी--भंवर, आह भई कल नाद,
नयन--द्विवेणी तैं उमड़ि, छलक्यो फेन-विषाद ।

४९

उतै जात बढ़ि दृग नदी, जितैं प्रपूर्ण समुद्र,
करै कृपा जो उदधि, तों मिटै भावना क्षुद्र ।

५०

भूलि अहं लघु हौं तुम्हें पाय न सकिहौं, प्राण,
हौं दासी, तुम सेव्य मम, मेरो यहै विधान ।

५१

मैं तुम रूप न होउंगी, तुम मो में रमि जाहु,
सूनी परी कुटीर मम, आहु सजन गृह आहु ।

५२

शून्य रूप ह्वै कैं तुम्हें, कैसे पावों नाथ ?
मेरे या लघु 'अहं' कौं, करौ सनेह-सनाथ ।

५३

नित्य निवेदित हृदय मम, शून्य रूप ना होय,
हिय ढरकावत नयन तैं, नेह निचोय-निचोय ।

५४

एक रूप ह्वै कैं कहहु, कैसे करिये प्रेम ?
प्रेमी प्रेमिक एक, तब, कितैं नेह को नेम ?

५५

दरस-पिपासा जो मिटै तो यह कैसो नेह ?
बरसावहु प्रिय, द्वैत को रिमझिम-रिमझिम मेह ।

५६

ह्वै अदेह कोऊ भजै; हौं सदेह सुकुमारि,
चरण वन्दना करति हौं, हृदय निहारि-निहारि ।

५७

जोहत-जोहत बाट, ये बीते दिवस अनेक,
पिय मम हिय में ह्वै रह्यो, यह बिछोह अतिरेक ।

५८

रात अँधेरे पाख की, दीपक-हीन कुटीर,
आय सँजोवहु दीयरा, हियरा भयो अधीर ।

५६

तैल हीन, रीती, इतै मम प्रदीप की सीप,
उत सिगरे घर घरन में, जगे सँजोग प्रदीप ।

६०

कारो अम्बर ओढ़ि कैं आवत कारी रात,
वह छानी मानी कहत, अति अँधियारी बात ।

६१

साँय-साँय हिय करि रह्यो, साँय साँय जिय होत,
साँय-साँय निशि करति है, बहत नयन-जल-सोत ।

६२

कारी निशि, कारी अवनि, कारी दिशि चुपचाप,
कारी नयन कनीनिका, कारे केस-कलाप ।

६३

कारे द्रुम, कारी लता, कारो सब संसार,
कारो-कारो ह्वै रह्यो, हिय-बिछोह-संचार ।

६४

पिय, इन कारे छिनन में, तिय हिय अति अकुलाय,
मौन रुदन मन करि रह्यौ तुमहिं बुलाय-बुलाय ।

६५

कारी निशि तें भर गई, हिय में झाई श्याम,
भई जाति हौं बावरी, टूटत संयम-दाम ।

६६

झिल-मिल झिल-मिल करतु है, श्याम नैश आकास,
तपकि-तपकि रहि जात ज्यों, हिय-वेदना-विकास ।

६७

अँधियारी अध रात की, कँपि-कँपि अम्बर बीच,–
सीकर–कण मिस, वेदना रही हिये बिच सींच ।

६८

नींद निगोड़ी छाँड़ि के दृग को निर्झर देस,
चली गई वा पार, पिय, कहूँ दूर परदेश ।

६९

घन अँधियारो, रात की निपट बलैयाँ लेत,
ज्यों झुकि-झुकि कोउ नेह-घन, हृदय उडेले देत ।

७०

निशा बनूं हौं, तुम बनौ निबिड़ तिमिर घन, प्रान,
झुकि छावहु ह्वै कें, गहन, गहर, गभीर, महान ।

७१

नभ मंडल को चक्र यह चल्यो जात दिन रैन,
गति मय यह ब्रह्मांड सब, नैकु न पावन चैन ।

७२

तारक मंडल मालिका, गूँथी ईश बनाय,
फेरि रहे छिन-छिन वहै, हिये सिहाय-सिहाय ।

७३

अतल, वितल, पाताल लौं, सकल खमंडल लोक,
ढूँढ़ि रहे, पिय ना मिले, मिट्यो न हिय को शोक ।

७४

विचलित हिय, विगलित नयन, दलित भाव सुकुमार,
खंड-खंड अस्तित्व को करत वियोग-कुठार ।

७५

निशि के सूने छिनन में हिय में खुट-खुट होय,
लघु आशा घन तिमिर में, ठाढ़ी-ठाढ़ी रोय ।

७६

सूनेपन में करि उठत, यह हिय हा-हाकार,
तड़पि-तड़पि रहि जाति है, दरस-परस-मनुहार ।

७७

हार कहौं या कौं, कहौं अथवा हिय की जीत,
जो निबहतु है हृदय यह, निशि-दिन प्रीति अतीत ?

७८

रीति अनौखी प्रीति की, जीत समझिये हार,
हार भरे सपनेन में, करिये विजय-विचार ।

७९

रार करत हिय बावरो, अपने ही सौं खीझ,
बिना मोल किमि बिक गयो, वा श्रीमुख पै रीझ ?

८०

नयनन तें बोलत गए तुम अनबोले बोल,
मौन अनी वह चुभि गई, हियहिं टटोल-टटोल ।

८१

प्रेम--फांस अस्तित्व की, प्रेम--हिये की प्यास,
प्रेम--प्रणोदन स्रजन को, प्रेम--प्राण की आस ।

८२

प्रेम--रज्जु, अस्तित्व--घट, पन घट--नयन अधीर,
पिया मिलन की भावना, कूप गहन गंभीर ।

८३

हौं पनिहारिन घाट की, तव संजोग-सुख-नीर,
हुलिस कलस भरिबे चली, लिए प्यास की पीर ।

८४

लोचन-पनघट पै फँस्यौ, घट सनेह की डोर,
उतरि गयो गहरो बहुत बिल्यो न नीर अथोर ।

८५

सजन, तनिक-सी गगरिया, क्यों खाली रहि जाय ?
नैक निकट आवहु इतैं, भरहु याहि मुसिक्याय ।

८६

या पनघट के सुनट तुम, या पनघट के राज,
खेलि खेल ओझल भए क्यों पनघट तें आजु ?

८७

मम नागरिया गगरिया, भई आज निस्तब्ध,
काकरिया मारहु, करहु झन झंकृतिमय शब्द ।

८८

बिहँसि काँकरी मारहू, भरहु गागरी आय,
प्यासी मेरी कलसिया, लटकि रही निरुपाय ।

८९

पनिहारिनि एकाकिनी, हौं प्यासी, संतप्त,
रोम-रोम प्यासौ, रहयो यह अस्तित्व अतृप्त ।

९०

बड़े दिनन तैं, जतन तैं, बड़ी दूर ते, नाथ,
हौं आवतु हौं घट लिए, या को करहु सनाथ ।

९१

तुम पन-घट-पति, कूप-पति, तुम घट-पति, हे प्रान,
पनिहारिनि-पति, नीर-पति, प्रेम-रज्जु-गुण वान ।

९२

"भव भव" करि घट-रिक्तता भागै, जागैं भाग,
नीर-पीर छूटै, मिटै, रीतेपन को दाग ।

९३

सोरठा

मोंहि आपुनी जानि, करहु कृपा एती, सजन,
करि सँजोग जल दान, भरहु रिक्त अस्तित्व-घट ।

९४

सार हीन अति ह्वै गयो, तुम बिन मम संसार,
छिन-छिन भए पहार सम, सुनहु जीवनाधार ।

९५

लगन बावरी हृदय की, अभिसारिका प्रवीन,
बौरानी-सी फिर रही, इत-उत, तव रस लीन ।

९६

योग-छेम को मोह तजि, दीप नेम को साजि,
लगन अँधेरी डगर में, चली गेह तैं भाजि ।

९७

लाज गई, कुल कान सब, बिकी तिहारे संग,
फैल परी, इत उत बगरि आकुल हृदय-उमंग ।

९८

मेरे या हिय की कसक छलकि उठी सब ठौर,
सकल चराचर तें उठी चेतन सिसक-मरोर ।

९९

जगद्व्यापिनी मम बिथा भई, अहो, प्राणेश,
मम कंपन ते कँपि उठ्यौ, सब जग को हिय-देश ।

१००

क्लेश मिल्यौ, किंवा मिल्यौ कंपित नेह प्रसाद,
व्यथा रूपिणी ह्वै गई विगत दिनन की याद ।

१०१

यह संयोग वियोग को अपरस्पर अवलम्ब,
करि कै या जग में घटित, क्यों बैठे, हेरम्ब ?

१०२

प्राण पिरीते, तुम बिना सूनौ भयो दिगन्त,
उदित होहु मन-गगन में, भरहु प्रकाश अनंत ।

१०३

मम सनेह-नैया परी, विरह-समुद्र मँझार,
छिन-छिन में यह बढ़ि रह्यौ, उग्र पवन संचार ।

१०४

आय तनिक देखहु इते, कैसो हाल बिहाल
डग मग, डग मग ह्वै रही या नौका की चाल ।

१०५

बन्ध-हीन, गुन गलित, हैं सड़ी लकरिया चार,
का जानौं का ह्वै गए, सुदृढ़ डांड पतवार ?

१०६

उफनि रह्यौ है सिन्धु यह, विकट लहर की मार,
फेनन के मिस उमड़ि कैं, आयो सिन्धु विकार ।

१०७

टेर गगन में उठि रही मेरी बारम्बार,
भनक कान क्यों ना परी, ओ मेरे सरकार ?

१०८

तुम वन-विचरण करि रहे निपट अकेले नाथ,
बही जाति है यह इतैं, मेरी नाव अनाथ ।

१०९

रसरी बांधो नेह की, नैन सैन के छोर,
खींचि लेहु टूटी तरी, श्री चरणन की ओर ।

११०

पीतम, साधन हीन हौं, निस्साधन मम नाव,
केवल नेह-निबाह को, अहै साधना-भाव ।

१११

या बिछौह के सिंधु में, केवल यहै प्रतीति,
सजन, निबाहौगे अवश, चिर पिरीत की रीति ।

११२

एतो जिय विश्वास है, केवल एती आस,
कबहूँ तो बहि जायगी तरी तिहारें पास ।

११३

आशंका को उठि रह्यौ, झंझानिल घनघोर,
भीति-बीचि-विक्षोभ को घहर्‌यो घोर अथोर ।

११४

यह विरहाम्बुधि तट रहित, अवधि-नीर गम्भीर,
मास, वर्ष, दिन, छिन भए, चंचल लहर अधीर ।

११५

नित संशय को उठि रह्यो, उभरि-उभरि तूफान,
प्रकट्यो सर्व विनाश को, फेनिल क्रुद्ध विधान ।

११६

गरजि-गरजि घिरि-घिरि, घुमड़ि घटाटोप घन आय,
अम्बर में ऊधम करत, खर बिजुरी चमकाय ।

११७

दिग्भ्रम में मेरी तरी, परी निरी असहाय,
याहि उबारहु करि कृपा, हे मेरे रस राय !

११८

करहु तरंगित शून्य में, निज वंशी की तान,
इक छिन में मिटि जाइगो, मन-दिग्भ्रम-अज्ञान ।

११९

अथवा तुम करिकैं कृपा, करहु धनुष टंकार,
भय भागै, पहुँचै तरी सागर के वा पार ।

१२०

लखन-नाम मम दीप लघु, लखन-शरण मम आस,
लखन-चरण मम भक्ति दृढ़, लखन-नेह विश्वास ।

१२१

लखन-संस्मरण-मत्त हौं, लखन-चरण मम नेह,
लखन-संतरण-भाव मम, लखन-आमरण देह ।

१२२

लक्ष्मण-लक्ष्मण धर्म मम, लक्ष्मण-लक्ष्मण कर्म,
लखन-लखन हिय मर्म मम, लखन-लखन मम शर्म ।

१२३

सोरठा

हे मेरे पर पार, बढ़ि आवहु या सिन्धु बिच,
नैया लेहु उबार, डग-मग, डग-मग ह्वै रही ।

१२४

कलरव कूजन करि रहे, भाव विहंगम-वृन्द,
निशा सिरानी, जगि उठ नव उमंग के छन्द ।

१२५

नील गगन में रुपहरी छहरी छटा अपार,
मानों नील तड़ाग में बही दुग्ध की धार ।

१२६

दिन-मणि प्राची सों मिल्यो विहँसि, हुलसि, हरषाय,
जग जाग्यो, भाग्यो तिमिर, जग्यो बिहग-समुदाय ।

१२७

दिन के सँग दिन की बिथा जगी, ठगी, रस लीन,
रवि-कर-ग्रथिता-जाल मैं, फँस्यो दीन मन-मीन ।

१२८

पंछिन के सँग, प्रीति की चहकी चाह अतीत,
हृदय मुरलिका तैं उठ्यो, विरह-भैरवी-गीत ।

१२९

कुसुम दलन तैं कँपि गिरे ओस-बिन्दु सुकुमार,
मनो कपोलन तैं ढरत, अश्रु-बिन्दु द्वै चार ।

१३०

लहरे दूर्वादल सिहरि, प्रात-समीरण पाय,
ज्यों निश्वास समीर तैं, संस्मृति-तृण लहराय ।

१३१

डरियां-बहियां द्रुमन की, डोलि उठीं मुदमान,
भुज-सैनन तैं होत ज्यो, पियतम को आह्वान ।

१३२

देखि उषा को बिहँसिबो, प्राची को मृदु हास,
विरहिनि इन दिन-छिनन में खीझत, होत उदास ।

१३३

प्राची सों दिन-मणि मिले, मिट्यो विरह-दुख द्वन्द,
विकसे जन-गण-हिय-कमल, विलसे मन-मकरन्द ।

१३४

प्रकृति, किरण-जल अमल में, छल-छल उठी नहाय,
नील-गगन-अम्बर पहिरि, लहराई हरषाय ।

१३५

तरणि-मिलन तें प्रकृति को, भयो विरह-दुख अन्त,
किन्तु विरहिनी के हिय हूक अचूक उठन्त ।

१३६

हृदय-नीड़ में भाव-खग, बैठे बोलत बोल,
कहां तिहारो प्रात है, कितैं किरण-कल्लोल ?

१३७

दक्षिण अटवी में दुर्‌यो, मम दिग्भानु ज्वलन्त,
याही तें मन-गगन में, छायो तिमिर अनन्त ।

१३८

भाव विहंगम वृन्द हे, करहु तरणि आह्वान,
क्यों हूं तो या विरह-निशि को होवे अवसान ।

१३९

निशि तें दूनी प्रात में, बढ़त विरह की पीर,
दिन ते दूनो, रात में जियरा होत अधीर ।

१४०

सोरठा

सूरज बंस पतंग, उदित होउ मम गगन में,
हुलसावहु अँग अंग, कोमल दृढ़ कर-परस तैं ।

१४१

बही जात जीवन-नदी, सही न जात उपाधि,
कही जात मुख तै न कछु, या प्रवाह की व्याधि ।

१४२

निकसी उद्गम तैं, लिए हिये अमन्द उमंग,
लहर चुनरी पै चढ़्यौ, नव प्रवाह को रंग ।

१४३

छलकि बही कल गीत तै, प्रीति अतीत पुनीत,
द्रुत गति में प्रकटी झलकि उत्कंठा की रीत ।

१४४

पिता-वंश, पति-वंश, इन द्वै कूलन के बीच,
जीवन-तटिनी बहि रही, बिरह-पीर-जल सींच ।

१४५

तुम समुद्र, मिथिला ढुरे, लहराए वा ठौर,
मो सरिता हित तुम सजन, भए और के और ।

१४६

हौं लघु सरणी, मिल गई, पिय, तुम में सकुचाय,
सतला हौं, अतला भई, तुम सम सागर पाय ।

१४७

लहर-लहर सों मिलि गई, बुझी अपूरन प्यास,
जीवन सों जीवन मिल्यो, मिट्यो प्रवाह-प्रयास ।

१४८

पै इक दिन तुम मम उदधि, गए नाँघि मर्याद,
तब तें तटिनी में उठ्यो कोलाहल, प्रतिवाद ।

१४९

उमड़्यो सागर विजन में, छाड़ि नदी को संग,
असंभावना मिस भयौ, विधि-विधान को भंग ।

१५०

फिर प्रवाह को दाह वह, फिर वह हाहा-कार,
फिर वियोगमय वेदना, फिर गतिमय अभिसार ।

१५१

सूने-सूने ह्वै गए, विस्तृत दोऊ कूल,
सिकतामय निस्सारता प्रकटि भई प्रतिकूल ।

१५२

पल-पल बिकल बिलाय जल, कल-कल कलपत जाय,
मचलि-मचलि, चलि-चलि थक्यों, जात न अतल समाय ।

१५३

अतल,–अवध में ना मिलैं, अतल–अवध तें दूर,
अतल,–अवधि लौं उमड़िहैं निर्जन में भर पूर ।

१५४

बही चलहु जीवन-सरणि, या में कछु न वसाय,
कबहूं तौ ढुरि परहुगी, अतल शरण में जाय ।

१५५

साधन पथ लम्बो बड़ो, निपट प्रतीक्षा-पूर्ण,
देखौं श्रद्धा-साधना, कब होवै सम्पूर्ण ।

१५६

सोरठा

कहूं विरह-मरु बीच, लुप्त न होवै मम नदी,
आवहु सिन्धु नगीच, नांघि अवघि-मर्याद यह ।

१५७

उजड़ि गई गुंजन मयी, मम संयोग निकुंज,
ठाढ़ो भयो पहार सौ, यह वियोग को पुंज ।

१५८

तुंग शिखर,—हिय वेदना, शिलाखंड—दिन मास,
विकट चढ़ाई ह्वै गई, दरस-परस की आस ।

१५९

गिरि पै घने विषाद के जमे गुल्म सर्वत्र,
रोमांचक संस्मरण वे, भए विकम्पित पत्र ।

१६०

टेढ़ी, सँकरी, कंटकित, बनी प्रतीक्षा-बाट,
दृग-जल,—गिरि निर्भर उमड़ि चित्तहिं करत उचाट ।

१६१

आशंका गह्वरन में, भभके हिंसक जीव,
गरजि गरजि कै ह्वै रहे, पद-पद पे उद्ग्रीव ।

१६२

पुनर्मिलन-क्षण -दूरता, कुज्झटिका-सी फैलि,
विरह-शैल पै करि रही, स्वप्निल क्रीड़ा-केलि ।

१६३

हौं एकाकी यात्रिणी चढ़ी जात अकुलात
गिरत, परत, पुनि पुनि उठत, सहत घात-प्रतिघात ।

१६४

चिर विश्वासाश्रय भयौ मम अवलम्बन-दंड,
पथ प्रकाशिका बनि गई, श्रद्धा-ज्योति अखंड ।

१६५

एक-एक करि कैं, करत शिलाखंड कौं पार
विरह-शैल पै चढ़ि रही, मगन लगन मनुहार ।

१६५

कबहु-कबहु यह लकुटिया लचक जात, हे प्रान,
चरण-विकम्पन कौं, कबहुँ होत देह कौं भान ।

१६७

कबहूं-कबहूं दीप की शिखा निरी अकुलात,
कबहुँ निराशा पवन तैं, विचलित ह्वै-ह्वै जात ।

१६८

हौं गरीबिनी यात्रिणी, रँगी तिहारे रंग,
सजन, छुड़ावहु तनिक यह ईति-भीति-दुःसंग ।

१६९

विकट पहाड़ प्रदेश के, परै पिया को देश,
गिरि-लंघन बिन किमि मिलैं पुन्य प्रेम परमेश ।

१७०

सोरठा

विरह-शैल के पार, पीतम, तुम क्यों रमि रहे ?
आवहु, अहो उदार, दुर्गम गिरि कौं भेदि कैं ।

१७१

क्षीरोदधि में ज्यों रमें, अशिशायी भगवान,
तैंसैं मम हिय उदधि मैं रमहु ऊर्म्मिला-प्रान ।

१७२

जैसे सागर में उठत, केलि मयी कल्लोल,
हिय-समुद्र कों करहु त्यों आन्दोलत हिंडोल ।

१७३

ज्यों समुद्र मन्थन भए, निकसे चौदह रत्न,
त्यों तुम सश्रम करहु प्रिय, हिय मन्थन ा यत्न ।

१७४

मृदु परिरम्भण-भार को मेरु-सुमन्थन-दंड,
प्राणाकर्षण की बनै, रसरी पूर्ण अखंड ।

१७५

ढरकावहु मो हृदय मथि, प्रिय, नवनीत प्रवाह,
सरसावहु अनुरागिणी, अनबोली मनचाह ।

१७६

मेरे हृदय-समुद्र कौ जल श्यामल गम्भीर,
अतल तलातल लौं भरी, वामें संचित पीर ।

१७७

हिय-सागर तैं उठि रही बड़वानल की आह,
प्रिय, खैंचहु दोउ भुजन तैं, अन्तरतर को दाह ।

१७८

कब लौं हिय हहरे, कहहु, एकाकी विक्षुब्ध ?
कब लौं आवौगे बिहँसि, हे प्रिय, मन्थन-लुब्ध ?

१७९

चिन्ता सम्भ्रम के बड़े ग्राह नक्र विकराल,
या समुद्र में बढ़ि रहे, सुनहु, अहो व्रतपाल !

१८०

नीलगगन सम तव स्मरण, झलकत सिन्धु मझार,
पै थिर रहत न एक छिन, मेरो पारावार ।

१८१

परछाँई संस्मरण की, कम्पित ह्वै-ह्वै जात,
लहरन सम यह उठत है हिय-बिछोह अकुलात ।

१८२

चलित, थकित, नित व्यथित, इत, अमथित हियको सिन्धु,
याहि करहु कर्षित , मथित, हे मम पूरन इन्दु !

१८३

शशि, मम नभ में उदित ह्वै, मथित करहु हिय-सिन्धु,
युग कपोल-तट पै छिटकि, झलकें श्रम-कण बिन्दु ।

१८४

पूरण ताहि न जानिए, पूर्ण ताप बिन जोय,
ताही तैं हिय-उदधि में भर्यो अनलमय तोय ।

१८५

रोम-रोम जो भरि गए तो यह ऊनो प्रेम,
हहरि हहरि हिय हारिबौ, यहै पिरीतो नेम ।

१८६

विप्रयोग-बड़वाग्नि जो सोखे सागर नीर,
तौ, फिर सहज सनेह की रही अधूरी पीर ।

१८७

युग अनन्त लौं हहरिबौ, युग अनन्त लौं दाह,
अथक जोहिबो बाट को, यहै सनेह निबाह ।

१८८

साँचो प्रेम अकाल मम, प्रेम देश-गुण मुक्त,
प्रेम निरन्तर, अनवरत, अथक प्रतीक्षा युक्त ।

१८९

सोरठा

कसौ कसौटी नाथ, जेती मोकों कसि सकौ,
हृदय तिहारे हाथ, युग अनादि तैं बिकि गयो ।

१९०

दृग रंजन, मम नयन में, अंजन बनि अँजि जाहु,
लोचन की फुहियान में, कछ छिन बैठि नहाहु ।

१९१

काजर की रेखा बने बसहु लोचनन बीच,
बाँधहु अंजन गुण बने नयन खञ्जनन्हि खींच ।

१९२

कबहुँ ढरकि अँसुवान सँग, होउ अंक आसीन,
कबहुँ कपोलन पै ढरकि होउ सुरति रस-लीन ।

१९३

कबहुँ नयन-खिरकीन तैं, कूदि हृदय के गेह,
आत्मलीनता मिस करहु बरबस मोंहि अदेह ।

१९४

हियनिधि मम अनमोल तुम, तुम मम काजर-रेख,
दृग-कनीनिका तुम बने, तुम मम नेह-विवेक ।

१९५

जा दिन तैं तुम वन गए, करिकैं अवध अनाथ,
तब तें नयनन को छुट्यो, काजरहू को साथ ।

१९६

हौंस मिटी, काजर छुट्यो, मच्यो नयन में कीच,
कारी झांई पीर की परी पुतरियन बीच ।

१९७

ये तैरे-तैरे फिरैं, नयना निपट अधीर,
युग लोचन में ह्वै रही दरस-काकरी-पीर ।

१९८

सोरठा

ये नैना अनजान, प्रकट करत हिय दरद कों,
ज्यों कोऊ नादान, घाव दिखावतु आपुनो ।

१९९

जीवन-डगरी में छिपी निशि अँधियारी पीर,
तकि-तकि कैं कोउ दै रह्यो, विरह वेदना तीर ।

२००

भांति-भांति के राग की चपल भ्रान्ति उद्भ्रान्ति,
करिबै कौं आई यहाँ, नवल क्रान्ति उत्क्रान्ति ।

२०१

चल्यो जात हौ हिय सहज, बिंध्यो नेह के शूल,
सिसकि रही पीड़ा-लली, भई लाज उनमूल ।

२०२

धसकि-धसकि, मिटि-मिटि गए, मधुर मनोरथ-मौन,
बात पूछिबे कों, कहहु, रह्यो भौन में कौन ?

२०३

कित सँजोग ? कित सरलता ? कितै सुनिश्चय-साज ?
इत-उत जित-तित तैं उमड़ि, परी विकलता आज ।

२०४

क्षत-विक्षत हिय बहि रह्यौ, लगे प्रश्न के तीर,
मौन निरुत्तर वेदना मन, चित, धुनत शरीर ।

२०५

चिन्ता-कठिनी लिखि रही प्रश्न-चिन्ह प्रति वार,
क्यों ? कित ? का ? कैसे ? कहाँ ? को फैल्यो विस्तार ।

२०६

युग अनादि के गरभ सों निकसी जीवन-बाट,
युग अनन्त लौं जात यह, ज्यों नभ-गंग विराट ।

२०७

भेदि लोक लोकान्तरहिं, भेदि अंड-ब्रह्माण्ड,
निर्झरिणी सम फटि परी, जीवन-डगर प्रकाण्ड ।

२०८

निखिल सृष्टि के चक्र पै, मण्डित यह मग-रेख,
जिमि ललाट पै खचित हैं, बिथा-कथा के लेख ।

२०९

या पथ-रेखा पै धरत, हौलें-हौलें पाँय,
ढूँढति-ढूँढति तुमहि, हौं आइ गई एहि ठांय ।

२१०

दीख परत अजहूं, सजन, डगरी लम्बी मोंहि,
हृदय हारिबे लगत है, यह अनन्त पथ जोहि ।

२११

कितैं तिहारी मृदु छटा ? कितैं तिहारो देश ?
कितैं तिहारो नेह मय चिर संयोग विशेष ।

२१२

कितैं पिया की नगरिया ? अजहुं न जानी जाय,
का जानौं साजन रहे कौन देश में छाय ?

२१३

चलिबो–चलिबो रैन-दिन, तनिक न रहिबो बैठि,
अष्टयाम को जागिबो, अन्तर तर में पैठि ।

२१४

सुनिबो धनु टंकार की अनहद धुनि हिय बीच,
करिबो मानस अर्चना , नयनन तैं जल सींचि ।

२१५

जीवन मग में चलन के ये साधन निष्काम,
जीवन को साफल्य है, नित प्रयत्न अविराम ।

२१६

जिय एतो विश्वास है, हिय में एती आस,
देस तिहारो है कहूँ, जहाँ तिहारो बास ।

२१७

गिरि परिये, फिर चलिय उठि यहै नेम-निरवाह,
दूर पास जानत नहीं, लगन मगन की राह ।

२१८

सोरठा

क्षत आशा के शूल, जीवन के पथ में बिछे,
हिय की भोरी भूल, मग की काँकरियाँ भईं ।

२१९

अहो दुरे क्यों समय के अन्तर-पट में जाय ?
आवहु, पीतम, अवधि की यह यवनिका हटाय ।

२२०

भग्न मनोरथ की बिछी जीवन-पथ में धूर,
परि कैं घटना चक्र में, भई कल्पना चूर ।

२२१

दूरि-दूरि लौं धूरि ही धूरि दिखाई देत,
धूरि-धूसरित ह्वै रह्यो, अँग-अँग हृदय समेत ।

२२२

आशंका के पवन में रजकण नाचि उड़ायं,
छिन-छिन उड़ि-उड़ि धूलिकण नैनन में परि जाँय ।

२२३

या मग में षट् ऋतुन को रहि-रहि ऊधम होत ।
कबहूं चमकत शरद् शशि, कबहुँ भाद्र खद्योत ।

२२४

ग्रीषम, वर्षा, शरद् मुद, शिशिर, मधुर हेमन्त,
अन्तवन्त अनुराग मय, मंजुल मदिर बसन्त ।

२२५

पारी-पारी सों सकल, ऋतु वैभव मिलि जात,
पै एकाकी पथिक को, हृदय और अकुलात ।

२२६

विप्रयोग ग्रीषम भयो, आँसू–पावस पीर,
नित निरभ्र विश्वास की, भई शरद् ऋतु धीर ।

२२७

निपट निराशा को शिशिर, संशय को हेमन्त,
चिर आशा को बनि गयो, कुसुमित वरद बसन्त ।

२२८

जीवन-पथ में मिलत जब, विकट निदाघ दुरन्त,
तब अँग-अँग तैं उठत है दाहक ज्वाल ज्वलन्त ।

२२९

झुलसत हिय, दहकत हृदय, आशा बरि-बरि जात,
तड़पत मन, सूखत अधर, रोम-रोम मुरझात ।

२३०

दलित मनोरथ-बालका, होत अग्नि अंगार,
नग्न चरण मग-गामिनी, तड़पत पन्थ मँझार ।

२३१

मन-नभ-मंडल में तपत, प्रबल बिछोह-पतंग,
चलत लूक उच्छ्वास की, लै मरीचिका संग ।

२३२

विश्व तपत, ब्रह्मांड सब होत विदग्ध विशेष,
बापी कूप तड़ाग में, रहत न जल निःशेष ।

२३३

लिए बालुका-धूलि-कण, उठत बवंडर घोर,
धूमिल सो ह्वै जात है, नभ-अम्बर को छोर ।

२३४

लगत प्यास, श्रमकण चुवत, छ्वत लपट मय पौन,
चली जात, तोऊ सतत, पथ गामिनि यह कौन ?

२३५

यों जीवन-पथ में निरखि, विकट निदाघ-प्रकोप,
हिय तैं उठि, मन गगन में, गरजि उठत घन तोप ।

२३६

अँसुवन की पावस झड़ी, लगत आपुही आप,
ज्यों वर्षा शीतल करत, खर निदाघ-अभिशाप ।

२३७

कारे, कजरारे, भरे, निरे मेघ के कोट,
मन-नभ में करि उठत हैं, भय-विद्युत-विस्फोट ।

२३८

हहरत हिय, लहरत पवन, घहरत गहर उमंग,
आँखिन तैं बहि-बहि उठत दुसह वेदना-रंग ।

२३९

अँसुवन तैं जीवन-डगर, पंकमयी ह्वै जात,
फिसलत-फिसलत यात्रिणी, चली जात अकुलात ।

२४०

ज्यों निदाघ दुख देत है, त्यों पावस को काल,
ये दोऊ ऋतु करत हैं हिय को हाल बिहाल ।

२४१

जब अधीरता बढ़त है, तब कछु धीरज देत,
आवत शरद् सुहावनी पूरन इन्दु समेत।

२४२

अति वियोग मय छिनन में, अति अधीर पल माँहि,
दृढ़ प्रतीति जागत हिये, रहत कुसंशय नाहिं।

२४३

हिय-आकाश निरभ्र, मुद, सुस्थिर भासित होय,
शारदीय नभ रहत ज्यों, नील, निरभ्र, अतोय।

२४४

निपट शुद्ध विश्वासमय, मन-दिगन्त ह्वै जात,
चिर सनेह के संस्मरण हिये उठत मुसकात।

२४५

मगन लगन अम्बर रुचिर, होत धीरतापूर्ण,
गहर सिन्धु नद होत ज्यौं, युग तट लौं आपूर्ण।

२४६

ज्यों पूरन शशि उदित ह्वै, लसत गगन मंझार,
त्यों विलसत हिय-गगन में, पीतम-छबि साकार।

२४७

उड़गण मिस चमकत, झरत, नैश हास्य के फूल,
शरद्-निशा हुलसत, पहिरि मुद चाँदनी-दुकूल ।

२४८

त्यों पिय की मुसक्यान की स्मिति को अंचल ओढ़,
लगन ठगौरी बदतु है, शरद निशा तैं होड़ ।

२४९

कबहुँ शीत की कँपकँपी, ज्यों हिय में छ्वै जात,
त्यों विचलित ताको, कबहुँ कम्पन हिये समात ।

२५०

चिर प्रतीतिमय शरद् ऋतु, ठिठुरि शिशिर ह्वै जात,
ज्यों धीरज नैराश्य में, परिणत ह्वै अकुलात ।

२५१

अंग-अंग कँपिबे लगत, पहुँचत हिय लौ ठंड,
दरस परस की चाह अति, चलित करत हिय खंड ।

२५२

आलिंगन की भावना, सँग रहिबे की चाह,
शिशिर-निराशा में करत, शीतल हिय-उत्साह ।

२५३

दुश्चिन्ता की हसन्ती धधकत है दिन रैन,
तऊ हृदय ठिठुरत रहत, लहत न इक छिन चैन ।

२५४

चली जात पथ गामिनी, करत शिशिर को अन्त,
पुनि, मग में मिलि जात है, संशय को हेमन्त ।

२५५

शीतल हिय, शीतल चरण, शीतल सब बहिरंग,
अन्तरंग शीतल अमित, शीतल सब रँग-ढंग ।

२५६

शीतल दिशि, शीतल निशा, बड़ी-बड़ी विकराल,
ऊबत चिर-पथ-गामिनी, होत न प्रातः काल ।

२५७

इत संशय, चिन्ता उतैं, जित-तित संभ्रम मूक,
कहिये का सों ? किमि ? कहहु, हिय बतियाँ दो-टूक ?

२५८

गरजत बरसत माघ के मेघ घिरत सब ओर,
कँपत चरण, लरजत हृदय, होत शब्द घनघोर ।

२५९

ज्यों अनचाहे अतिथि गण, घर घेरत हैं आय,
गगन घेरिबे में न त्यों, माघ-मेघ शरमायं ।

२६०

संशय के हेमन्त में, आशंका-घन धाय,
भय-भैरव-उद्घोष सों भरत हृदय असहाय ।

२६१

रोम-रोम कँपि उठतु हैं, ठिठुरि जात अँग-अंग,
आँखिन तैं चुइ परतु है, हिय-वेदना अनंग ।

२६२

निर्जन जीवन-डगर में चली जात यह कौन ?
कितै देस याको ? बन्यो कित धौं याको भौन ?

२६३

साजन, तुम मेरे निलय, तुम हो मेरे देस,
ओ परदेसी, तुमहिं मैं ढूँढत देस-विदेस ।

२६४

छांड़ि शिशिर नैराश्यमय, संशयमय हेमन्त,
पावत तव पथगामिनी, पुनि चिर आश बसन्त ।

२६५

उठि आवत है हृदय तैं, पुनि नवजीवन साँस,
आशा सुहरावति सम्हरि, दुसह वेदना फांस ।

२६६

सोरठा

हे मेरे प्रेमेश, सूनी मम जीवन डगर,
मम ऐकान्तिक क्लेश, हरहु आय गहि बाँह मम ।

२६७

फूल्यौ मन-सर में अमल, हृदय-कमल रसपीन,
तव चरणन में ह्वै रह्यो यह उत्पल तल्लीन ।

२६८

सहज सहस-दल-कमल यह, प्रेम-नाल-संलग्न,
लिए समर्पण-भावना, भूमि रह्यौ रसमग्न ।

२६९

निःस्पन्दन की पाँखुरी, अरुण नेह को रंग,
मदिर सुरित की गन्ध मधु, रेणु अमन्द उमंग ।

२७०

भूमि कमल नित करि रह्यौ, आशा-पवन-विलास,
सतत श्वास-निःश्वास मिस करत समर्पण-रास ।

२७१

मम अर्चन-साधन-चरण विचरि रहे वन-वीथि
कहहु, करौं सम्पूर्ण किमि कमल-समर्पण रीति ?

२७२

या मन के कासार में उठत तरंगें लोल,
मौन कल्पना, लहर सम, करत रहत कल्लोल ।

२७३

कम्पित सर में हिय-कमल डुलि-डुलि उठत अथोर,
आत्म-निवेदन की सतत, आकुल उठत मरोर ।

२७४

देखत नहिं तुम प्रेम को नेम, अहो रसराय,
छांड़ि चिरन्तन नेह-निधि, रमे विपिन में जाय ।

२७५

तुम निष्ठामय, तुम सुदृढ़, निपट धीर व्रतपाल,
कहा नेह ऊनो परत, जब हिय होत विशाल ?

२७६

सोरठा

वन तैं हाथ बढ़ाय, लेहु पूर्ण निधि आपुनी,
हृदय-कमल अकुलाय, कछु-कछु मुर्भत जात है ।

२७७

हिय की कोमलता सकल, घुलि-घुलि बहत अधीर,
ढरकि नयन तें अर्घ्य-मिस, बहत हृदय की पीर।

२७८

जग को मधु-सौन्दर्य सब, नयन-बिन्दु में आय,
झलकि-झलकि, इत-उत बगरि, प्रकटि रह्यौ अकुलाय।

२७३

बने सत्य-शिव-रूप तुम, हौं सुन्दरता-रूप,
मो बिनु, पिय, किमि होउगे तुम सम्पूर्ण अनूप ?

२८०

बिना सत्य-शिव के रहत सुन्दर सदा अपूर्ण,
त्यों सुन्दर बिनु सत्य-शिव, किमि ह्वै है संपूर्ण ?

२८१

जीवन को माधुर्य सब सुन्दरता कौ सार,
वा दिन तें, तुम बिन भयो, जड़ अस्तित्व विकार।

२८२

कहा सुघड़ सुकुमारता ? कहा मोद उल्लास ?
तुम बिन सुन्दरता कहा ? कित विलास ? कित हास ?

२८३

भई विरह-विधुरातुरा तव अनुचरा प्रतीति,
अन्तस्तल में झलकि, झुकि, सरसावहु रसरीति ।

२८४

तव चरणन की हौं सदा, शुक्ल दासिका दीन,
मोंहि करहु, हे सत्य-शिव, नित निज रस तल्लीन ।

२८५

प्रति दिन दृग जोहत रहत, सतत तिहारी बाट,
ज्योति चिरन्तन जगि रही, मुक्त-कुटीर-कपाट ।

२८६

बिछे प्रतीक्षा-बाट में लोचन-मुकुल सनीर,
पलक-पँखुरियाँ ह्वै रहीं पल-पल ललकि अधीर ।

२८७

मो बगिया में ढुरि परौ कबहूं तौ सुकुमार,
डोलि रह्यो व्याकुल पवन, करि वियोग संचार ।

२८८

हारि गई नैनान की कली निमंत्रण देत,
पलक-पाँवड़े परि गए नेह-पराग समेत ।

२८९

अब तौ सूनी कुंज पै करहु कृपा की कोर,
छिटकि खिलहु निशि-नाथ-से ह्वै कै आत्म-विभोर ,

२९०

सघन कुंज की गलिन में, आवहु खेलहु खेल,
करहु सनाथ छुवाय पद मेरी जीवन-बेल ।

२९१

आँख मिचौनी मिस दुरहु उझकि-उझकि द्रुम-ओट,
कछ काँकरिया-सी चुभै, देहु सैन की चोट ।

२९२

मेरी झीनी चुनरिया रँगी तिहारे रंग,
हौं रति, तुम दूलह बने मेरे नवल-अनंग ।

२९३

बैठि रहति है मन-लगन, हिय कुटीर के द्वार,
नेह-मगन जोहत रहत, निशि-दिन पंथ तिहार ।

२९४

पक्ष्म-लोम-सम्मार्जनी, लोचन झारी पूर्ण,
झारत, सींचत रहत नित, पंथ-मृत्तिका चूर्ण ।

२९५

द्वार देहरी पे धरे चिर अनुराग-प्रदीप,
कब ते उत्कंठा ललकि, बैठी द्वार-समीप ।

२९६

कासों कहियत प्रेम को नेम ? कहा अनुराग ?
कहा दरस की लालसा ? कहा हिये को दाग ?

२९७

परिभाषा चिर प्रेम की निपट अटपटी होय,
वाको तत्व निगूढ़ अति, जानत है कोउ कोय ।

२९८

प्रेम सगुण कोऊ कहत, कोउ निरगुन कहि देत,
कोऊ द्वैत अभाव कौं कहत सनेह-निकेत ।

२९९

मो मन प्रेम-स्वरूप है कम्पन मय अविराम,
स्वर, लय, यति, गति मय बन्यौ प्रेम रूप अभिराम ।

३००

प्रेम–चटपटी हृदय की, प्रेम–अटपटी बात,
प्रेम–भूमिबो मत्त ह्वै, इतै उतै बतरात ।

३०१

प्रेम—बन्यो अस्तित्व की सार रूप मनुहार,
प्रेम—दरस की प्यास है, उत्कंठित अभिसार ।

३०२

प्रेम—मौनमय वेदना, प्रेम—प्राण की प्यास,
प्रेम—हिये में रोइबो, अधरन में कछु हास ।

३०३

प्रेम—सृष्टि की परिधि को केन्द्र-विन्दु सुकुमार,
प्रेम—पुरातन हिय-कथा, प्रेम—हिये की हार ।

३०४

हिय-व्रण नित्य दुराइबो, कहिबो कछु न बनाय,
प्रेम-नेम की रीति यह, रहिबो मन समुझाय ।

३०५

कहा भयो जो छांड़ि के चले गए हृदयेश ?
प्रथा सनातन प्रीति की, पालत हैं प्रेमेश ।

३०६

प्रेम—चिरन्तन विकलता, प्रेम—चिरन्तन आह,
प्रेम—सतत अवहेलना, प्रेम—दरस की चाह ।

३०७

प्रेम—विरागी, प्रेम—यह चिर अनुराग अतीत,
प्रेम—अहं विस्मरणमय, आत्म-स्मरण पुनीत ।

३०८

प्रेम—नेम की निठुरता, प्रेम—छेम-उपहास,
प्रेम—हेम इव शुद्धता, प्रेम—कसौटी-त्रास ।

३०९

प्रेम—संस्मरण नाम को, प्रेम—सुकीर्तन-भाव,
प्रेम—चरण सेवा विकल, प्रेम—अर्चना-चाव ।

३१०

मन मोती को खोइबो, नित्य ठगैबो प्रान,
अनबोले सहिबौ बिथा, यहै प्रेम की कान ।

३११

छांड़ि धर्म की व्याधि सब, छांड़ि सुकर्म उपाधि,
अव्यभिचारी नेह की, रहौं साधना साधि ।

३१२

नेह-भक्ति-बन्धनन में, मोंहि मिलि गई मुक्ति,
भली हाथ सहसा लगी, यह समाधि की युक्ति ।

३१३

गुण–बन्धन-विरहित भयो, राग–भयो सुविराग,
द्वैत–भयो अद्वैतमय, प्रेम–योग, तप, त्याग ।

३१४

धूनी तपी, न चीमटा खनक्यौ एकौ बार,
तऊ प्रेम-सन्यासिनी, भई वियोगिनि नार ।

३१५

सतत ध्यान, नित संस्मरण, तपश्चरण दिन-रैन,
पुण्य प्रेम को नेम यह, यहै साधना ऐन ।

३१६

जा हिय में नित बसत है, प्रेम पुनीत विशुद्ध,
तहाँ राखिये कहहु किमि संस्कृति धर्म्म विरुद्ध ?

३१७

पिय-सनेह को बरत जहँ पुण्य दीप अविराम,
तहाँ अन्धतम वासना रहत न एकौ याम ।

३१८

सोरठा

प्रेमी को संसार, सतत साधनामय बन्यौ,
वहाँ कहाँ कुविचार, तार नेह को जहँ बँध्यौ ?

३१९

नेह-सगाई ह्वै गई, प्रणय-पाणि पिय हाथ,
दृढ़ अनन्य आश्रय मिल्यो जीवन भयो सनाथ ।

३२०

बँधी चूनरी पीय के, उत्तरीय के संग,
गठबंधन चोखो भयो, उमड़्यो नेह अनंग ।

३२१

विप्रयोग के क्षणन में भनक परी यह कान,
होत न तप-आचरण बिन, पिय दरसन मुदमान ।

३२२

धारि हिये में, अहर्निशि, पीय ध्यान अनमोल,
अलख जगावत नेह को बोलि अबोले बोल ।

३२३

बाला जोगिनि बावरी चली जात अलमस्त,
त्रस्तभाव भागे सकल, भयो भोग-भय ग्रस्त ।

३२४

दग्ध वासना-क्षार की भस्म विभूति रमाय,
ध्यान-मग्न जोगिनि भई, अलख चरण मन लाय ।

३२५

जागरूकतामय भयो जोगिन को सब काल,
गुडाकेश जाके सजन, किमि सोवे सो बाल ?

३२६

प्रीति जगी, निद्रा भगी, लगी समाधि प्रचंड,
नाम रटन की धुनि लगी अहरह, सतत, अखंड ।

३२७

मोह छुट्यो, माया मिटी, टूटे अनियम दाम,
निरलसता पूरित भये निशि-दिन के सब याम ।

३२८

विरह-अग्नि-धूनी तपत, काहू आसन बैठि,
सजन-ध्यान-मग्ना भई, अन्तस्तल में पैठि ।

३२९

सोरठा

भय उनींदे नैन, मन राच्यौ पीतम-चरण,
लखन नाम के बैन, निशि-दिन निकसत हृदय तैं ।

३३०

प्रेम-योगिनी हौं बनी, पीतम-ध्यान–समाधि,
छूटि गई संसार की, सब व्यवहार उपाधि ।

३३१

नाम-संस्मरण कर्म मम, मानस-अर्चन धर्म,
मगन ध्यान पिय को बन्यौ या जीवन को मर्म ।

३२२

गत सँजोग के दिनन की, संस्मृति जब जगि जात,
तब हिय रोवत, अधर दोउ, पुनि कछु-कछु मुसकात ।

३३३

हौं चाहत ही बाँधिबौ, समय-दाम में प्रेम,
चाहत ही हौं उलटिबौ या अनन्त को नेम ।

३३४

देश-काल-बन्धन रहित, कैसे बाँध्यो जाय ?
किमि अनन्त आकाश यह, अंजलि बीच समाय ?

३३५

प्रिय, त्वदीय सीमा-रहित नेह अनन्त, अछोर,
यह समुझी इन दिनन में विवश हियहि झकझोर ।

३३६

अब समुझी यह व्यर्थ है, हिय को हा-हाकार,
चहिय राखिबौ मौनमय दुसह बिथा-संचार ।

३३७

सहिये, सब सहिये बिहँसि, तनिक न कहिये बात,
रहिये गुप-चुप मारि मन, यहै नेह-संघात ।

३३८

राजयोग, हठयोग तें, प्रेम-योग बड़ होय,
प्रेमेश्वर-प्रणिधान में, जात विचलता खोय ।

३३९

आसन, प्राणायाम, यम, नियम, धारणा, ध्यान,
चिर समाधि, सब कछु मिलत, रहत न जड़ अज्ञान ।

३४०

अनचाहे, सब यम-नियम, सधत आपही आप,
चित्तवृत्ति को योगमय होत निरोध अमाप ।

३४१

जा आसन में जमि गए, प्रीति-वियोगी जीव,
सोई आसन होत है सफल सुसिद्ध अतीव ।

३४२

प्राण श्वास उच्छ्‌वासमय बनत चलित हिन्दोल,
दुलरावत उल्लसित ह्वै, पीतम नाम अमोल ।

३४३

ध्यान आपुने सजन को धरिबौ नित दिन-रैन,
तजिबौ प्रेय विचार मय योग छैम को ऐन ।

३४४

सतत धारणा मिलन की, हिये राखि अनुरक्त,
चलिबो जीवन डगर में, लोक-लाज करि त्यक्त ।

३४५

प्रेम-योग में मिलत यों नित समाधि-आनन्द,
चिदानन्द मय, भक्ति युत, मिलत मुक्ति स्वच्छन्द ।

३४६

ज्ञान योग सायास है, प्रेम-योग अनयास,
एक शून्य मय ध्यान है, दूजो दरस-बिलास ।

३४७

ज्ञान योग में रहत है नित निरोध को त्रास,
प्रेम योग बन्धन रहित विनिर्मुक्त आभास ।

३४८

ज्ञान योग अभ्यास में बरजोरी को संग,
प्रेम योग के पाठ में, स्वेच्छित हृदय-उमंग ।

३४९

किन्तु प्रेम के योग में, होत सबै वह बात,
ज्ञान योग में जो सतत, पद-पद पै दरसात।

३५०

वहै यम, नियम, धारणा, वहै सुप्राणायाम,
वहै समाधि अनिंगिता, वहै ध्यान निष्काम।

३५१

तोऊ प्रेम-सँजोग में, कछु विशेषता आहि,
ज्ञान योंग पावक सतत, कोटि कष्टकर जाहि।

३५२

अन्तर एतो जानिए, प्रेम जोग के बीच,
एक चलत मस्तिष्क तें, दूजो, हृदय उलीच।

३५३

सोरठा

अचला भक्ति अबाध, मोंहि मिली पिय-कृपा तें,
मिल्यो सनेह अगाध, इन वियोग के छिनन में।

३५४

प्रेम योगिनी हौं बनी, कारण जानौं नाँहि,
मम निष्कारण नेह कों, राखहु, पिय, हिय माँहि।

३५५

का जानौं क्यों होत हैं प्रेम-बावरे प्रान ?
छिन-छिन कसकत रहति है, हिय की नेह-उठान ।

३५६

उठि-उठि आवति है ललकि, हृदय-समर्पण-हूक,
एक-लग्नता-मिस लगत, प्राण-समाधि अचूक ।

३५७

जब स्मृति हँसि, कहि जात कछु, विगत दिनन की बात,
तब सँजोग के संस्मरण हिय मसोसि अकुलात ।

३५८

भरत हृदय, बरसत नयन, सरसत हिय की बेलि,
सूने मानस-गगन में, करत वेदना केलि ।

३५९

प्राण कहत, हम बावरे, हृदय कहत, हम रक्त,
मन बोलत, हौं ध्यान रत, जीवन, चरणासक्त ।

३६०

प्रेम, योग-संयुक्त ह्वै रह्यो सकल अस्तित्व,
हिय, अनादि तै, करि चुक्यो वरण त्वदीय पतित्व ।

३६१

मम हिय-बगिया में खिले, भक्ति-कलपना-फूल,
अर्चन सौरभयुत कुसुम लेहु, अहो सुखमूल !

३६२

पुहुप सुकोमल ये रँगे विविध भावना-रंग,
श्वास वायु डोलित, करत प्रकट विकास उमंग ।

३६३

ये वियोग-कंटक जमे फूलन के सँग आय,
करहु कृपा एती, सजन, कंटक देहु हटाय ।

३६४

कुसुमन तैं खिलि उठि रह्यौ आत्मसमर्पण भाव,
विस्फारित पँखुरी भईं, नैंकु न रह्यौ दुराव ।

३६५

वनमाली सींचत पुहुप, नयन-कणन तैं नित्य,
इत रस शोषत रहतु है, नित वियोग आदित्य ।

३६६

रंग-विरंगे भाव के कुसुम खिले सुकुमार,
आवहु गूँथहु इनहि तुम, हे मम मालाकार ।

३६७

लै शूची परिहास की, ललित केलि को तार,
भेदि छेदि, करि मृदु चयन, करहु पुहुप निरवार ।

३६८

ललित, कलित, कोमल, मदिर, मधुर सुमन की गन्ध,
फैलि रही उद्यान बिच, अहो जीवनानन्द ।

३६९

हिय सिहाय, इत आय, पिय, माला मृदुल बनाय,
पहिरहु पहिरावहु बिहँसि, मन-मन में हरषाय ।

३७०

आतम-निवेदन-सुमन कों, पिय, करिये स्वीकार,
हरिये इनकी उल्लसित उत्कंठा को भार ।

३७१

सोरठा

असमर्पित रहि जाय, क्यों विकास-अस्तित्व यह ?
आवहु मान बिहाय, नयनन में स्वीकृति लिए ।

३७२

देखि व्यर्थ श्रम आपुनो देखि शून्य उद्यान,
छिन-छिन में अकुलात है, मन-माली अनजान ।

३७३

सींचि-सींचि हिय-वाटिका कर्‌यौ प्रयास अथोर,
तऊ तिहारी ना भई, तनिक कृपा की कोर ।

३७४

लै निग्रह की कतरनी, मनमाली नित बैठि,
राग द्रुमन्हिं छांटत रहत, हृदय-वाटिका पैठि ।

३७५

अमल सुमन फूलत हिये, नहीं वासना संग,
लखन-चरण-रति को चढ्‌यौ उन पै चोखो रंग ।

३७६

करत रहत उद्यान में भाव-भृंग गुंजार,
रोम-रोम लौं ह्वै उठत, गुन-गुन-धुनि-संचार ।

३७७

पुहुप-पँखुरिया ह्वै रहीं, लोचन-सीकर-सिक्त,
सद्य नेह-मधु सों भर्‌यो, कुसुमन को हिय रिक्त ।

३७८

एती नव-रस सों भरी यह सनेह निधि पीन,
युग अनादि तैं ह्वै रही तव चरणार्पण-लीन ।

३७९

मेरी जीवन-वल्लरी, तव अवलम्बन-हीन,
निरादृता सी ह्वै रही, धूरि-धूसरित, छीन ।

३८०

तुम द्रुम मम अश्वत्थ दृढ़, लेहु बेलि लिपटाय,
अवलम्बन की साध मम, क्यों असफल रहि जाय ?

३८१

तुम आश्रयदाता, सजन, रस जीवन-दातार,
या भू-लुंठित बेलि कौ, नेकु सम्हारहु भार ।

३८२

या सुकुमारी बेलि कौ, कौन बड़ो है भार ?
भुज-अवलम्बन तनिक तैं, ह्वै जैहै उद्धार ।

३८३

छाय रहौं तव वक्ष पै, केवल एती चाह,
बस, इतनोई सो रह्यौ, या जीवन में दाह ।

३८४

लिपटि लपैटौं भुजन तैं, तुमहिं जीवनाधार,
छाय, निछावर ह्वै रहौं, बस इतनी मनुहार ।

३८५

सोरठा

द्रुम-वल्लरी अधीर, वन्यौ निराश्रित हृदय मम,
निरलम्ब की पीर, आश्रय दै, हरि लेहु, पिय !

३८६

मानस-नभ में दूर लौं, चढ़ी कल्पना-चंग,
लप-झप लप-झप करि रही, यह अनुरक्त पतंग ।

३८७

नेह-डोर-अवलम्ब लै, चढ़ी चंग आकास,
ठुमकत, सर-सर करत नित, बढ़ी जात सायास ।

३८८

लगन-मगन मन-गगन में, लहरत इत-उत धाय,
ठहरि-ठहरि भाजत, मनौं, कोउ कछु ढूँढत जाय ।

३८९

तुमहि ढूँढिबे यह चली, बँधि सनेह की डोर,
उत्सुक आकुलता लिए, लहरत कँपत अथोर ।

३९०

ठुमकावहु यह चंग, पिय, श्री कर में गहि डोर,
याहि डुलावहु हरषि हिय, मन-नभ बिच चहुँ ओर ।

३९१

कबहुँ डोर की ढील दै, कबहुँ खैंचि कै, प्रान,
मन-नभ-मंडल में करहु, चंग-केलि गुणवान ।

३९२

सोरठा

मेरी चंचल चंग, सजन, निहारहु नैन भरि,
ऐंच पैंच को रंग, सरसावहु मन-गगन में ।

३९३

हृदय विपंची तैं उठै, किमि स्वर-मय झंकार ?
का जानों कैसें भयो स्वर-साधन-संहार ?

३९४

जज्जर तूँबी हृदय की, दारु-खंड-मन, मग्न,
तार भावना के सबै बिखरि, भए निर्लग्न ।

३९५

गायन-स्वर है रुदनमय, बहे आप ही आप,
मधुर मींड़ ध्वनि ह्वै गई, हिय हिचकी चुपचाप ।

३९६

चतुर कलाधर तुम निपुण वीणकार, हे नाथ,
या वीणा जर्ज्जरित की, लाज तिहारे हाथ ?

३९७

स्वर अरुझे, धुनि रुँधि गई, कहाँ तान-लय-कूक ?
हिय वीणा तें उठति है, एक मूक सी हूक ।

३९८

लुप्त भई सब स्वरन की, झन-झंकार-मरोर,
मूक रुदन-कम्पन-मयी, हिय ते उठत हिलोर ।

३९९

वीणकार वीणा तजी, वीण तज्यो स्वर-भार,
स्वरन तज्यो गायन-नियम, भयो रुदन-संचार ।

४००

सोरठा

स्वर अरुझे, लय मूक, तार-तार ढीले परे,
हिय वेदना अचूक, हृदय विपंची तैं उठी ।

४०१

प्राणन में फांसी परी, पर्‌यो श्वास में फन्द,
रुँध्यो नाम-संस्मरण शुभ, प्रकट भयो दुख-द्वन्द ।

४०२

जीवन में सुख-दुःख को, देख्यो यहै हिसाब,
भरी मिली दुख की बही, सुख की रिक्त किताब ।

४०४

अन्तरतर रीत्यो पर्यो, भंग ताल, रस, रंग,
भई घोर रव रहित मम, यह अस्तित्व-मृदंग।

४०५

ध्रुपद ताल अटपट भई, तीनताल सम हीन,
भ्रमित दीपचन्दी भई, चाचर गति अति छीन।

४०६

दृढ़ता मय हिय ध्रुपद गति, भई विकम्पित आज,
बिगरि गयो नैश्चिन्त्य मम, तीनताल सम साज।

४०७

मधु सँजोग सुख मय ललित अमित सुरति रसलीन,
सहज दीपचन्दी भई, ताल हीन, सम हीन।

४०८

उत्कंठित अति चलित नित, मन गति चाचर ताल,
सम गति रहिता ह्वै गई, भई अटपटी चाल।

४०९

सोरठा

ताल हीन, रव हीन, रीती परी मृदंग यह,
करहु याहि रवपीन, भरि उद्घोष गभीर मृदु।

४१०

तुम अनादि, शाश्वत, सजन, अन्तहीन मम आस,
उत अनादि मय ध्येय मम, इतै अनन्त प्रयास ।

४११

तुम अनन्त आकाश, प्रिय, हौं अछोर नभ-गंग,
तव वक्षस्थल पर उठत, मम उत्ताल तरंग ।

४१२

तुम प्रकाश के पुंज प्रिय, हौं लघु किरण तिहारि,
हौं तव चिर अनुगामिनी, आज रही हिय हारि ।

४१३

तुम संगीत स्वरूप नित, हौं स्वर श्रुति लघु एक,
तुम बिन किमि निबहै, सजन, मम मृदुला स्वर-टेक ?

४१४

गहर गभीर समुद्र तुम, हौं लघु वीचि-विलास,
तुम न करहु जो कछु कृपा, तो कित कल उल्लास ?

४१५

गूँजि रही मन-गगन में, पिय, तव धनु-टंकार,
करहु नैन नाराच तैं मम वियोग-संहार ।

४१६

कब लौं ? यों मन बावरो, पूछि रह्यो अकुलाय,
तब लौं, जब लौं काल को, चलन-कलन मिट जाय ?

४१७

रे मन, नेह निबाह को, पन्थ अगम्य, अनन्त,
या मारग को होत है, कहु, कब, केहि विधि, अन्त ?

४१८

नित सँजोग हू में रहत, सदा पियासे प्रान,
सतत चटपटी ही अहै, शुचि सनेह वरदान ।

४१९

शारदीय नभ, नील तुम, नेह–सुपूरन-इन्दु,
आकर्षित हहरात मम वय अगाध हिय-सिन्धु ।

४२०

तुम आकाश असीम, हौं उदधि ससीम, गभीर,
मेघ बनी तुम लौं गई, मम उसांस की पीर ।

४२१

नित जप, नित तप, ध्यान नित, नित पिय चिन्तन-योग,
नित्य नाम को संस्मरण, यों ही कटत वियोग ।

४२२

निशि-दिन चहकत रहतु है, यह मेरो मन-कीर,
कब अइहैं जीवन धनी, निपट धनुर्धर, धीर ?

४२३

वे सँजोग के संस्मरण, अजहूँ बने नवीन,
बीते युग-युग सम बरस, तऊ भए ना छीन !

४२४

पैनी-पैनी दुख-अनी, अरु पैनी ह्वै जात,
ज्यों-ज्यों बीतत दिवस ये, ज्यों-ज्यों बीतत रात ।

४२५

जो न पावती प्रीति को, यह वेदना प्रसाद,
तो किमि सुनि सकते श्रवण, अनहद नेह-निनाद ?

४२६

विफल मनोरथ-तृणन सों छाई हृदय-कुटीर,
तृणन्हि उड़ावत जात यह, विथा-वायु गंभीर ।

४२७

निर्जनता नीकी लगत, कोलाहल न सुहाय,
जन-संकुलित प्रदेश तैं, चित्त उचटि अकुलाय ।

४२८

बैठि निपट एकान्त में, धरिय ध्यान अविकार,
तहँ रहि रचिये आपुनो, सपने को संसार ।

४२९

जन-पद, जन-रव, जन-नगर, जन-गण हों अति दूर,
कहूँ कुटीर बनाइए, जहाँ मौन भरपूर ।

४३०

सोरठा

रमि रहिए सब काल, अति निःशब्द प्रदेश में,
चलिय अटपटी चाल, अति अबाध गति-रूप ह्वै ।

४३१

जहाँ न पहुँचत शब्द, जहँ वायु-विकम्प न लेश,
जहँ न होत मति-गति चलित, तहाँ पिया को देश ।

४३२

जहाँ धीर गंभीरता, जहँ न रार, अविचार,
जहँ सम भाव-स्थिति सहज, तहँ पीतम-दरबार ।

४३३

जहँ न कलह की कालिमा, जहँ न अलस अनुरक्ति,
तहाँ रहत पीतम, जहाँ जागरूक आसक्ति ।

४३४

जहाँ मौन को राज, जहँ वाणी की गति नाँहिं,
अलबेले पीतम चतुर, सतत बसत तेहि ठाँहिं

४३५

आँखिन आँखिन में जहाँ, होत प्राण-पण-मोल,
तहाँ कहहु, किमि बोलिए, निपट अधूरे बोल ?

४३६

आत्म-निवेदन मौनमय, हृदय-समर्पण मौन,
मौन दान-प्रतिदान यह, हिय संघर्षण मौन।

४३७

बजत सजन की मुरलिया, मौन-राग-स्वर साधि,
उत्प्राणित हिय तें बहत, पूरन प्रेम अनादि।

४३८

जहाँ मौन की पूर्णता, चहाँ मौन उपराम,
तहँ शब्दोच्चारण लगत, निपट असंस्कृत, बाम।

४३९

शब्द-समुद्र मँझाइ कै मम नीरव प्रेमेश,
पहुँचि गए वा पार, जहँ पूर्ण मौन को देश।

४४०

चढ़ि उसाँस की नाव, हौं पहुँचौंगी वा पार,
या वचनोदधि के परे, जहाँ मौन मय प्यार।

४४१

सोरठा

कबहुँ न करिए भंग, अनबोली आराधना,
जब सिहरत अँग-अंग, तब मुखतें का बोलिए ?

४४२

शब्द, दीन ह्वै कंठ में, अटकि-अटकि रहि जात,
अति नीरव स्वर-हीनता, उठि आवत, अकुलात।

४४३

ध्वनि-शून्यता-प्रसार तहँ, पूरनता जहँ होय,
चहिय राखिबो आपुनो, नेह मरम सब गोय।

४४४

जहाँ भरित चिर नेह, तहँ कहाँ शब्द-व्यापार ?
हिय-कम्पन हू थम्हत जहँ, तहँ किमि सरव विकार ?

४४५

वायु-विकम्पन श्रवण-गत, अहै शब्द-ध्वनि-रूप,
पै मन-इन्द्रिय के परे, राजत मौन अनूप।

४४६

श्रवण, नयन, मुख, नासिका, मन, शरीर, अँग-अंग,
ना जाने कब के बिके, अपने पिय के संग।

४४७

अब कैसो ध्वनि-निपुणता, कैसो स्वर-संचार ?
शब्द थके, रसना मगन, छूट्यो भव-रव-भार।

४४८

सोरठा

मौन धारि, मन वारि, मन ही मन आराधिबौ,
हिय के नैन उघारि, रहसि देखिबौ पिय-छटा।

४४९

अन्तर पट करि राखिये, अपनी प्रीति नवीन,
मन की मन में जो रहै, कबहुं न होवे छीन।

४५०

प्रीति लजीली रहत नित, घूँघट-पट की ओट,
कबहुं न वाकों दीजिए, जग-नयनन की चोट।

४५१

प्रेम-सुगोपन हित निरत, अहै श्याम-पट एक,
जासौं लगै न नेह कौं, जग कुदृष्टि की रेख।

४५२

सरल तन्तु को पुंज यह, बन्यौ सुगोपन-मंत्र,
तन्तु वाय मन बनि रह्यौ, जीवन भयो सुयंत्र ।

४५३

ताना लै एकान्त कौ, बाना–वचन-निरोध,
कारीगर ने पट बुन्यौ, हिय में धारि प्रबोध ।

४५४

मन ने यह शुचि पट बुन्यौ, लै गोपन के तार,
मौन-साँवरे-वस्त्र को, फैलि रह्यौ विस्तार ।

४५५

श्यामल अंचल मौन को, ओढ़ि चिरन्तन प्रीति,
दरसावतु है मौन मय, हृदय-समर्पण-रीति ।

४५६

कर कम्पन, लोचन सजल, विचलित विकल उसाँस,
कबहुँ-कबहुँ कहि देत ये, गुप्त प्रीति-रस-फांस ।

४५७

कैसें इनहिं निवारिये, ये नहिं छांड़त संग,
हठ करि रहत समीप नित, करत मौन-रस भंग ।

४५८

झलकत लोचन कणन में, प्रीति-विथा-अतिरेक,
ज्यों झलकत सत्वृतिन में हिय को अमल विवेक।

४५९

मौन श्याम पट में दुरी, जदपि प्रीति सुकुमार,
तऊ सकल संसार में चरचा भई अपार।

४६०

छानी मानी राखिबौ, सबै चहत रस-रीति,
फैलि जात पै वह, यहै बड़ी जु प्रीति अनीति।

४६१

कैसे प्रीति दुराइए ? है अति कठिन दुराव,
हाव-भाव रँग-ढंग सौं, छलकि उठत हिय-चाव।

४६२

गुप-चुप के अरमान वे, गुप-चुप को हिय-दान,
गुपचुप के रस भाव, सब प्रकट होत अनजान।

४६३

तऊ न मुख तैं बोलिए, या में है बड़ भेद,
अनबोली हिय लगन में, मिलत भक्ति निर्वेद।

४६४

आत्मवन्त निर्द्वन्द ह्वे, प्रेम-योग रसमत्त,
अनबोले प्रिय चरण में, करिये हृदय प्रदत्त ।

४६५

अव्यवसायी बुद्धि तें, प्रेम योग ना होय,
अव्यभिचारी भक्त जे, पावत पीतम सोय ।

४६६

कल्मष रहित, प्रशान्त चित, प्रेम मगन सब काल,
तेई पावत आपुनो, सजन प्रीति प्रतिपाल ।

४६७

सतत ध्यान को धुन लगै, तब कित शब्द-प्रमाद ?
भूलि जात उन छिनन में, या तन हू की याद ।

४६८

शब्द ब्रह्म हू ते परे, पीतम की पद-पीठ,
देखि सकत सोई, खुलै जिनकी अन्तर दीठ ।

४६९

सोरठा

ठाढ़ी कब सों प्रीति, घूँघट-पट की ओट ह्वै,
डिगी जात रस-रीति, पिय, वियोग-अन्तर हरहु ।

४७०

मम लघु जीवन-परिधि के, केन्द्र-बिन्दु तुम, देव,
तुम साधन, तुम सिद्धि मम, तुम सुसिद्ध स्वयमेव ।

४७१

खचित भाग्य रेखान के, तुम रेखा-गणितज्ञ.
उलटी-सीधी रेख सब, जानत तुम, सर्वज्ञ ।

४७२

परिधि होत ज्यों-ज्यों बड़ी, होत केन्द्र सौं दूर,
अहं-भाव के बढ़त ज्यों, बढ़त अन्धतम क्रूर ।

४७३

बढ़त जात ज्यों-ज्यों सतत, अपनेपन को गर्व,
दूर होत तितनो अधिक, आत्म-निवेदन पर्व ।

४७४

जितनी ही छोटी परिधि, जितनो लघु विस्तार,
उतनो केन्द्र नगीच है, समुझें समुझनहार ।

४७५

काका कहियत चेतना ? जीवन कहा कहाय ?
कहा तत्त्व या स्फुरण को, जो इत-उत चलि जाय ?

४७६

जीवन - यह नव चेतना, अहै दरस की प्यास,
याही तैं उत्क्रमण को, यहाँ प्रवास - प्रयास ।

४७७

जा छिन तैं वा एक के भए स्वरूप अनेक,
प्रकट्यो ताई समय तैं, यह चेतना - विवेक ।

४७८

चेतनता प्रकटी भली, जीवन मिल्यो अनन्त,
जीवन के सँग - सँग चली दरसन - प्यास ज्वलन्त ।

४७९

अवश गुणन तैं बँधि रह्यो, वह निरगुनी महान,
अगुन होइबे को पुनः मचलि रह्यो गुणवान ।

४८०

पुनः प्राप्ति निज रूप की, पुनः पूर्ण विस्तार,
याई सतत प्रयत्न तैं, मचत हिये मैं रार ।

४८१

जीवन में अरुझे अमित इच्छा, द्वेष, विकार,
द्वन्द्व - विमोहन - भाव ये, काम, राग, अविचार ।

४८२

क्यों आवत कुविचार ? यों पूछत हैं नर - नारि,
यह हू है उन सजन की, एक अदा सुकुमारि ।

४८३

लीला मय, लीला निरत, लीला करत अपार,
पाप, पुण्य मिस करि रहे, निज लीला - विस्तार ।

४८४

ह्वे मोहित इत- उत अटकि, भटकि जात नर-नारि,
मार्ग - भ्रष्ट ह्वे जात हैं, प्रिय की डगर बिसारि ।

४८५

गिरि परिबौ, उठिबो पुनः, नेकु न रहिबौ हार,
पीतम की या गैल मैं, कैसौ हार - विचार ?

४८६

हिय में लिए चिरन्तनी प्यास - प्रणोदित आस,
युग अनादि तैं हौं, चली आवतु हौं, सोल्लास ।

४८७

अब पाये, पाये पिया, भाजि न सकिहौ और,
पट - अंचल में बाँधि कै, राखहुँगी बरजोर ।

४८८

मम युग-युग की साधना, या जीवन में आय
ह्वै है पूरन-काम ध्रुव, अपनो पीतम पाय।

४८९

जब ह्वै है पिय दरस, तब का ह्वै है हिय-बीच ?
तब मो मन ह्वै जायगो, कालातीत नगीच।

४९०

क्षर-अक्षर तैं, काल तैं, कारण हूँ तैं दूर,
जो झलकै, तो रिक्त-हिय, क्यो न होय भरपूर ?

४९१

अटल परन्तप सजन मम, गुडाकेश, उद्बुद्ध,
उनकी पद रज तें बनत हिय तद्रूप, विशुद्ध।

४९२

काम, क्रोध, मद, लोभ तजि, मत्सर, द्वेष विकार,
चलिए पिय की डगरिया, यहै चिरन्तन प्यार।

४९३

भव्य राजप्रासाद यह, सुदृढ़ प्राचीर,
तुम बिन सब सूने भए, हे धनुधारी धीर।

४६४

उचटि रमत मन वन विषै, भावत नाहिन भौन,
रहित चित्त औदास्यमय, जीभ रही गहि मौन ।

४६५

दखिन पौन, री, मद भरी, हौले - हौले आय,
मेरे आँगन डोलि तू, पिय-बतियाँ बतराय ।

४६६

कहु, कहु, कैसे हैं सजन ? एरी दखिन बयार,
कहु, शिर पे केतो बढ़्यो, जटा-जूट को भार ?

४६७

केती गहरी, बोलि री, भई बिवाईं पांय ?
कुलिश शूल केते गए तलुअन बीच समाय ?

४६८

रघुकुल की श्री कीर्ति वह, मिथिलाकुल की कान,
कैसी हैं मम अग्रजा, कोमल पुहुप समान ?

४६९

जिनके स्वप्निल नयन में, देश, काल, आकास,
आर्य राम वे, करत किमि, कहु, वन-बीच निवास ।

५००

पहिरत ह्वेहैं कौन विधि, सीता वल्कल चीर ?
सजन सम्हारत होइंगे केहि बिधि पर्ण-कुटीर ?

५०१

वर्षातप, आँधी प्रखर, शीत, उपल को त्रास,
अरु वन-वन को डोलिबो, तृण-कुटीर को वास।

५०२

दक्षिण दिशि दूती, अरी, ओ अटपटी बयार,
अजहूँ धारण करि रही, हौं जीवन को भार।

५०३

धनु धारे, तूणीर कसि, करि आखेटक वेश,
विचरत ह्वेहैं प्राण-धन, हरत विजन कों क्लेश।

५०४

वल्कल–पट सों अरुझि कैं, वन-झारिन के शूल,
कहत होंयगे सजन सों, आए कित पथ भूल ?

५०५

चढ़ि ऊँचे गिरि-शिखिर पै, लै दृढ़ धनु की टेक,
पीय निहारत होइंगे, दूर, क्षितिज की रेख।

५०६

आंखिन में सपनो भरे, नासा में उच्छ्वास,
होत होइंगें, देखि इत, पीतम कछुक उदास ।

५०७

सीय - राम - लक्ष्मण - चरण - रेणु गहन वन माँझ,
वन-जन-दुख ह्वैहैं हरत, प्रति प्रातः, प्रति साँझ ।

५०८

करि विनष्ट अज्ञान-तम, हरिबौ जड़ भू-भार,
बड़ो कठिनतर कर्म्म यह, करिबौ ज्ञान - प्रसार ।

५०९

धर्म-भावना जगत की, उठी हिए में पीर,
राजमहल ऊजड़ भए, वन में बसी कुटीर ।

५१०

सूने परे गवाक्ष ये, शून्य भई सब ठौर,
जा दिन ते कमलाक्ष मम, मुरे विपिन की ओर ।

५११

वातायन मो सदन के, भये उदास अपार,
अब कोउ उत्सुक ना रह्यो, उनतैं झाँकन हार ।

५१२

लता गुल्म तरु बाग के, लगत अनमने दीन,
पुहुप दुखारे ह्वे रहे, गन्ध हीन, श्रीहीन ।

५१३

अबध विकल, जनपद विकल, विकल अवध की गैल,
वन हुलसित, वन-जन मुदित, मुदित विन्ध्य को शैल ।

५१४

विकट नियम यह राम को, जानत हैं कोउ कोय :
कछु व्यक्तिन को हिय दरद, जग को मरहम होय ।

५१५

एक खपै, वरु, जग जिए, यहै धर्म को तत्व,
नतरु निमिष में जगत सब, ह्वे जैहै निःसत्व ।

५१६

निश्चय, यह गृह, अवध यह, यह सरयू को तीर,
राजभवन, उद्यान, सब सूने भए अधीर ।

५१७

निहचै, हिय सूनो पर्‌यो, मम कुटीर हू शून्य,
रजत बालुकामय भए, नदी-तीर हू शून्य ।

५१८

मातु सुमित्रा देवि को, धीर हृदय हहरात,
भरत बन्धु को नयन-जल, नैकु नाहिं ठहरात।

५१९

बढ़ि-बढ़ि आवत नैन तें, विकल द्विवेणी-धार,
फुर, उन बिन हिय-धैर्य हू, भयो अधीर उभार।

५२०

पै व्याकुलता तें कहूं, सर्यो करत हैं काम ?
जीवन-मूल्य चुकाइए, दै-दै चौखे दाम।

५२१

जीवन-धारण है कर्यो हँसी-खेल कछु नांहि,
बिना प्राण-उत्सर्ग के, ठौर नांहिं, जग मांहि।

५२२

पूज्य श्वसुर निज प्राण दै, थाप्यो नव आदर्श,
अब ह्वैहै इक नाम तें, प्रण-वात्सल्य-विमर्श।

५२३

त्याग और सन्यास की परिभाषा अब एक,
भरत पूर्ण सन्यास है, भरत त्याग तप टेक।

५२४

मानवता किमि पावती, ये अमोल उपहार,
यदि न ऊर्म्मिला सदन में होतो हाहाकार ?

५२५

कहा भयो जो वन गई सीता सती पवित्र ?
जन-मन अंकित होयगो वह आदर्श चरित्र ।

५२६

मानवता जब मत्त ह्वै, भूलेगी सत् रूप,
तब सीता को स्मरण शुभ दै है शांति अनूप ।

५२७

कहा भयौ जो ऊर्म्मिला तड़पति है दिन-रैन ?
याई मिस जग ह्वै रह्यो, पुण्य ज्ञान गुण ऐन ।

५२८

यज्ञ, आत्म बलिदानमय, भई जगत की सृष्टि,
मम साजन पोषण करत, करि दृग-जल की वृष्टि ।

५२९

आंखें रोवति बावरी, हिय मूरख हहरात,
पै विवेक गम्भीर ह्वै, कहत तितिक्षा बात ।

५३०

मन मातौ मानत नहीं, भटकि जात वा गैल,
जहाँ रुदन की हाट में, विकत स्निग्धता-तैल ।

५३१

हँसि-हँसि सहिये वेदना, कहत ज्ञान यों बात,
रोय लीजिए कबहुँ तौं, यों कहि मन बिलखात ।

५३२

जब अधरन तें झरत हैं ललित हास्य के फूल,
तब खटकतु हैं दृगन में, गलित रुदन के शूल ।

५३३

जब प्रकटत है अधर त कोमल हास-विलास,
ताई छिन चुइ परत है दृग तें कसक उदास ।

५३४

ललित हास्य, विगलित रुदन, फुल्ल वदन, दृग आर्द्र,
ये प्रसाद विभु ने दिए, ह्वै प्रसन्न करुणार्द्र ।

५३५

झलकत ज्यों नभ वक्ष पै, नैश तारिका-माल,
त्यों हिय में तपकत रहत, रंजित व्यथा-प्रवाल ।

५३६

हिय क हा-हाकार को, नेह न कहत प्रवीन,
नेहा गहर गभीर है, थिर है, नित्य अदीन ।

५३७

नेह न हा-हा खातु है, भीख न मांगत नेह,
नित्य मगन, नित तुष्ट जे, नेह-नीति - धर तेह ।

५३८

मँगता मांगत दीन ह्वै, कृपा कोर की भीख,
बिना मोल बिकि जाइबो, यही नेह की लीक ।

५३९

बिन सोचे, बिन कछु कहे, बिना भाव अनजान,
न्योछावर ह्वै जात हैं, दृग, मन, हिय, जिय, प्रान ।

५४०

कहा मांगिबो रोइ कैं, पिय को नेह प्रसाद ?
हौं न याचिका, जो करौं ठाकुर सों फरियाद ।

५४१

जोगी जोगिन प्रेम के, आतुर याचक नाहिं,
वे हैं प्रेमी, बावरे, ठाकुर जिन हिय मांहिं ।

५४२

हाँ कबहूं हिय कहि उठत, व्यथा इत्यलम् देव ।
कहा करौं कछु परि गई, हिय की दुर्बल टेव ।

५४३

ज्यों अनचाह कढ़ि उठत, अन्तस्तल की आह,
त्योंई कबहूं दैन्य-मिस, प्रकटत हिय को दाह ।

५४४

पै अब पिय लौं जाहुंगी, हौं ह्वै निपट अदीन,
तापस पिय ढिंग जाय किमि, हृदय-दीनता छीन ?

५४५

हे हिय, अब छांड़हु इतै, अपनो हा-हाकार,
धरहु धीर उपरामता, अरु निर्वेद अपार ।

५४६

साजन बन तप तपि रहे, प्रज्वल दिवस-मणीव,
धरहु ध्यान, हे हृदय तुम, अब ह्वै कैं उद्ग्रीव ।

५४७

दीन बने, नत ग्रीव ह्वै, अब न बितावहु काल,
शुद्ध सनेह-प्रवाह है, नित अदीन, उत्ताल ।

५४८

रसमाती घहरत सदा मगन लगन की बाढ़,
अलस दैन्य कैसो वहां, जहां सनेह प्रगाढ़ ?

५४९

होत जात है नेह-नद अब अति गहर-गभीर,
निज सागर दिशि बढ़ि रह्यौ, श्री यमुनैव सुधीर ।

५५०

अवश मिटैगो एक दिन, यह प्रवास को त्रास,
निहचै इक दिन होइगो, सागर-हृदय निवास ।

५५१

नित्य, सनातन, ज्योतिमय, मेरे पिय की कान्ति,
उनके चिन्तन, ध्यान में, कितै दैन्य ? कहँ भ्रान्ति ?

५५२

विगतज्ज्वर ह्वै, दैन्य तजि, धरिय ध्यान मन लाय,
नित पीतम कों ध्याइए, सुख-एषणा विहाय ।

५५३

कबहुँ न करिये प्रार्थना, कहिय न कातर बैन,
हिय कों सदा बनाइए ध्यान, भक्ति, रति ऐन ।

५५४

नैन सैन तैं हूँ न कहुँ, छलकै कातर भाव,
या तें लोचन में सदा, भरिय अचंचल चाव ।

५५५

दिन दूनी, निशि चौगुनी पुनि याही अनुपात,
बढ़ै जु हिय की विकलता, तउ रहिये मुसकात ।

५५६

कबहुँ न कीजै सजन की, कहूँ सिकायत जाय,
यों न ढिंढोरा पीटिए, हिय-लघुता दरसाय ।

५५७

रस-प्रतिदान निबाहिबौ, है यह उनको काम,
अपनो एतो काम है, बिकि जैबौ बेदाम ।

५५८

काऊ कौं यदि ठसक यह, कि हम बड़े रस राय,
हमें ठसक यह, भक्त हम, निःसाधन, निरुपाय ।

५५९

लेहु, चहै ठुकराहु, पिय, हिय तव चरणन पाँहि,
ठकुर सुहाती क्यों कहौं ? चाटुकारिणी नांहि ।

५६०

दरस प्यास की आस बड़, तड़पावतु है प्रान,
तऊ डगर ना छाँड़िहौं, करिहौं सतत पयान ।

५६१

तुम इतमो जनि देखियो, चढ़ि उत्तंग पहाड़,
या दिशि में उमड़ी अहै, दृग-सरिता की बाढ़ ।

५६२

पिय कहिहौं ना हिय-बिथा, अपनौ धीरज खोय,
सीखि गई हौं राखिबौ, बिथा हिये में गोय ।

५६३

पिय के दुसह वियोग में, केहि बिधि निकसैं प्रान ?
स्मरण ध्यान के पाश में, अटके रहत निदान ।

५६४

हिय, जिय, दृग उच्छ्वास में, पीतम रहे समाय,
रोम-रोम में पिय रमे, प्राण कहां तै जाय ?

५६५

बलिहारी या नेह की, प्राण जान नहिं देत,
निशि दिन तड़पावत रहत, कठिन परीक्षा लेत ।

५६६

छांड़ि प्राण यों संत में, पियहि न मिलिए धाय,
प्रेम-नेम प्रतिपालिए, आजीवन मन लाय ।

५६७

प्राण त्यागि देबौ, अहै कछु न कठिनतर कर्म्म,
जीवित रहि, सहिबौ बिथा, यहै प्रेम को मर्म्म ।

५६८

अमर प्रेम-रसमत्त ह्वै, प्रेमी साधत योग,
मृत्यु एक मदिरा अहै, पियत न नेही लोग ।

५६९

कहा बड़ाई मद पिये, भए शून्य, मदहोश ?
जागरूक ह्वै साधिबो, प्रेम योग निर्दोष ।

५७०

प्रेम वियोगी मृत्यु को, नहिं मांगत वरदान,
अमृत भक्ति अनुरक्ति जहँ, तहँ कैसो अवसान ?

५७१

सूत्रधार जहँ प्रेम चिर, अमृत नटी, नट राज,
मृत्यु यवनिका को तहाँ, कहौ, कौन सो काज ?

५७२

छकि छकि दृग-मधुकरन ने, कर्‌यो रूप रस-पान,
वियोगाग्नि में करत वे, अब छकि-छकि असनान ।

५७३

ह्वै वैश्वानर रूपिणी, विरह-हुताशन-जाल,
दहत मोह, आवत निखरि, प्रेम-हेम तत्काल ।

५७४

प्रेम कहा, जो ना पर्‌यो, विरह अनल की आंच ?
बन्हि परीक्षित नेह है, नित्य चिरन्तन सांच ।

५७५

जब नाचै मन मगन ह्वै, विरह-अशनि के बीच,
तबै समझिये, वह भयो कछुक सनेह नगीच ।

५७६

अनल-रास-क्रीड़ा बनी, प्रेम-परीक्षा शुद्ध,
ता बिन नाहिन होतु है शुद्ध नेह उद्‌बुद्ध ।

५७७

क्यों न अनल-तांडव मचै ? क्यों ना धधके ज्वाल ?
क्यों न लपकि लपटैं बढ़ें, हिय-दाहक विकराल ?

५७८

जहां मिलन को लास्य है, जहँ सँजोग-माधुर्य,
तहां विरह-तांडव अथिर, तहँ वियोग-प्राचुर्य ।

५७९

बनी सजन प्रच्छन्नता, अग्नि चंड, विकराल,
दरस चाह की बढ़ि चली, ललकि लपट द्रुत लाल ।

५८०

भए भसम वा अग्नि में, सबै कुशल अरु छेम,
एक वस्तु यह बचि रही, शुद्ध प्रेम को नेम ।

५८१

छिन-छिन ज्यों-ज्यों तपतु है, त्यों-त्यों निखरत रंग,
खूब बनायो ईश ने, अग्नि-प्रेम को संग ।

५८२

लोभ, लाभ, सुख, धाम, धन, लौकिकता, कुसलात,
प्रेम-पन्थ जो चलिय, तौ, भसम करिय ये सात ।

५८३

लघु लौकिक उपचार तें होत न नेह-निबाह,
ऐंडी-बैंडी, अटपटी अहै नेह की राह ।

५८४

ज्ञानानल ज्यों दहत है अज्ञानान्ध:कार,
त्यों विकार कौं, विरह की अग्नि करत है क्षार ।

५८५

सोरठा

कसर न कछ रहि जाय, विरह ज्वाल धधके अमित,
सैंत गई पिय पाय, कहै न यों कोउ अन्त मैं ।

५८६

प्रम भावना तो अहै, अन्वषण सायास,
जाको आदि न अन्त है, ऐसो अथक प्रयास ।

५८७

प्रीतम मति गति अनुसरण, अहै प्रेम को तत्व,
प्रेम कहा ? है खोइबो, अपनो क्षुद्र निजत्व ।

५८८

देखिय अनहंकार तें, अपनौ सदा लघुत्व,
आत्म - निवेदन - भाव में, कैसो आत्म-गुरुत्व ?

५८९

अनुसरिये सब काल मं, प्रियतम की पद-रेख,
आकुल ह्वं न बिसारिये, हिय को अमल विवेक ।

५६०

पुण्य प्रेम मादक अहै, किन्तु न रहित विवेक ।
प्रेम मत्त, छाँड़त नहीं निज विशुद्धि की टेक ।

५६१

जानत हौं, मानत नहीं, कसकत पीर अधीर,
जानत हौं, दृग तैं छलकि उठत नीर हिय चीर ।

५६२

जानत हौं, यह प्रेम को पन्थ अटपटो होय,
तऊ हृदय या गैल पै चलत, अपुनपौ खोय ।

५६३

जानत हौं, सब बात, पै, हिय तैं कहा बसाय ?
सिसकत, मचलत, हँसत कछु, वा मारग चलि जाय ।

५६४

एक विवशता-सी अहै, हिय लगिबे की बात,
बरबस खिंच जैबौ परत, जब हिय ललकि लुभात ।

५६५

रात दिना के दरद को, लेत विहँसि हिय मोल,
फिर खोयो-खोयो फिरत, नैनन में मद घोल ।

५९६

जानि दरद की अमिटता, यदि न करे कोउ नेह,
कहा कहिय वा मनुज को ? वृथा धरी नर देह।

५९७

वहिरन्तर के, दृगन के, खुले होत है प्रेम,
जौ न हिये की खुलि सकै, तौ नहिं निबहत नेम।

५९८

नैकहु नैना ना नमें, जब देख्यो वह रूप,
वह किशोरपन की ठसक, वह छवि शुभ्र अनूप।

५९९

अजहूँ या स्मृति-पटल पैं, बरसन की वह बात,
अंकित ऐसी है मनहुँ चढ़ी जु कालिह बरात।

६००

धनुष-यज्ञ की वह छटा, राजन्हि के वे ठाठ,
तुम ऐसो दुर्धर्ष वह, मानहु उकठ कुकाठ।

६०१

आर्य राम को धैर्य वह, उनको वह उल्लास,
राम नयन गंभीरता, लखन नयन चल रास।

६०२

वह उत्साह अदम्य अति, उनकी वह ठकुरास,
सद्यस्मृति सी अजहुँ वह, हियहि करत सोल्लास ।

६०३

वह विवाह-मंडप विशद, वे गुरुजन, वे तात,
आह, काल कब थिर रह्यो ? भई पुरानी बात ।

६०४

बड़ी पुरानी बात है, पै नित नई लखात,
वाई दिन तो हृदय में, भयो नेह-संघात ?

६०५

युग-युग को सम्बन्ध वह, वा दिन भयो नवीन,
फिरि कैं जगि आई वहै, प्रीति-रीति प्राचीन ।

६०६

वा दिन की उनकी गुनौं, कौन-कौन सी बात,
उनकी तौ प्रति बात में, दीखत मधु छलकात ।

६०७

उन बातन कौं सुमिरि कैं, हिरदौ भरि-भरि जात,
उन मधुमय घटिकान में, हतौ न विधि उतपात ।

६०८

वा दिन जब आई घड़ी पाणिगहन की, आह,
हिय में तब कितनौ हतौ, आतुर, अमल उछाह।

६०९

धरकि रह्यो हो बेग तैं मेरो हिय सुकुमार,
उन तन झिझकत रहि गई, नैन उघारि निहारि।

६१०

ममात्मजा यह ऊर्म्मिला-कर गहु, लक्ष्मण धीर।
तात चरण बोले गिरा यों सागर गंभीर।

६११

उनने कम्पित पाणि गहि, भर्यो हिये रस-रंग,
उन लोचन में प्यार हो, मो दृग भक्ति तरंग।

६१२

आह सुदृढ़ कर-गहन वह, मम अवलम्बन-भाव,
मोहिं स्मरण है वा निमिष, मिटि गौ द्वैत-दुराव।

६१३

मिली ऊर्म्मिला लखन में, लखन ऊर्म्मिला आय,
उत्तरीय सौं बँधि गयो, मेरो अंचल जाय।

६१३

वह गठबंधन, हिय चलन, पाणि-गहन वह मूक,
वाई छिन जागी हिए, रस-भावना मलूक ।

६१५

गठबंधन वह ना हतो, वह न हतो पट-वन्ध,
वह तो जीवन-गाँठ ही, वह प्राणन को फन्द ।

६१६

यज्ञ, अनल, नक्षत्र, शशि, सूर्य, लग्न, शुभ वर्ष,
ये क्षर, अक्षर प्रेम के साक्षी भए सहर्ष ।

६१७

यज्ञ-हुताशन की बढ़ी, जब ज्वाला उत्ताल,
तब हम दोउन के, मनों, हिय ह्वै गये निहाल ।

६१८

स्वाहा ! स्वाहा ! को उठी हुती सुध्वनि गंभीर,
ता छिन स्वाहा ह्वै गई, अहं-भावना-पीर ।

६१९

उन सँग अग्नि-प्रदक्षिणा पूर्ण भई जा काल,
तब तें अर्पित ह्वै गयो, हृदय भूलि निज हाल ।

६२०

वा दिन की इक बात तो, अजहुँ मोहिं हुलसात,
अजहूँ हौं हँसि लेतु हौं, सोचि-सोचि वह बात ।

६२१

इतनी दृढ़ता सों गह्यो, मो कर उन, करि प्यार,
हौं विदेह-तनया, नतरु, करि उठती सीत्कार ।

६२२

पाणि गहन के समय के वे सब स्मरण-उमंग,
मन में उठि करि देत हैं, हृदय आज हूं भंग ।

६२३

वे दिन का जानौं कितैं, सहसा गए पराय ?
पंछी के-से उड़ि गए अपनो नीड़ बिहाय ।

६२४

वे दिन सुख सपने भये, उलटयो दैव - विधान,
भयो जागरण स्वप्न, अरु, स्वप्न जागरण मान ।

६२५

सुख की स्वप्निल कल्पना, जागृत भई सशंक,
सुख कौ ध्रुव जागरण वह पर्‌यो स्वप्न-पर्यंक ।

६२६

खोई-खोई वृत्ति इक, उठि आवत है म्लान,
इत-उन सब दिशि में लगत निरानन्द सुनसान ।

६२७

उड़त नयन-अलि गगन तन यों ईं से अकुलात,
उदासीन हिय होत है, अंग शिथिल वै जात ।

६२८

शून्य नील आकाश में, नैना विचरत जाय,
कढ़ि आवत है हृदय तें, विफल आह निरुपाय ।

६२९

भ्रमित श्रमित ह्वै जात हैं, मग्न मनोरथ मौन,
थकित शिथिल सों चलत है, यह उसाँस को पौन ।

६३०

मथित, गलित, अति चलित हिय, दरसावत है क्लान्ति,
प्रतिक्रिया मिस यों कबहुँ, वह पावत विश्रान्ति ।

६३१

सुरति अथक, पै, अधिकरण शिथिल होत एहि ठांहि,
तन धरिबे की यह बिथा, मिटत पूर्णतः नांहिं ।

६३२

श्रान्त, अहो प्रिय, श्रान्त अति, बहुत भई हौं श्रान्त,
पै ध्रुव पद धरती, चली आवतु हौं निर्भ्रान्त ।

६३३

थकी अमित, पै रंचहूं, हौं न मानिहौं हार,
छोंड़ चुकी कबकी, सजन, हिय को हार विकार ।

६३४

लेहु गोद, हौं थकि गई, यह न कहौंगी, देव,
अब तौं पथ पै चलन की खूब परि गई टेव ।

६३५

हारैं इन्द्रिय उपकरण, तो न कछू बड़ि बात,
अथक रहै जो हिय लगन, तौं न साधना घात ।

६३६

पथ को महदन्तर निरखि, निरखि मार्ग विस्तीर्ण,
सत्य साधना को हृदय, कबहुँ न होत विदीर्ण ।

६२७

अथक चरण, दरसन लगन, अथक साधना नीक,
सन्नेहाराधन अथक, अमिट नेह की लीक ।

६३८

अमिट नेह की लीक पै धरत-धरत ध्रुव पाय,
निहचै इक दिन लेहुँगी, अपने पियहिं मनाय ।

६३९

ऊँची पै ऊँची चढ़त जात प्रेम की बाट,
चढ़ि चलु, चढ़ि चलु, विरहणी, खोले नैन कपाट ।

६४०

काल सान्त : वामे लगे तीन काल के जोड़,
वह मम नित्य सनेह सों, किमि बद सकिहै होड़?

६४१

अवधि रहित, अन्तर रहित, अन्तर्हित, अन अन्त,
अपलक, अमल, सनेह चिर, इति वदन्ति गुणवन्त ।

६४२

बरस, मास, दिन, रात, पल, घटिका, निमिष, मुहूर्त,
इनकी का गिनती, जहाँ भयो नेह-रस स्फूर्त ।

६४३

छूटि गयो दिन गिनन को मेरो विकल स्वभाव,
जागि गयो है अब हिये, कछु-कछु अविकल चाव ।

६४४

यह वियोग हू ह्वै रह्यो, अब संयोग-प्रतीत,
धृति गृहीत मय ह्वै चल्यो कछु-कछु द्वन्द्वातीत ।

६४५

तपत विरह धूनी, भई मति-गति कछुक समान,
हौलें-हौलें हटि रह्यो, यह अन्तर अज्ञान ।

६४६

ध्यान योग ही मैं झलकि, मिलत मधुर संयोग,
कहा सँयोग-वियोग को छूटि जायगो भोग ?

६४७

धरकहु मत, हे हृदय तुम, करकहु मत, हे नैन,
दरकहु मत, तन-भांड हे, उफनहु जनि मन-फैन ।

६४८

होहु उपरमित शमित नित, धरहु ध्यान, धरि धीर,
पीतम आए गेह मम, बने चिरन्तन पीर ।

६४९

आज वेदना-रूप धरि, आए सजन सुजान,
लेहु बलैयाँ हुलसि, हिय, करहु समर्पित प्रान ।

६५०

वे आए आंसू बने, वे बन आए चोट,
वे आए हैं विरह बनि, ह्वै नैंनन की ओट ।

६५१

हिय-कम्पन-मिस करि रहे, पिय, उत्पल मालाँच,
रोम-रोम में रमि रहे, वे बनि चिर रोमांच ।

६५२

अधरन में लाली बने, रंजित भए सुजान,
नयनन्हिँ बने कनीनिका, भए कृष्ण रँग खान ।

६५३

सघन केस मिस उड़ि सजन, या मुख पै मँडरात,
लट मिस लटकि कपोल पै, चुम्बन करत सिहात ।

६५४

आकुलता बनि कैं हिये, छाय रहत पिय आय,
कबहूँ ह्वै रस-लीनता, आवत लाज बिहाय ।

६५५

आवत हैं कबहूँ सजन, बनि कैं हिय की खीझ,
कबहूँ मनः प्रसाद बनि, छाय रहत पिय रीझ ।

६५६

अरी ऊर्म्मिले, बावरी, छटा निहारहु आज,
भीतर-बाहर सजन के, लखहु अटपटे काज ।

६५७

कबहूँ आवत हैं सजन, बने माघ के मेह,
प्रलयंकर प्लावन भरत, मोरे आंगन-गेह ।

६५८

गरजत, हहरत, करत हैं, भीम भयंकर घोष,
घन - गर्जन-उद्घोष मिस प्रकट होत पिय-रोष ।

६५९

झकझोरत तन सजन, बनि झंझानिल-संचार,
दिक्-दिगन्त लौं होत है, जड़ थिरता संहार ।

६६०

घन-गर्जन ? अथवा अहै यह पिय धनु-टंकार ??
किंवा उनकी सुनि परत, यह गभीर हुंकार ?

६६१

बने शीत हेमन्त की, ठिठुरावत अँग-अंग,
कुज्झटिका बनि पिय भरत, दृग में धूमिल रंग ।

६६२

कबहूं बिलसत गगन में, पिय बनि पूरन इन्दु,
पुनि कबहूं चुइ परत हैं, बनि-बनि सीकर बिन्दु ।

६६३

बरसत कबहूं उपल बनि, कबहुं बने जलधार,
कबहूं बनि घन बीजुरी, चमकत सौ-सौ बार ।

६६४

पतझड़ की पीड़ा बने, बने वसन्त विलास,
मरण-जनम के वक्ष पै, करत रहत पिय रास ।

६६५

पात-विलगता मिस भयौ, उनको प्रकट विराग,
नव किसलय-दल मिस प्रकट भयो रुचिर अनुराग ।

६६६

देत मृत्यु-संदेश प्रिय, प्रकटे पतझड़-काल,
थिरकि उठे कोंपलन में, देत सजीवन ताल ।

६६७

लता, पत्र में, बेलि में, द्रुम-वल्लरी मँझार,
फैलि रह्यो है छलकि यह, मेरे पिय को सार ।

६६८

डार-डार में पिय रमे, लता-पत्र में पीय,
प्रकटि रह्यो-तृण दलन में पिय को भाव स्वकीय ।

६६९

अमिय फुई कलिका बने, नव बसन्त के मध्य
सरसावत हैं सजन नित, चिर जीवन-रस सद्य ।

६७०

फूटीं नवल प्रवालिका, बल्कल को हिय फारि,
अथवा बिहँसे मम सजन, जड़ता अमित बिदारि ?

६७१

छलक्यौ पाटल कुसुम में, अमल गुलाबी रंग,
अथवा पिय के अधर तें छलकी हास्य-तरंग ?

६७२

कलियन ने उन्मुक्त ह्वै, खोले नैन अधीर,
या मिस प्रकटी सजन की, चिर विकास की पीर ।

६७३

पुहुप पँखुरियन में रही, सुकुमारता समाय,
मानहु झलकी पीय की, हिय-करुणा अकुलाय ।

६७४

भूमि वृन्त पै सुमन घन, झूलि रहे सोल्लास,
मानहु पिय-हिय कल्पना करति झूमि-झुकि रास ।

६७५

मम पिय की मृदुता भरी पुहुप पँखुरियन मध्य,
गूंजे अलि-गुँजार मिस, उनके कोमल पद्य ।

६७६

कुसुम हृदय में नहिं भर्यो, यह पराग अधिकाय,
मम पीतम की चरण-रज, उनमें प्रकटी आय ।

६७७

कुसुम दलन में, पत्र में, कंटक हूँ में आय,
इत उत क्रीड़ा करत हैं, मेरे पिय हरषाय ।

६७८

ऊँची नील अटा चढ्यौ, बैठि शून्य की सेज,
प्रकटि करि रह्यौ खर तरणि, मम पीतम को तेज ।

६७९

पावस ऋतु की मदभरी मादकता मिस आय,
पीतम सालस देत हैं, अपनो रँग छलकाय ।

६८०

शुभ्र शर्वरी नाथ मिस, विचरि अगम आकास,
नील गगन सर, करत पिय, जल क्रीड़ा सायास ।

६८१

सीकर-कण भू-वक्ष पै नहिं टपकावत इन्दु,
जल-विहार प्रक्षिप्त हैं, ये पिय-कर जलबिन्दु ।

६८२

रज के प्रति कण-कणन में मिले मोंहि पिय आज,
मैंने अणु-अणु में लख्यौ, पिय को आज स्वराज ।

६८३

खर निदाघ में पिय बसत, पीतम बसत बसन्त,
भई पीय-मय प्रकृति यह, पिय को आदि न अन्त ।

६८४

पिय अनन्त आकाश सम, पिय अनन्त ज्यों काल,
पिय अनन्त मम आश सम, पिय अनन्त व्रत पाल ।

६८५

काल देश मय पीय मम, काल देश तैं दूर,
पास, दूर, सब ठौर, हौं पिय पायौ भरपूर ।

६८६

भली भई, दुविधा गई, मिट्यो सँजोग-वियोग,
या वियोग हू में मिल्यौ, मोहि चरम संजोग ।

६८७

पल-पल में, क्षण-क्षणन में, सर्बै ठौर, सब काल,
मोहिं मिले कण-कणन में, अपने सजन कृपाल ।

६८८

मिट्यौ काल को भेद यह, मिट्यो विरह को दाह,
चन्दन-लेपन ह्वै गयो, हिय को अनल-प्रवाह ।

६८९

प्रीति-रीति अमला भई, रति-गति भई अदेह,
भई अनिंगित भक्ति हिय, भयो अपार्थिव नेह ।

६९०

अब आई उपरामता, अब पायो निर्वेद,
अब रति अबला ह्वै गई, मिट्यो स्वेद को खेद ।

६९१

लक्ष्मणमय अन्तर भयौ, बाहिर लखै न कोय,
रहसि ध्यान चिन्तन करौं, कबहूँ प्रकट न होय ।

६९२

निरखौं केश-कलाप में छटा जटा की भव्य,
रहौं, तपत तप नेम को, यह मेरो मन्तव्य ।

६९३

पिय, तुमने मम 'मैं' हर्‌यौ, देहु मोंहि 'मैं' रूप,
काहू दाम न लेहुँगी, यह अद्‌वैत अनूप ।

६९४

पै कैसें झगरहुं, अहो, अपने ही सौं जाय,
कहा करौं, यह मैं' गयो अपने आप बिहाय ।

६९५

बारि नेह को दीयरा, अन्तर में धरि गोय,
पिय को ढूँढन जो चली, तो गइ आपुहि खोय ।

६९६

कहा भयौ यह, ऐं ? अरे, मिट्‌यौ जात यह द्वैत ?
कैसे सहसा बहि उठ्‌यो यह प्रवाह अद्वैत ?

६९७

देख्यो जो निज नैन भरि भयो द्वैत को अन्त,
सहज द्वैत की यवनिका उठि-उठि चली तुरन्त ।

६९८

यह कैसी अद्वैत गति, जहां न आकुल भाव ?
अहो, कौन यह नेह जहँ, चुवत न दृग तैं चाव ?

६९९

का पूरनता मिलि गई ? हिय क्यों धरकत नाहिं ?
पै, कब कम्पन होत है लक्ष्मण के हिय माँहि ?

७००

भयो ऊर्म्मिला को हृदय, लक्ष्मण हृदय अनूप,
बनी ऊर्म्मिला लखन मय, लखन ऊर्म्मिला रूप,

७०१

ओ जगती के लोग सब, गावहु मंगल-गान,
आज ऊर्म्मिला को भयो पृथग्देह-अवसान ?

७०२

अब तो ये कटि-कटि परे, देश काल के बन्ध,
दुई मुई मरि-मरि मिटी, अहं भावना अन्ध।

७०३

मेरे कर में धनुष है, मेरे कर करवाल,
भई जनकजा ऊर्म्मिला लक्ष्मण, दशरथ लाल।

७०४

वन विचरौं, कौतुक करौं, हरौं जनन के क्लेश,
अवध भई अटवी गहन, रही न दुविधा लेश।

इति श्री पंचम सर्गः

श्री मातृ ऊर्म्मिला चरणकमलार्पणमस्तु ।

अथ श्री षष्ठ सर्ग

पूर्ण प्रणाम

१

राम—श्याम तन, चिरजीवन-धन,
जन - गण - मन - रंजन - कारी,
राम,—धर्मधर, राम,—धनुर्धर,
उद्भव - भय भंजन हारी,

राम,—अविचलित,करुण चलित-चित,
ललित राम लीला कर्त्ता,
राम,—नित्य निष्काम राम वे,—
सतत कर्म - निष्ठा - भर्ता;

राम,—लोकनायक, मतिदायक,
खर सायक-धर, जय-जय, हे,
राम,—सदय हे, विजय-निलय, हे,
जय जय जय कल्मष-क्षय, हे।

२

इन्द्रिय-पति, इन्द्रिय गोचर पति,
अहंकार मन बुद्धि पते,
कायापति, माया छाया पति,
सीतापति, नित शुद्धमते,

महामहिम योगेश्वर हरि हर,
जागरूक् उद्बुद्ध यते,
गुडाकेश, कूटस्थ अचल अति,
गति पति, अन अवरुद्ध गते,

सदा शान्त चित, अनुद्विग्न नित,
मर्यादा पुरुषोत्तम, हे,
जय जय दशरथनन्दन, जय, हे,
जय जय जयति नरोत्तम, हे।

३

गहन विजन अज्ञान तिमिर हर,
प्रखर दिवाकर सीताराम,
भूमिभार हर, वन मंगलकर,
नित करुणाकर, सीताराम,

वन विजयी, खरदूषण विजयी,
लंका विजयी, सीताराम,
कोटि-कोटि विपदा विजयी, नित
आत्म-जयी श्री सीताराम,

पूर्ण हुई तपमयी साधना,
बाधाएँ सब चूर्ण हुईं,
अवधि कट गई वनोवास की
पितुराज्ञा सम्पूर्ण हुई ।

४

चौदह बरस विलीन हुए वे,
भूतकाल के अंचल में,
रहा काल कब सुस्थिर ? अस्थिर—
इस गतिमय जग चंचल में ?

क्षण-क्षण भीषण-चक्र-प्रवर्त्तन,
क्षण-क्षण परिवर्तन-छाया,
क्षण-क्षण कालोत्क्रमण निरन्तर.
क्षण-क्षण पुरःसरण-माया,

तन-मन-जीवन, रोम-रोम में,
है गति अनुगति अनस्थिरा,
काल ? काल है महाशून्य में,
केवल गति का ज्ञान निरा ।

५

क्षण - आवर्त्तन - अनुक्रमण मय,
चलन-कलन मय काल सदा,
है त्रिकाल-मंडित त्रिपुंड युत,
महाकाल का भाल सदा,
धूप, छाह, प्रातः, सन्ध्या, निशि,
दिवसों की शृंखला बनी,
सूर्य, चन्द्र, भूमंडल, ग्रह, सब—
चलते गति अपनी - अपनी,
काल सदा आकाश-देश में,
चलिता गति से बोधित है,
मानव मन में देशान्तर से
समय सदा अनुमोदित है।

६

अवधपुरी से लंका तक जो,
बनी एक पथ की रेखा,
जिससे होकर आर्य-सभ्यता
ने दक्षिण जन-पद देखा,
जिस रेखा ने, किरण-जाल बन,
किया प्रकाशित अन्ध विजन,
उसका मंडित होना ही है,
अवधिकाल का चलन-कलन,
अतः अवध से लंका तक का
नाम हुआ चौदह वत्सर,
देश काल का प्रकट हुआ यों,
चिर अवलम्बन अपरस्पर।

७

अतिक्रमित वन - देश हो गया
अवधि - उत्क्रमित काल हुआ,
अग्नि-परीक्षा में पारंगत,
रघुवर दशरथ लाल हुआ,

निर्जन घन वन हुआ प्रफुल्लित,
आज्ञानान्धःकार कटा,
जन-गण - मन-मंदिर में जागी
ज्ञान ज्योति; भूभार हटा;

पाप कटा, अन्याय मिट गया,
अनाचार का अन्त हुआ,
सीता राम लखन का तप,
जन-मंगल-कर फलवन्त हुआ ।

८

यों तो दिन पर दिन प्रतिदिन ही,
कटते रहते हैं नर के,
समय बिताना लिखा हुआ है,
छिन-छिन एक-एक करके,

कुछ को काल कलित करता है,
कुछ करते हैं काल कलित,
कुछ को समय चलाता रहता,
कुछ करते हैं समय चलित,

काल-प्रवर्त्तक, गति-परिवर्त्तक,
रामचन्द्र ने युग बदला,
लुप्त हो गई त्रेता-युग की,
घन अज्ञान-निशा प्रबला ।

९

विश्वजयी रावण की लंका,
राम चरण नत हुई भली,—
रही न पर-पीड़न-आशंका,
अनाचार की घड़ी टली ;
एक दुखद दुःस्वप्न कल्पना—
सम रावण का युग बीता,
भूमि विमुक्त हुई ; बन्धन से
छूटी भूमि-सुता सीता,
कुटिल रावणीया विभीषिका
भूतकाल गर्भस्थ हुई,
लंका की निर्ह्रादवती सब
सेना अस्त-व्यस्त हुई ।

१०

राम नहीं भौतिकतावादी,
सत्य सन्ध श्रीराम सदा,
नहीं भूमि-अर्जन लोभी वे,
हैं अलिप्त निष्काम सदा,
सदा लोक-कल्याण-भावना—
प्रेरित पुण्य कर्म उनका,
आत्यन्तिक सन्यास स्वार्थ का,
बना स्वभाव धर्म उनका;
इसीलिए लंका नगरी में,
फैला था उल्लास महा,
राम-करों से नृपति बिभीषण
का जब था अभिषेक वहाँ ।

११

बहुत दूर लंका नगरी है,
सुनो कल्पने, अरी सखी,
बहुत दूर पीछे त्रेता युग–
है, सुन लो सहचरी सखी,

पर, तुम चली चलो, करती हो
क्या कालोदधि की शंका,
सेतु-बन्ध श्रीराम नाम का,
स्मरण करो, पहुँचो लंका,

क्या पराजिता ? नहीं सत्-जिता,
लंका की निरखो शोभा,
राजमार्ग की, प्रति गृह गृह की,
छटा निहारो मन लोभा।

१२

आर्य राम की विजय नहीं यह,
है प्रचार सत्-संस्कृति का,
अतः लंक में नहीं रहा भय,
विजय गर्व की दुष्कृति का;

गृह-गृह में उल्लास-हास है,
नगर निवासी अमित सुखी,
आर्य राम चालित सुराज्य में,
कैसे कोई रहे दुखी ?

आज विभीषण राजा होंगे,
हो अभिषिक्त राम कर से,
देंगे ये ही हाथ राज, है–
जिसने जीता खर - शर से।

१३

आज त्याग, संग्रह की शोभा,
सँग - सँग लंका में निखरी,
आज त्याग की, जन-संग्रह की,
शोभा छहर - छहर बिखरी,
इन्द्रियजित, संयमी, आत्मजित,
नर को लोकेषणा कहाँ ?
लोभ कहाँ उस पुण्य हृदय यें,
शुद्ध सत्गवेषणा जहां ?
जो जग-जन के हृदयों में नित
विश्वधर्म के भाव भरे,
वह जन-मन पति अपने सिर क्यों
पर - शासन का भार धरे ?

१४

रामचन्द्र के जय-निनाद से,
गूँज रही लंका-नगरी,
सुमति विभीषण के प्रसाद से
पुलक रही डगरी - डगरी,
सब आबाल वृद्ध पुरवासी
हर्षित फूले - फूले से
अति प्रसन्न मन डोल रहे हैं
निज पथ भूले - भूले से,
हुई सज्जिता लंका नगरी,
घर - घर सज कर पुलक उठा,
आज लंक में प्रति गृह से सुख
स्वर्णिम बह-बह, ढुलक, लुटा ।

१५

स्वर्णगृहों के स्वर्ण-शिखर सब,
चमक उठे प्रातर्वेला,
करने लगे गवाक्ष वायु से–
डोलित, किरणों से खेला,
स्वर्ण-खचित सब द्वार देहली,
रवि-किरणों में चमक उठी,
गृह - कपाट - मंडित कर-कौशल,
कृतियाँ छिनमें दमक उठीं,
प्रातर्वेला लंका निखरी,
लज्जित अरुणा - बाला - सी,
अथवा राम - यज्ञ - वेदी की,
लोहित रंजित ज्वाला सी ?

१६

हेम कलश नाना विधि चित्रित,
मधु जल भरित धरे द्वारे,
वे लंका के वैभव कौशल
के प्रमाण न्यारे - न्यारे,
नगर वासियों के कृतज्ञता–
भरित हृदय के द्योतक वे,
राम विभीषण के सत् प्रेरित–
कार्यों के अनुमोदक वे,
द्वार-द्वार पर दमक रही है
मंजुल कंचन - कान्ति भली,
चिर अशान्ति के बा : मिली है,
लंका को यह शान्ति भली ।

१७

मुक्ता - हीरक गुम्फित तोरण,
द्वार-द्वार पर फूल रहे,
जग-मग ज्योति निहार नागरिक–
गण, मन ही मन फूल रहे,
झल-मल झल-मल झलक रहे हैं
रवि - किरणों से वन्दनवार,
हार धार कर सिहा रहे हैं
लंकपुरी के नन्दन-द्वार,
निर्भयता गृह-गृह में व्यापी,
विस्तृत हुई शान्ति की बाट,
आज पूर्ण उन्मुक्त हो गए
लंका-गढ़ के भीम कपाट ।

१८

कदली, नारि केल दल वेष्टित,
प्रतिगृह के कपाट - आधार,
मरकत इव शोभित करते हैं,
अपनी आभा का विस्तार,
द्वार देहली पर अंकित हैं,
कुंकुम, स्वस्तिक चिन्ह अनेक,
भीतों पर हैं लिखित अनेकों,
भाव भरे सुन्दर, लघु लेख,
कहीं लिखा है 'रामो जयति,
भवतु चिरजीवी विभीषण:'
कहीं लिखा है...
'भवतु सच्चिदानन्द स्वरूपं इदं मनः'

१९

विस्तृत राजमार्ग जल-सिंचित,
जन - संकुलित, तरंगित है,
नाना वस्त्राभरण - कान्ति से,
आलोकित, अति - रंजित है,
दोनों ओर सघन वृक्षों से
राजमार्ग आच्छादित है,
उस पथ पर जनगण की गति अति
सुखकर तथा अबाधित है,
जन-समूह कल्लोलित सर - सम-
इधर - उधर हिलता - डुलता,
चला जा रहा है लहरों सा,
हँस सब से मिलता-जुलता ।

२०

लहरा रही गृहों पर सुन्दर
मन मोहिनी ध्वजाएँ ये,
ऐसी लहरा रहीं कि सहसा
सागर - वीचि लजाएँ ये,
अठखेलियाँ कर रही हैं ये
चंचल प्रात समीरण में,
कुछ मिसरी - सी घोल रही हैं
ये अपने मन ही मन में,
ये फहराई थीं उस दिन भी
जब रावण का व्याह हुआ,
और आज भी फहराती हैं,
जब रावण का दाह हुआ ।

२१

किन्तु आज की बात और है,
आज और ही है आनन्द,
आज मुक्ति का मिला सँदेशा,
सकल दिशाएँ हैं स्वच्छन्द,
वरुण मुक्त हैं, मुक्त मरुद्गण,
वायु मुक्त, उन्मुक्त सभी,
अब जग में कोई क्यों होगा
परवश, बन्धनयुक्त कभी ?
इसीलिए उन्मुक्त पताकाएँ
हर्षित लहराती हैं,
विश्व-मुक्ति-सन्देश वाहिनी
ये सब दिशि फहराती हैं।

२२

लंक दुर्ग के कोट - कँगूरे
नव सज्जित हो विहँस रहे
राम-चिन्ह - युत केतु अनेकों
दुर्ग-शिखर पर विलस रहे,
गढ़ प्राचीर हरित पल्लव से,
चीनांशुक - से सज्जित हैं,
अथवा दुर्भेद्यता, दुर्ग की
कोमलता में मज्जित है,
बुर्जों से सैनिक दल की यह
बहती अट्टहास - धारा,
ज्यों नर, शिलाखण्ड भेदन कर,
प्लावित करते जग सारा।

२३

सिंह-द्वार खुले हैं गढ़ के,
प्रहरी खड़े शस्त्रधारी,
पुरवासी गढ़ में हैं आते–
जाते, लिए भेंट भारी,
घोर नगाड़ों से, दुन्दुभि से,
घन निनाद की धार बही,
गोमुख, शृंग, शंख बजते हैं––
अम्बर में ध्वनि गूँज रही,
आज लंक - राजेश्वर होंगे
नृपति विभीषण विज्ञानी,
अभिषकोत्सव के कारण है
सज्जित लंका राजधानी ।

२४

राज सभा में पुर-नर-नारी
अति प्रसन्न, एकत्रित हैं,
चतुर शिल्पकारों की कृति से
सभा-भवन अति चित्रित हैं,
मुक्ता, मणि, हीरक, नीलम की––
जग-मग जग-मग ज्योति जगी,
मानो अम्बर में अनगिनती
नक्षत्रों की भीड़ लगी,
बहुरंगी वस्त्रों की मणियों––
में है झलक रही झांई,
मानो झलक रही दर्पण-गत
इन्द्र - धनुष की परछांई ।

२५

तीन उच्च - सिंहासन - मंडित
राज - सभा का मंच बना,
ज्यों जग-रंग-मंच पर मंडित
आसन त्रिगुणों का अपना,
सिंहासन के पीछे सज्जित
चँवर-छत्र - धर दास खड़े,
उनके पीछे नतमस्तक, पर
अतिशय सजग, खत्रास खड़े,
सिंहासन से कुछ नीचे दो
इधर-उधर उच्चासन हैं,
उनके नीचे सामन्तों के
सुन्दर जटित सुखासन हैं ।

२६

हैं मध्य में विभीषण नरपति,
राज्ञी मन्दोदरी सहित,
कैसे कोई राजेश्वर हो
यदि वह है अर्धांग-रहित ;
हैं दाहिनी ओर सीता सह—
अवधेश्वर रघुवर आसीन,
बाईं ओर विराज रहे हैं
किष्किन्धेश्वर नीति प्रवीण,
नीचे आसन पर श्री लक्ष्मण,
अंगद राज, विराज रहे,
उनके नीचे सामन्तों के
सचिवों के दल भ्राज रहे ।

२७

राम आज भी वही राम हैं,
जो कल तक थे वनवासी,
वही वेश है, वही भाव है,
सदा एक - रस, अविनाशी,

हुआ पूर्ण वनवास काल, वन--
जाग उठा, रावण हारा,--
सीता मिली, हुआ तप सुसफल,
मिटा जगत का अँधियारा,--

उनके चरण - प्रताप - मात्र से
यह जादू हो गया, सही
किन्तु अविचलित, नित्य अनिगित
बने आज भी राम वही ।

२८

स्वस्ति-पाठ की ध्वनि उच्चारित-
हुई,-सभा निस्तब्ध हुई,
श्रुति गायन के स्वर-साधन में,
जन - रव - गति निःशब्द हुई,

शब्द ब्रह्म बन कर, यह लहरा
उठी पताका संस्कृति की,
हुई सांस्कृतिक विजय पूर्ण श्री-
आर्य राम की मति धृति की,

नहीं शस्त्र विजिता यह लंका,-
यहाँ विजय है शास्त्रों की,
यह जय है तापस आर्यों के
शुद्ध शब्द - ब्रह्मास्त्रों की ।

२९

उठे राम निज सिंहासन से,–
धन्य मंजु छवि स्वप्निल-सी,
धन्य योग निद्रिता, जागृता,
वह लोचन छवि झिल-मिल सी,

धन्य-धन्य उन्नत ललाट, जिस–
पर मण्डित चिन्तन-रेखा,
धन्य सभी जन की आँखें जो
बनीं राम की छवि-लेखा,

बलि जाऊँ आजानु बाहु वे,
चिर रक्षक, जग-पोषक वे,
धन्य वरद कर कमल अमल वे,
जन रंजन, जनतोषक वे ।

३०

वह विशाल वक्षस्थल जिस पर,
रावण-शर के चिह्न बने,
वे सुन्दर कपोल द्वय, जिन से—
ढरके करुणा - अश्रु घने,

धन्य चरण वे, जिनने उत्तर–
को दक्षिण से जोड़ दिया,
जिनने नव-पथ निर्म्मित करके
मानव गति को मोड़ दिया,–

बलि जाऊँ, वे चरण बने जो
आश्रय दाता शूलों के,
वे पद जो विचरे हैं शोधन–
करते जन - मन - भूलों के ।

३१

शिर पर जटाजूट है, अथवा–
जग-रक्षण का भार बढ़ा,
अथवा कच कुंडलियों के मिस
जन - कृतज्ञता - भार चढ़ा,

अथवा श्यामल भूतकाल के
गर्भस्थित चौदह वत्सर,
जटाभार बन कर छाए हैं
रामचन्द्र के मस्तक पर,

एक-एक कुन्तल-अवली में
उलझ रहीं सौ-सौ स्मृतियाँ,
ग्रथिता हैं प्रति जटा कुंडली–
में तप की अनेक कृतियाँ !

३२

जिस निद्रा में विगत काल यह,
लय हो कर सो जाता है,–
जिस निद्रा की श्याम गली में,
उद्बोधन खो जाता है,

जिस निद्रा में है अतीत का
मद अति संमोहन कारी,
जिस निद्रा में है विराम अति
सुखकारी, संस्मृति - हारी,

वही नींद अँज रही नयन में
दशरथ नंदन निर्गुण के,
उस निद्रा के आधिपत्य से
नयन उनींदे हैं उनके ।

३३

जिस जागृति में उद्योद्भव है,
जिस जागृति में मति-गति है,
जिस जागृति में वर्तमान की–
निरलस, सजग कर्म-रति है,
जिस जागृति में है भविष्य की
नव आशा निर्माणों की,
जिस जागृति में सुस्पन्दन है,
चलिता गति है प्राणों की,
जिस जागृति में मोह विनाशक,
जागरूकता मय बल है,
भरा हुआ श्रीराम नयन में
वही जागरण अविचल है ।

३४

जिस के बल पर मानव जन-गण,
शुभ भविष्य दर्शन करते,–
जिस पर नित अवलम्बित हो कर
नर हिय में आशा भरते,
वह सुदूर दर्शन - समर्थता–
भरे राम निज नैनों में,–
खड़े हुए हैं अमित भाव ले
अपने अकथित बैनों में,
चित्रलिखी - सी राजसभा सब,
उन्हें निहार - निहार रही,
पल-पल में अपलक शोभा पर
अपना तन-मन वार रही ।

३५

युग कर में ले राज मुकुट शुभ,
गज-गति से आगे जाकर,
धरा राम ने नृपति विभीषण–
के शिर, मुकुट ज्योति-आकर,

किया प्रतिष्ठित राज-दण्ड फिर
दक्षिण कर में नर पति के,
चन्दन लेपन किया भाल में
लंकेश्वर स्वधर्म मति के,

फिर सागर-नद-नदियों का जल
कुश में ले मस्तक सींचा,
या कि त्याग की परिसीमा को
प्रभु ने धीरे से खींचा।

३६

देख राम-लीला यह, कुछ-कुछ–
लंकेश्वर के अधर हिले,
रोके भी न रुके, नयनों में–
आकर आँसू विन्दु खिले,

सादर अभिवादन कर लौटे
अपने सिंहासन पर राम,
शत-शत कण्ठों से ध्वनि उट्ठी,
जयति राम, जय-जय निष्काम,

तब श्री रामचन्द्र की वाणी
मेघ घोष इव गहर गभीर,
सभा भवन में उठी विकम्पित,
करती भीम दुर्ग प्राचीर।

३७

"राजन, राजेश्वरी, आज क्या
कहूँ ? सँकोची शब्द बड़े,
कैसे उद्‌गीरित हों ? वे तो–
अन्तस्तल में अटक पड़े,
मैं वाणीपति भी, अभिलाषी–
हूँ कि मौन वरणीय गहूँ,
कैसे शब्दातीत हृदय की
बात अनिर्वचनीय कहूँ ?
हिय में, मन में, चिन्तन में है
उलझी इतनी बात पड़ी,
जिन्हें नहीं कह सकती वाणी,
शब्दों की न बिसात बड़ी ।

३८

राजन, आप समझते हैं सब
निपट कृतज्ञ भाव मेरे,
भवत: प्रति, किष्किन्धेश्वर प्रति,
सुहृद्‌भाव मम बहुतेरे,
मत्त: परिवर्तित सुधर्म यह,
जिस विधि से अनुसरित हुआ,
उसे देख कर रामचन्द्र का
हिय कृतज्ञता भरित हुआ,
धर्माचरण, निरत, तत्परता–
लख-लख दाक्षिणात्य जन की–
अति प्रसन्न है राम, हुई है–
पूर्ण तुष्टि उसके मन की ।

३९

नरपति, मेरे यज्ञ कर्म की
यह पूर्णाहुति आज हुई,
वह जीवन-साधना राम की
आज यहाँ कृत-काज हुई,
आज हुई है पूर्ण कामना
मम निष्काम तपस्या की,
तत्व-दीपिका मिली राम को,
जग की सकल समस्या की,
आज पूर्णता मिली परन्तप–
लक्ष्मण के नैष्ठिक तप की,
आज हुई है पूरी माला
जनक-नन्दिनी के जप की।

४०

बातें कहने को अनेक हैं
इस मंगलमय अवसर पर,
यदि हो कुछ विस्तार अधिक तो
क्षमा करें मुझको, नरवर,
जीवन-इति-कर्तव्यता हुई–
हो पूरी जिस शुभ क्षण में–
उस क्षण उठ-उठ आते ही हैं
भाव अनेकों जन मन में;
आज राम की यही दशा है,
क्या कह दूँ? क्या-क्या न कहूँ?
कहूँ या कि कुछ भी न कहूँ? मन
मौन गहूँ? चुप साध रहूँ?

४१

अपने मन की बात कहूँगा–
आज नहीं होगा प्रवचन,
केवल प्रकट रूप से होगा
आज राम-मन का चिन्तन,

एक-एक जीवन की घटना
सम्मुख आ-आ जाती है,
कई दुख सुख की संस्मृतियाँ
वह सँग सँग ले आती है;

चौदह वर्षों के जीवन का–
पूर्ण चित्र-पट सम्मुख है,
उसमें घटनामय जीवन के–
अंकित कई दुःख-सुख हैं ।

४२

राजन् राम, सीय-लक्ष्मण सह,
बरसों पहले, निज घर से,–
एक साध लेकर निकला था,
अपने नगर सुखाकर से,

उसी साध से प्रेरित हो कर,
लक्ष्मण भी सँग-सँग धाए,
कुल-लक्ष्मी ऊर्म्मिला बहू को
लक्ष्मण वहीं छोड़ आए,

चौदह वर्षों के पहिले का
अनुज वधू का वह श्रीमुख,
वह विषाद मंडित मुख आता,
राम हृदय-दृग के सम्मुख ।

४३

कौन साध थी वह जीवन की ?
कैसी थी मन में आशा ?
जो कुछ मन में था, उसको, नृप,
कैसे प्रकट कर भाषा ?

विश्व-विजय की चाह नहीं थी,
और न रक्त-पिपासा थी,
केवल कुछ सेवा करने की
उत्कण्ठित अभिलाषा थी,

इतना था विश्वास कि हम हैं
लोकोत्तर धन के स्वामी,
लोक हिताय बाँटना जिसका,
धर्म हमारा निष्कामी ।

४४

यही साधना, यही कामना,
यही भावना ले मन में,
इधर-उधर विचरे हैं लेकर
यही भाव हम निर्जन में;

इस प्रणोदना ही से प्रेरित,
हुए सकल मेरे कृत कर्म्म,
शुद्ध विचार-प्रचार-आचरण
यही राम लक्ष्मण का धर्म,

जो कुछ भी थोड़ी सी सेवा
है यह, उसका श्रेय कभी—
नहीं राम को, उसके तो हैं
यश के भाजन आप सभी ।

४५

साधन की परिपक्वावस्था
वन में हमें मिली सुखदा,
दक्षिण वन बन गया हमारे–
लिए सकल उद्भव दुख-हा,

इसीलिए यह दक्षिण मुझको
प्रियतर है उत्तर से भी,
इसीलिए अटवी है मुझको
प्रियतर अवध नगर से भी,

हुए विपिन में हमको दर्शन
पूर्ण विराट् विश्व भर के,
हम सब के हो गए, न वन के
रहे, न रंच रहे घर के।

४६

वन में सीता, राम, लखन ने
अपना शुद्ध रूप जाना,
सब को अपना करके हमने
निज स्वरूप को पहचाना,

भूमि विजय, साम्राज्य-स्थापन,
यह न आर्य का ध्येय कभी,
आर्य सभ्यता छोड़ चुकी है
कब की सृतियाँ प्रेय सभी,

जो अपने को जग भर में,
जग भर को अपने में लेखे,–
वह परपीड़न की दुष्कृति में,
क्यों न आत्म-पीड़न देखे ?

४७

महामहिम रावण का, मेरा,
नहीं व्यक्तिगत था झगड़ा,
आत्मवाद, साम्राज्यवाद का
वह था अनमिल भेद बड़ा,

विकट सुभट, उद्भट सेनापति,
महा प्रतापी रावण थे,
वे प्रचण्ड जगदाक्रान्ता थे,
उनके पोषक भाव न थे;

भू-अर्जन, पर-शासन, मारण,
रण, धन, सुख-उपभोग, विलास,—
इतने ही तक, हन्त, रह गया,
सीमित उनका मनोविकास ।

४८

इधर राम ने बचपन ही से
पढ़ा लोक - रक्षा का पाठ,
उधर बली रावण ने अपने
साजे विश्व-विजय के ठाठ,

इधर त्राण के भाव, उधर थे—
जग—आक्रमण—भाव दुर्धष,
अतः अवश्यम्भावी था यह
कि हो राम-रावण-संघर्ष,

एक खेद है यह शस्त्रोभृत
हो कर सत्य हुआ विजयी,
यदि अशस्त्र जय होती, तो वह
होती पूर्ण विशुद्ध नयी ।

४९

यदि श्री रावण के विचार भी
हो जाते मेरे अनुरूप,
यदि वे किसी तरह तज सकते
अपने सबल विचार कुरूप,
तो फिर सत्य जानिए, नरपति,
जग कुछ का कुछ हो जाता,
मानव-हिय का असुर-भाव वह
चिरनिद्रा में सो जाता,
यही दुःख है कि मैं वीर वर
रावण-हृदय न जीत सका,
इतना भर ही नहीं रह गया,
दशरथ नन्दन के वश का।

५०

रावण हारे, खेत रहे वे,
पर बदले न भाव उनके,
सभी जानते हैं कि बड़े थे
वे पक्के अपनी धुन के,
अन्तिम समय, रणांगन में जब
विनत लखन पहुँचे सम्मुख,
तब वे बोले: 'रामानुज, है—
एक बात का मुझ को दुख,
तुम दोनों हो महा प्रतापी
पर हो स्वप्न लोक-वासी,
मत समझो कि बन सकोगे तुम
जन - अज्ञान - शोक - नाशी।

५१

यदि कोई जगदीश्वर है, तो—
उसकी यह भी है लीला—
कि वह असत् के द्वारा ही है
प्रकटाता मति गति शीला,

मत समझो कि कर सके हो तुम,
असद्भाव का उच्चाटन,
हो सकता है असत् उसी का
जिसका है जग पर शासन,

सत्य-असत्य तत्त्ववित् मूर्खों—
का यह एक बखेड़ा है,
यह पथ-जिस पर तुम दोनों हो,
अतिशय टेढ़ा - मेढ़ा है ।

५२

मत समझो रावण मरने से—
रावणत्व का अन्त हुआ,
यों मरने से और अधिकतर
विस्तृत मेरा पन्थ हुआ,

रावणवाद चिरस्थायी है,
वह है सृष्टि-तत्त्व, लक्ष्मण,
धर्म-भावना में मत भूलो,
पहचानो निजत्व, लक्ष्मण,

आओ, मम निर्दिष्ट मार्ग पर—
चलो, भोग भोगो जग के,
जग के त्राता मत कहलाओ,
तुम यों अपने को ठग के ।

५३

जग-तारण? यह एक ढोंग है,
जग का त्राण असम्भव है,
उसी तरह जैसे मृत शव को—
जीवन-दान असम्भव है,

जग अपनी गति से चलता है,
वह गति है अज्ञेय, लखन,
कैसे राम कर सकेंगे उस—
गति का स्वेच्छारूप चलन ?

लखन, कदाचित् अदमनीय है
कोई गति जग जालन में,
कहो राम से जाकर, तुम मत—
पड़ो जगत् - प्रतिपालन में,

५४

दुर्दमनीय चक्र है यह तो,
यों ही चलता जाएगा,
किसी तरह भी नहीं किसी के—
वश में यह जग आएगा,

रावण ने भी खेले हैं ये,
सब जप-तप के खेल, लखन,
पर, सच कहता हूँ पाई हैं—
सब बातें बेमेल, लखन,

मम अनुभव से तुम दोनों कुछ
सीखो, यह है अभिलाषा,
किन्तु राम मन में है जग के—
त्राता होने की आशा।

५५

मेरा मार्ग प्रशस्त मार्ग है
उस पर चलो, बनो विजयी,
तव अग्रज पद-नत-लंका की,
भोगो श्रीसम्पत्ति नयी,

रावण मरता है, पर जीवित--
है मम रावणत्व का तत्त्व,
ऐसा तत्त्व कि पद-पद पर जो
ललकारेगा श्री रामत्त्व,

लक्ष्मण, सुखी रहो, कह देना--
अपने अग्रज से कि : बली,--
रज्जु जल चुकी थी, पर उसकी,
ऐंठन तब भी नहीं जली ।"

५६

राजन, इन शब्दों से प्रकटित
होती है उनकी महिमा,
इन शब्दों में भरी हुई है,
रावण की गौरव-गरिमा,

वह अभिमान चण्ड दिन-मणिवत्
जो जग में नित तपता था,--
वह भौतिकतावाद भयंकर
जिस से त्रिभुवन कँपता था,--

महाराज रावण के अन्तिम
शब्दों में है भाव वही--
वही भाव, जिसके हिय में है
अन्य भाव का चाव नहीं ।

५७

इन शब्दों म जड़ निश्चितता
भरी हुई है, खेद यही,
इन भावों में नेति-नेति का
अथकित सुमथित स्वेद नहीं,
जीवन में इति-निश्चितता का
अन्य नाम है आत्म-विनाश,
नेति-भाव में अन्वेषण है,
श्रम है, है नित आत्म-विकास;
असद्भाव है व्यक्त अतः वह
हो जाता है अनुकरणीय,
यों विचार कर श्री रावण ने
समझा असद्भाव वरणीय ।

५८

राम अबोध नहीं है, वह भी—
पाप-स्थिति से परिचित है,
षड्रिपुओं की दाहक-मोहक
माया किसको अविदित है,
जग-जन-गण के अन्तस्तल में,
दुष्प्रवृत्तियाँ संचित हैं,
पर कुछ ऐसे भी हैं जो इन
दुर्भावों से वंचित हैं;
इसीलिए यह ध्रुव आशा है—
कि यह जगत है सत्य-स्वरूप,
सतत यत्न से पा सकता है
यह जग अपना रूप अनूप ।

५९

भौतिकवाद, शुष्क तर्कों को
ले, दिन रात मचलता है,
प्रत्यक्षता-वाद के पीछे--
पीछे निशि-दिन चलता है,

अन्ध-शक्ति एवं पदार्थ जड़,--
ये दो उसके स्तम्भ बड़े,
भौतिकतावादी चलते हैं--
दोनों को पकड़े - पकड़े,

पर इन दो से विश्व-पहेली
नहीं सुलझती है, राजन,
इनके पीछे चलने से वह--
और उलझती है, राजन !

६०

कैसे आविर्भूत हुई यह
नित्य - चेतना चिनगारी ?
कैसे अग्नि-शिखा यह जागी,
एक रूप न्यारी - न्यारी ?

जड़ पदार्थ से ? अन्धशक्ति से ?
किससे चेतन भाव जगा ?
इसी प्रश्न से समय-समय पर
उठ-उठ भौतिकवाद ठगा,

जड़ - वादी, भौतिकता - वादी,
ये पदार्थ-वादी, सारे--
इसी प्रश्न के कारण बरबस
कह उठते हैं : हम हारे !!

६१

वे कहते हैं नाहं वेद,
किन्तु हम कहते हैं, जानो--
नहीं जानते तो प्रयत्नतः,
तुम अपने को पहचानो,
पर, वे इति-निश्चितता-वादी,
नहीं देखते हैं इस ओर,
अपितु जगत में फैलाते हैं,
नित-प्रति अपने कर्म-कठोर;
पर पीड़क, स्वातंत्र्य-विनाशक,
जग-शोषक उनकी कृतियाँ--
नित दूषित करती रहती हैं
जग की धर्म-कर्म-सृतियाँ।

६२

भौतिक-वाद, चेतना विरहित,
है वह निपट निराशा-वाद
राजस्, तामस् गुणमय वह है
मानव-मन का मत्त प्रमाद,
इस जीवन के परे कुछ नहीं,
यों कहते हैं जड़-वादी
मनः-प्रसाद-शून्य हैं, उनके--
कर्म नहीं हैं अविषादी,
आत्म-वाद में है अनन्तता
का अति रुचिर-ज्ञान-वैभव,
वहाँ नहीं संचय-संचय का
सुन पड़ता है कर्कश रव।

६३

केवल मात्र एक जीवन की
मरणान्ता आशा धारे,
जग में कर्म-लिप्त होते हैं
ये जड़-वादी बेचारे,
इसी लिए उनके कर्म्मों में
आत्म विमोहन क्रीड़ा है,
उनके कर्म्मों में मारण है,
नाशन है, पर-पीड़ा है,
इसे भूल ही जाते हैं वे,
कि यह जगत तप का फल है,
इस अश्वत्थ-वृक्ष का फल है
त्याग, भोग तो वल्कल है।

६४

करके त्यक्त आत्म-निर्गुणता
स्वयं ईश जग-रूप हुआ,
हो तप-तप्त प्रजापति बैठा,
सकल स्रजन का भूप हुआ,
यह ब्रह्माण्ड तपस्या के बल,
गतिमय, स्रतिमय, चलित हुआ,
अणु-अणु में, कण-कण में सन्तत
प्रथम तपोबल ज्वलित हुआ,
सतत तपस्या, त्याग निरन्तर,
वहिरन्तर तपमय, राजन,
तप से क्षण में ही मिट जाता--
है यह उद्भव-भय, राजन !

६५

दे कर रक्त हृदय का अपने,
दुग्धधार के मिस जननी,
करके प्राणों को न्यौछावर,
शुद्ध प्यार के मिस, रमणी--
सींच रही है आत्म-त्याग की--
धारा से जग-पादप को,
सिखा रही है तप की विधियाँ,
'अहमिति' जग-उन्मादक को,
क्षण-क्षण, आठों याम न हो, यदि
तप, तो यह जग कहाँ रहे ?
निमिष मात्र में महा प्रलय हो,
सृष्टि-कथा फिर कौन कहे ?

६६

नहीं निरीश्वर विश्व निखिल यह,
चेतन-इच्छित, सेश्वर है,
सकल लोक लोकान्तर गति का
परिचालक सर्वेश्वर है,
खनिज,जलज,उद्‌भिज, स्वदेज औ'
कामज, थल, नभ चर प्राणी
महाभूत, ये गन्ध - रूप - रस--
परस - उपकरण, यह वाणी,--
इन सब की गति का संचालक
सूत्रधार है अलख झलक,
करता है संचालित जग को,
वह नित जागृत, चिर अपलक ।

६७

जीव सच्चिदानन्द रूप है,
'मैं' हूँ जग-कर्ता, भर्ता,
'मैं' हूँ जग-नाशक, उत्पादक,
'मैं' हूँ माया-तम-हर्त्ता--
'मैं' पा सकता हूँ अपना पद,
यदि अपने को पहचानूँ,
'सोऽहं,' यह है सत्य सनातन,
यदि 'मैं' निज स्वरूप जानूँ,
सतत प्रयत्नों में अन्तर्हित
है 'मेरी' सत्-रूप छटा,
'मैं' बन जाता हूँ 'वह,' ज्यों ही–
यह घूँघट-पट रंच हटा।

६८

जग को अपना रूप दिखाना,
निज श्रम-कण की झांई में,
आत्म-बिम्ब को झलका देना,
लोचन की परछांई में,
जीवनेतिकर्तव्यता यही
रामचन्द्र के जीवन की,
उसने इसी लिए निज नगरी
छोड़ी, शरण गही वन की,
सत्य-विचार हुए हैं विजयी,
असुर-भाव-अपहरण हुआ,
मैं प्रसन्न हूँ, आज लंक में---
सद्भावों का वरण हुआ।

६९

लोग कहा करते हैं : आर्थिक––
संचय ही है आत्म विकास,
अर्थ लाभ मूलक है, उनके––
मन से, जन का प्रगति-विलास,
अर्थार्जन है उनके मत में
माप-दण्ड जन-संस्कृति का,––
निरा द्रव्य-संचय ही है परि––
चायक मानव धृति-कृति का,
आर्थिक संचय ही है द्योतक
क्रमिक ऐतिहासिक गति का
उन के मत से अर्थ-शून्य-युग
है परिचायक अवनति का ।

७०

अर्थ-वाद ही प्रगति-चिह्न है,
यों विचार कर, वे मन में,
येन - केन - रूपेण अर्थ का
संचय करते क्षण-क्षण में,
न्याय और अन्याय तथा सत्––
असत् विचार छोड़ कर के,––
प्रचुर अर्थ-संचय करते हैं,
जड़ता-वादी जी भर के,
नहीं जानते वे कि अन्ततः
ये विचार भ्रम मूलक हैं––
प्रगति-चिह्न ये नहीं, अपितु ये
सत् - संस्कृति - उन्मूलक हैं ।

७१

अर्थ प्रगति का चिह्न नहीं है,
वह है प्रगति-नदी का फेन,
वह तो यों ही उतराता है,
होने को विलीन, बेचैन,

जो कुछ ऊपर तैर रहा है--
वह है नदी नहीं, राजन,
क्या फेनिल विचार हो सकता–
है द्रुत नदी कहीं, राजन ?

इस विकार-संचय से कैसे
नव-प्रवाह-उत्पादन हो ?
निपट अज्ञता में यों पड़ कर
कैसे संस्कृति-साधन हो ?

७२

अर्थ प्रगति का चिह्न ? अनोखी–
सूझ अर्थवादी जन की,
यह प्रवृत्ति परिचायक उन के
चिन्तन, मनन-शून्य मन की,

तनिक सुदूर विगत युग-युग का
यदि कर लें अवलोकन वे,
तो मिट जायेंगे क्षण भर में
उन के सकल प्रलोभन ये,

उन ऋक्-साम गायकों के ढिग
था कौन सा अर्थ-संचय ?
जो लोकोत्तर आध्यात्मिकता
उन हिय प्रकटी निःसंशय ?

७३

यदि संस्कृति-गति लौकिक,आर्थिक–
संचय के सँग-सँग चलती––
तो वल्कल वसनों के युग में
कैसे ज्ञान-ज्योति जलती ?

द्रव्य-पुष्टि पर आधारित ही
नहीं ज्ञान-मति गति-शीला,
केवल भौतिकता - पंजर में
नहीं निहित उस की लीला,

मानवेतिहास की प्रगति का
माप - दण्ड धन-धान्य नहीं,
यह समाज संस्कृति जा सकती––
नापी धन से कभी कहीं ?

७४

शुद्ध विचार - प्रौढ़ता ही है
भित्ति सभ्यता संस्कृति की,
सदाचरण शीलता मात्र है,
द्योतक संस्कृति, मति, धृति की,

यों तो तन धारण करना ही
जड़ता का अवलम्बन है,
जड़ - चेतन - अवलम्ब परस्पर–
यह ही जगत्-संक्रमण है;

किन्तु सचेतन भाव नहीं है
इस जड़ता से सीमा-बद्ध,
है तथैव मानव - संस्कृति भी
नहीं अर्थ - संचय - आबद्ध ।

७५

है साम्राज्य-वाद का नाशक,
दशरथ - नंदन राम सदा,
है भौतिकता-वाद विनाशक,
जन - मन - रंजन राम सदा,
धन्य विभीषण आप, हुए जो
मम निष्काम सहायक यों,
अर्थ-वाद मय स्थिति में प्रकटे
आप सत्य - परिचायक यों,
लोग कहेंगे कि यह विभीषण
है स्वदेश-रिपु, कुल द्रोही,
हुआ देश-आक्रान्तक-रिपु के—
संग विभीषण निर्मोही।

७६

फैल रहा है यह भी जग में,
अति मिथ्याभिमान, राजन,
कि हम देश-हित कर सकते हैं,
अपने त्यक्त प्राण, राजन,
राष्ट्रधर्म कैसे हो सकता
जन-गण का ऐकान्तिक धर्म ?
पक्ष-समर्थन सदा राष्ट्र का,
हो सकता है निपट अधर्म ;
मिथ्या - इष्टदेव - संस्थापन,
है अज्ञानी जन की बान,
यों असत्य के पीछे मरना,
आतम-हनन सम, है अज्ञान।

७७

सदा एक ही वस्तु पूज्य है,
वह है सत्य, असत्य नहीं,
असत् अर्चना का इस जग में,
हो सकता है तथ्य कहीं ?

तत्त्वहीन, सद्ज्ञान विमोहक,
सदा अन्ध - अनुकरण - प्रभाव,
सत्य रहित कैसे स्वीकृत हो––
यह स्वदेश - पूजा - प्रस्ताव ?

आचरणीय धर्म्म केवल वह
शुद्ध सत्य अनुमोदित जो,
कैसे ग्राह्य कहो हो सकता
वह, है असत्-प्रणोदित जो ?

७८

कभी, समूचा–राष्ट्र दुष्टता–
मय हो जाता है, राजन,
कभी, देश का सत्य भाव सब,
द्रुत खो जाता है, राजन,

जन-गण पागल हो उठते हैं,
जग उठता है नाशक–भाव,
निपट, विकट विक्षिप्त भावना
कर देती है सत्य-दुराव,

जन-समूह आतुर हो जाते,
लगती प्रबल रक्त की प्यास,
अपनों का ही शोणित पीकर,
यों करते हैं जग का नाश ।

७९

उत्पादक मारक, आक्रान्तक,
नाशक, दाहक प्रवृत्तियाँ,
सहसा जागृत होती हैं ये,
असुर - भावमय दुष्कृतियाँ,
बिखर फैल पड़ती हैं हृद्‌गत
दुष्ट भावनाएँ गुप्ता,
ज्यों प्रज्वलित हसन्ती-गत हो
अग्नि-राशि अति उन्मुक्ता;
ऐसे क्षण में यही धर्म है,
कि हम राष्ट्र के विमुख चलें,
फिर चाहे हम अपनों ही के-
क्रोधानल में क्यों न जलें।

८०

एक आग है, जो जलती है,
सहसा धधक-धधक कर के,
ऐसा दावानल है, जो है-
जलता भभक-भभक कर के,
शम, दम, संयम अतिलंघित कर
जन-उन्माद बफरता है,
मानवता अपहृत होती है,
पशुता से जग भरता है,
सत्य, ज्ञान, संस्कृति, शतियों का
यह संचित वैभव सारा,-
क्षण में भस्मसात् होने को
खिंच आता है-बेचारा !

८१

जबकि राष्ट्र-मद, ज्वाला-गिरि-
सम, आग उगलने लगता है,–
जन-समूह के हृदयों में जब,
भाव आसुरी जगता है,
तब स्वधर्म है यही, चलें हम–
सामूहिकता के प्रतिकूल,
और करें उच्छिन्न निरन्तर,
निज स्वदेश-जन-मन की भूल;
देश विदेश, संकुचित जन का,
है अनुचित संकुचित विचार,
है मनीषियों का स्वदेश वह,
जहाँ सत्य-शिव का विस्तार ।

८२

हैं जग के नागरिक सभी हम,
सब जग भर यह अपना है,
सीमित देश-विदेश-कल्पना,
मिथ्या भ्रम का सपना है,
देश-काल का अतिक्रमण कर
बनना है हमको विजयी,
फिर क्यों खींचें हम अपनी यह
सीमा - रेखा नयी - नयी ?
जो सम्मार्ग-गमन करता है–
वही हमारा बन्धु, सखा,
सत्य पराङ्मुख, सदा त्याज्य है
हो रावण या शूर्पणखा ।

८३

हुए सहायक, नृपति, आप मम,
क्योंकि पक्ष या मेरा सत्य,
नहीं इसलिए कि था बड़ा बल-
शाली दशरथराज अपत्य,
जिस क्षण आप सहायक मेरे,
आए थे बन कर, राजन्,
तब पलड़े में भूल रही थी,
यह जय, इधर-उधर, राजन्,
कौन जानता था कि अन्ततः
किसे वरेगी विजय-श्री ?
कौन जानता था कि मुझे ही
वरण करेगी विजय-श्री ?

८४

नहीं राजसिक प्रलोभनों से
हुए विभीषण राम-सखा,
उनने शुद्ध दृष्टि से केवल,
शुभ स्वधर्म का रूप लखा,
राजन्, कैसे करूँ प्रशंसा ?
धन्य आपका अमल विवेक ;
द्विगुणित हुआ लोक सद्—गति-प्रति
मम विश्वास आपको देख ;
भौतिकता का ? नहीं, सत्य का-
था वह सुन्दर आकर्षण,—
जिससे खिच कर किया आपने,
मुझ पर कृपा-वारि-वर्षण ।

८५

नृपति, आपकी यह शुभ निष्ठा,
धर्म्म - भाव - तत्परता यह,–
यह अफलाकांक्षिणी कर्म-रति,
शुद्ध सत्य-निर्भरता यह,–

मानवता के लिए बनेगी,
पथ - दर्शिका प्रदीप - शिखा,
प्रतिबिम्बित है तव नयनों में
धर्म सनातन अनादि का,

राक्षस-वंश-शिरोमणि, नरपति,
धन्य आप, सत्-ग्राहक, हे,
धन्य आप, इस लंक-द्वीप में
सत्-जल-राशि प्रवाहक, हे !

८६

धन्य सभी राक्षसगण, जिनने–
किया असत् का तीव्र विरोध,
धन्य धीर वे, अटल रहे जो–
देख चण्ड रावण का क्रोध,

आप सभी सज्जन गण के प्रति
मैं नत–मस्तक हो कर के,–
कृतज्ञता–ज्ञापन करता हूँ,
सब विजयीपन खो करके,

रिपु न लखें मुझको वे भी जो
रहे वीर मेरे प्रतिकूल,
राम नहीं चाहता कि हो वह
कभी किसी के दृग का शूल ।

८७

हे सब जन-गण, आप त्यागिए,
भौगोलिक, संकुचित विचार,
भरिये हृदयों में व्यापकता,
करिये आप आत्म - विस्तार;

अपने और पराये की वह–
सीमा उल्लंघित करके,–
कर के नैनों को विस्फारित,
दर्शन करिए जग भर के;

लंक-अवध-किष्किन्धा की यह
लघुता आज हुई म्रियमाण,
सब जन के श्रम से, यह देखो,
हुआ बृहद् भारत - निर्माण ।

८८

आज हुए हैं द्वार-मुक्त सब
हुईं दिशाएँ उन्मुक्ता;
विश्व-मुक्ति-लालसा हुई है–
क्रिया - शील, गति - संयुक्ता;

जन-गण के हृदयों की आशा–
सक्रिय, बन्धन - हीन हुई,
हुए पराये भी अब अपने–
भय-भावना विलीन हुई;

आकुंचित वृत्तियाँ हट रहीं
रवि - कर - अपहृत तम-घन-सी,
भेद-भावना आज मिट रही,
गत दुःस्वप्न - संस्मरण–सी ।

८९

खुलने दो कपाट अन्तर के,
नया समीरण डुलने दो,
ढुलने दो चिर जीवन-आसव
आज नया रँग घुलने दो;
साम्य-भाव-दोला सम गति से,
इधर-उधर तुम डुलने दो,
आज दृगों के दो पलड़ों में,
करुणा-मुक्ता तुलने दो;
रह न जाय प्रतिबन्धक कोई–
जग भर को मिल-जुलने दो,
युग-युग की यह भेद कालिमा,
इसे आज तुम धुलने दो।

९०

यह देखो उत्तर-दक्षिण का
दृढ़ गठ-बन्धन हुआ भला,–
शुद्ध नेह की नीति हुई है,
यह देखो, स्थापित, अचला;
सुविचारों की बाट खुली है,
लेन-देन का हाट खुला;
हृदय-आयतन का, शतियों का
यह आबद्ध . कपाट खुला;
जग में पवन-यान पर चढ़-चढ़,
विचरेंगे सद्भाव नये,
फलेंगे चढ़ उदधि-लहर पर
धर्म-विचार अनश्वर ये।

९१

सुसन्देश वाहिनी अथकता
मेट रही स्थल का अन्तर,
सुविचारों के सुदृढ़ सेतु से,
मिटा जलधि का महदन्तर;
संग्रह भस्म हुआ, हिय बैठा—
खर तप की धूनी तपने,
हुए द्वीप-द्वीपान्तर अपने,
देश-विदेश हुए अपने;
अब कैसी परिधियाँ संकुचित ?
अब कैसा सीमित घेरा ?
मुक्त आत्म-विस्तार हुआ है,
अब कैसा तेरा-मेरा ?

९२

सब मेरा—तेरा है, तेरा—
मेरा, मैं तू, तू मैं हूँ,
तू सुख में, तब मैं सुख में हूँ,
तू दुख में, मैं दुख में हूँ—
छटा छिटक फैली यह मेरी,
तू मेरा, लंका मेरी,
वह किष्किधा नगरी तेरी,
वह कोसल नगरी तेरी;
कोसल नगरी ही लंका है,
लंका है कोसल नगरी,
भाण्ड हुआ जल-राशि-निमज्जित,
भिन्न कहाँ वापी, गगरी ?

९३

जब तक आसक्तता, ग्रीव में
जब तक अहं - रज्जु - फंदा,–
नृपति, तभी तक है इस जग में,
पन-घट का संचय-धन्धा;

'भव भव, नाहम्-नाहम्' करता,
जब भागेगा रीतापन,–
अहो, उसी क्षण होगा जग में
राम-राज्य का संस्थापन;

आज विभीषण-राज हो रहा
राम - राज मंगल - कारी,
फैला है प्रकाश लंका में
घन अज्ञान-तिमिर हारी।

९४

वह अचेतना अहंभाव की,
धीरे - धीरे दूर हुई,
वह लालसा विकट संचय की
आज दूर भरपूर हुई,

चूर-चूर हो गई, जगत में,
आक्रमणों की आशंका,
डंका यह बज रहा मुक्ति का,
पुण्य स्नाता है लंका;

शंका, संशय, मोह, प्रलोभन,
जन - धन - हरण - भाव भागे,
त्याग त्रेता ने कुभाव सब,
उसके परम भाग जागे।

९५

लहराये सद्विजय पताका,
इस जगती के प्रांगण में,
चतुर्दिशा कल्याण-निहित हो,
ध्वज के स्वस्ति शुभांकन में,
असद्विचार पराजित, कुंठित,
भूलुंठित, उन्मूलित हो,
सत्यमेव विजयी हो, राजन,
प्रेम-विटप फल-फूलित हो,
आगे-आगे ध्वजा सत्य की,
पीछे - पीछे जन - सेना,
त्रेता का यह धर्म्म सनातन,
जग को विमल ज्ञान देना।

९६

यह महान् आदर्श हमारा,
यह सन्देश हमारा है,
यही हमारी परम्परा है,
यह विचार की धारा है;
आज निमंत्रण है जन - जन को,
आओ मंगल गान करो,
बनो सच्चिदानन्द रूप तुम,
सब अपना उत्थान करो;
पान करो इस त्यागामृत का,
अपने बन्धन आप हरो,
अपनी थाती आप सम्हालो,
जग भर का सन्ताप हरो।

९७

हो निमग्न आनन्द - उदधि में,
जग भर में डोलो, विचरो,
हो उन्मुक्त मलय-मारुत इव,
जग में आत्म-सुगन्ध भरो;

अमृत-पुत्र हो तुम, मत भूलो,
तुम अनन्त - जीवन - स्वामी,
नेक निहारो तुम अपनी छवि,
हे जन, बन कर निष्कामी,

देखो तो, यह जग क्षण भर में
स्वर्ग लोक बन जायेगा,
सब बाधाएँ दूर हटेंगी,
वह अपनापन पाएगा ।

९८

इस सन्देश-प्रचार - मार्ग में,
हैं बाधाएँ बड़ी - बड़ी,
गगन चुम्बिनी पर्वत - माला—
पथ को रोके अचल खड़ी,

सागर की उत्ताल तरंगें,
नाच रहीं पथ में प्रबला,
विकट शूल हैं, भीम शिलाएँ,
विजन सघनता है सबला,

वर्षा, आतप, शीत, भयंकर,
वन-पशुओं से पन्थ घिरा,
सत्य-प्रचारक के पथ में है
बाधाओं का पुंज निरा ।

९९

यही आधिभौतिक बाधाएँ,
अलम् नहीं हैं इस पथ की,
और कई बातें आती हैं
बाधा बनी प्रगति-रथ की,
गतानुगति-विश्वास-जनित यह,
अन्य - अनुसरण - परम्परा--
कुण्ठित करती आत्मवरण को,
रूढ़ि कब रही स्वयंवरा ?
जरठ - नवीन - भाव - संघर्षण--
जनित प्रचण्ड अनल-भय से,--
हृदय दूर हट जाता है,
शिव-सुन्दर-सत्य-समुच्चय से ।

१००

मानव की मानवता क्या है ?
कि वह आग से खेल करे ?
नर है स्वयं अग्नि-चिनगारी,
क्यों न अग्नि से मेल करे ?
सत्य-तपस्या पावक ही है,
उद्भावक जग की, जन की,
है मनुष्य आग्नेय कल्पना,
अग्नि-पुंज-विभु के मन की,
फिर, विचार-संघर्ष अनल से,
यह कैसी भय-भीति, कहो ?
अग्नि-शिखा है अनल-सुतों की
कलमष-हर कुल-रीति, अहो !

१०१

प्रगति, धर्म-रति, सत्कृति, सन्मति,
सम्भ्रम कंचुकि-त्याग, सदा—
चिरजीवन का तत्त्व यही है,
यही भावना है वरदा,
कंचुकि-त्याग,प्रगति,यह गति-विधि,
अमित कष्टकर है, राजन्,
किन्तु कष्ट-यत्नाच्छादन से—
अपिहित सदा मोक्षभाजन,
चिर-जीवन-अधिकार - प्राप्ति है
केवल बाल - विनोद नहीं,
बिना प्रयत्नों के होता है
यों ही आत्मिक-बोध कहीं ?

१०२

जीवन क्या है ? है प्रचण्ड यह,
गति - संक्रमण सचेतन का
घूर्णित घोर-चक्र है विभु का,
यह जड़ता के भेदन का,
चलित अनवरत गति में भी है,
समता - संस्थापित निर्गति,
गति में गति-शून्यता भरी है,
ताण्डव में भी है सम-यति;
यत्नशीलता की गति में है
अतुला निर्गति, समता की,
कैसी अद्‌भुत छटा मोहिनी—
यह जीवन की क्षमता की !

१०३

धीर, गहर, गम्भीर नीर-सा
जीवन प्रबल प्रवाह बना,
जिस के अन्तर में नित गति है,
शीतलता है, दाह घना,
जग की प्यास बुझाना निशिदिन,
शिलाखण्ड भेदन करना,
ऐसे ही अटपटे काम यह,
करता है जीवन - झरना,
भीतर-भीतर खूब बह रहा
ऊपर से समतल-सा है,
गति मय भी है, यति मय भी है,
थिर भी है, चंचल-सा है।

१०४

जीवन सतत युद्ध है, जीवन—
गति है, है जीवन ऐसा,
है प्रयत्न मय, गुंजन जीवन,
फिर संघर्षण - भय कैसा ?
परिवर्तन - उत्क्रमण - भान है
एक मात्र जीवन - लक्षण
फिर विचार - कंचुकी-गलित का
क्यों यह संमोहक रक्षण ?
बाधाएँ अतिलंघित करना,
है जीवन का मन्त्र सदा,
फिर क्यों सत्य-प्रचार पन्थ की
विपदा को समझें विपदा ?

१०५

कर्म्मों में कल्याण-कामना,
निरलसता, थिरता, समता,--
मन में जागरूकता, वचनों--
में धर अनिर्वचन क्षमता,
विश्व - मुक्ति - भावना हृदय में,
कर में सत्-अवलम्बन-दण्ड,--
आँखों में भविष्य का सपना,
चरणों में सत्-प्रगति अखण्ड,
यदि विश्वास-भक्ति-श्रद्धा के
पथ के पथिक धीर ऐसे,--
सन्तत विचरें, तो फिर जग में--
बहे न सत्-समीर कैसे ?

१०६

जीवन है चिर विप्लव-गायन,
स्वर जिसके हैं सन्तत-क्रान्ति,
गीत-भार है नित-परिवर्तन,
गायन-लय है चिर अश्रान्ति,
अथकित,निरलस,सतत प्रगति यह
गायन स्वर-आरोहण है,
सत्य सनातन अनुभव-संचय,
अवरोहण मन-मोहन है,
शुद्ध ज्ञान विज्ञानान्वेषण
है सुन्दर सम गायन का,
गीत सिद्धि है यह, कि बने नर,
पुण्य रूप नारायण का ।

१०७

नित यह विप्लव गायन गाते--
नित साधन करते-करते,
बढ़े चलो जीवन-पथ में सब
हे जन, पग धरते-धरते,
हरते जग की तिमिर कालिमा--
नव - प्रकाश भरते - भरते
अपना रूप आप पहचानो
भवसागर तरते - तरते,
जग में विप्लव के तत्वों का
निशि-दिन अथक प्रसार करो,
गतानुगति विधि-जनित,तिमिर-मय,
यह जग का भू-भार हरो।

१०८

जीवन है सद्ज्ञान-गम्य गति,
नहीं तिमिर आवृत गति-वक्र,
जीवन है पावक-चिनगारी,
जीवन है फिर विप्लव-चक्र,
भौतिकता की चाह भयंकर
है जीवन - विकार, राजन्,
संचय नहीं, अपितु जीवन में--
है नित त्याग-सार, राजन्,
अतः आर्य संस्कृति ने जग को
दिया मन्त्र स्वाहा ! स्वाहा !!
आत्म-हवन से ही मिलता है,
आत्व-रूप निज मनचाहा।

१०६

भाव - व्यंजना - धाराएँ मम,
देखो, बढ़ती जाती हैं,
संचित बातें मेरे हिय की,
राजन्, बढ़ती आती हैं,
चढ़ती जाती है वाणी के--
दोला की यह पैंग बड़ी,
आज राम की अनिर्वचनता
सकुच रही है खड़ी-खड़ी,
घड़ी- घड़ी कुछ भाव अनोखे--
उठ-उठ आते हैं, मन में;
चंचल कथन-नोदना, नरपति,
हो उठती है क्षण-क्षण में ।

११०

पर, अब नहीं कहूँगा, राजन्,
बहुत हो चुका संभाषण,
केवल फिर से मैं करता हूँ,
निज कृतज्ञता का ज्ञापन,
सब वानर, सब रिक्ष वीरवर,
हैं मम वत्सलता भाजन,
और आप, सुग्रीव आदि की,
कहूँ बात क्या मैं, राजन् ?
निपट अधूरी ही रह जाती
मम जीवन-आशा सारी,
यदि न सहायक होते मेरे,
आप बन्धु सम वन-चारी ।

१११

मत छोड़िए धर्म-अवलम्बन,
करिए सत्याचरण सदा,
सदा सत्यनारायण को भज,
हरिए सब जग की विपदा,
मंगलमस्तु, आप सब रहिए
धर्म भाव तल्लीन हुए,"
यों कह मौन हुए सीतापति,
निज आसन आसीन हुए;
जन-गण के कण्ठों से निकला
दाशरथी का शुभ स्तवन,
'रामचन्द्र की जय' की ध्वनि से
गूँज उठा सब सभा-भवन।

११२

लंकाधीश्वर धीर विभीषण
उठे स्वर्ण सिंहासन से,
मानों रामचन्द्र का तप-फल
उट्ठा ज्वलित हुताशन से,
आगे आकर झुके विभीषण,
रामचन्द्र के चरणों में,
मानों मन एकाग्र हो गया
भक्ति-भाव उपकरणों में,
हृदय लगाया लंकेश्वर को,
उठ करुणाकर रघुवर ने,
अथवा वैभव को अपनाया
यती तपस्वी वनचर ने।

११३

चरण-वन्दना कर लंकापति
बोले यों गम्भीर गिरा :
"आर्य राम, है मेरे मन की–
दशा आज अति अनस्थिरा,
हृदय अनेक भावनाओं से
आन्दोलित हो रहा यहाँ,
इधर-उधर यह विचर रहा है
ना जाने मन कहाँ-कहाँ,
मेरी आँखों के आगे ही
युग-परिवर्तन हुआ घटित,
महा-नाश देखा है, देखा
होते नव-निर्म्माण गठित ।

११४

मैंने जग संहार कारिणी,
देखी विकट राम - लीला
देखी जग-निर्म्माण - कारिणी
राम-वृत्ति - पोषण - शीला,
महानाश का ताण्डव देखा,
देखा जीवन रास, प्रभो !
मारक भी, जीवनदायक भी,
देखा भ्रकुटि-विलास, प्रभो,
वज्रघोष भी सुना श्रवण से,
दुन्दुभि - हर्ष - निनाद सुना,
आर्य्य, विभीषण ने जीवन में
बहुत-बहुत कुछ सुना-गुना ।

११५

मैने ये संक्रान्तिकाल की
घटिकायें देखीं चपला,
मैने नव - संगठन - नोदना
हृदयंगम की है प्रबला,
इन आँखों के आगे ही द्रुत
गति से पतनोत्थान हुआ,
प्राण-हरण भी हुआ लंक में—
चिर नव-जीवन-दान हुआ,
वह अतीत गौरव लंका का
चिर - निद्रित हो गया, अहो ।
वह भौतिकतावाद मृत्यु को—
निद्रा में सो गया, अहो ।

११६

ऐसे समय, अहो ऐसे क्षण,
जब इतने संस्मरण उठें,—
जब मन-नभ-मण्डल में आकर,
ये इतने घन गहन जुटें,
तब, हे राम, शिथिल हो जाती—
रसना, यों ही परवश-सी,
वचनावलियाँ हो जाती हैं
कुछ कुण्ठित, कुछ सालस सी,
क्षमा करें श्रीराम गुरु, मुझे,
यदि डगमगे शब्द-निश्चय,
यदि न शब्द से आज दे सकूँ,
राम-शिष्यता का परिचय ।

११७

आज निखिल लंका के जन का,
हिय-प्रतिबिम्बक बन कर मैं,—
धन्य हुआ हूँ, राम-चरण में
श्रद्धांजलि अर्पण कर मैं,
क्षत्रिय रूप धरे वन आए,
देव जगद्गुरु आप भले,
श्री चरणों की कृपा हो गई,
भौतिकता-सन्ताप टले,
दाह मिट गया, बरस रहा है,
प्रभु का अनुकम्पा-नीहार,
आर्य, कीजिए लंक-द्वीप की
भक्ति-भावना अंगीकार।

११८

त्वम् धन्यासि अहो जगदम्बे,
जनकसुते, वरदे, सीते,
हे अनिंगिते, अग्नि-शिखे, हे,
राम धनुर्धर-परिणीते,
निष्ठा-पथ-दर्शिके, दीपिके,
रामेन्द्रिय - पति - मनोरमे,
राम - युद्ध - दुर्धर्ष - नोदने,
प्रतिहिंसे, हे सदा क्षमे,
लंकेश्वर का, लंका-जन का,
यह वन्दन स्वीकार करो,
निज आशीर्वचनों से सबके—
हिय में पुण्य-विचार भरो।

११९

शुद्ध धर्म की, सत्य स्नेह की
तुमने खींची परिसीमा,
श्रद्धा-ज्योति-प्रकाश तुम्हारा,
हुआ न रंच कभी धीमा,

कुहू निराशा के क्षण में भी
राम-चरण-रति रही भली,
हार गया शतशः प्रयत्न कर,
रावणत्व की नहीं चली,

दानवत्व दुर्दान्त उधर था,
इधर तुम्हारी दृढ़ 'नाहीं',
है लंका साक्षी, न हो सकी,
मलिन तुम्हारी परछाहीं ।

१२०

रामचन्द्र की विजय नहीं है—
कुछ भी, तव जय के आगे ।
तुमने तो लंका जीती है,
जननि, अकेली ही आ के,

पुण्य अलौकिक मातृरूप लख,
राक्षस नहीं रहे दानव,
एक झलक में ही, माँ, तुमने—
उनको बना दिया मानव,

आर्य - सांस्कृतिक - सूर्योदय की
तुम हो प्रथम-किरण, जननी,
तव चरणार्पण के क्षण से ही
भागी लंका की रजनी ।

१२१

विजय राम की पीछे आई,
सीता की जय है पहले,
यह है अमिट सत्य, फिर चाहे,
यों कोई कुछ भी कह ले,

पुण्य तुम्हारे दरस, न करते
यदि उत्पन्न यहाँ मतभेद,
तो न राम के लिए लंक-जय
हो सकती इतनी अस्वेद,

सात्विकत्व, देवत्व और इन
चरम सतीत्व-सुभावों ने—
लंका को जीता है, माता,
तव सत, शील स्वभावों ने !

१२२

आर्य राम की यह जय तो है—
केवल लोकाचार - क्रिया,
वास्तव में तो, माँ, तुमने ही,
लंका का गढ़ क्षार किया,

भस्म कर चुका था लंका को
तव ज्वलन्त अभिशाप-अनल,
हनूमान का लंक-दहन तो—
खेल-प्रदर्शन था केवल,

जनक सुते, श्रीराम वल्लभे,
जगद्वन्द्य, तुम धन्य सती,
पूर्ण हुए हैं, धन्य हुए हैं
तुम्हें वरण कर राम यती ।

१२३

त्रेता युग के धर्म धुरन्धर
पुरुषोत्तम प्रतिनिधि हैं राम,
नारी धर्म प्रकट करता है,
केवल, देवि, तुम्हारा नाम,
सीता नाम अनन्त काल तक
सन्निष्ठा - परिचय देगा,
तव सुस्मरण,दिग्भ्रमित मन को–
सन्तत अभय-निलय देगा,
माता, तुमने आत्म-यज्ञ में–
अपनी आत्माहुति दी है,
एक पुण्य - आदर्श - प्रतिष्ठा
तुमने इस युग में की है ।

१२४

विचलित आज हो रहा है, प्रभु,
अचल विभीषण का मन भी,–
वह मन जिसे न चलित कर सका,
नरमेधक भीषण रण भी,
गत संस्मरणों का उठ आना,
स्वाभाविक है ऐसे क्षण,
स्वाभाविक ही है कि हो उठे
विगत-स्मृति से विचलित मन,
छोटी बातें भी बनती हैं
पुनः स्मरण में शूल अनी,
फिर उन बातों का क्या कहना,
जो संलग्ना रही घनी !

१२५

आज ढूँढती हैं आँखें उन–
महाबली नर-वीरों को,
उन दिग्विजयी अति पराक्रमी,
सुदृढ़ धनुर्धर धीरों को,
जिनकी घन हुंकार-मात्र से
कम्पित होता था अम्बर,
जिनके पदाघात से डगमग
डुलते थे दिग्गज भूधर,
जिनके मुकुट किरीटों की द्युति
खर रविकर के पटतर थी,–
किसे ज्ञात थी, उनकी महिमा
हा, इतनी क्षण-नश्वर थी ?

१२६

एक स्वप्न की लीला के सम
वह ठकुरास विलीन हुई,
वह गरिमा, वह ठकुर सुहाती,
छिन भर में ही छीन हुई,
लीन हुई हैं वे सब बातें
भूतकाल - अन्तस्तल में,
पर उनकी छाया बिम्बित है
वर्तमान के कल-जल में,
आर्य, एक युग था वह भी जो–
प्रगति - प्रेरणा - दायक था,
चिर विकास की उलझन का वह–
युग अच्छा परिचायक था ।

१२७

डगमग डगमग करती, कँपती,
पग पर पग धरती धरती,–
कभी फिसलती, कभी घिसलती,
सँभल - सँभल डरती - डरती,

जन-सामूहिकता, गति-पथ पर,
निशि दिन चलती रहती है,
यह विकास स्रोतस्विनी, प्रभो,
छिन - छिन बहती रहती है।

इस विकास का अमिट अंश है
भौतिकवाद - मयी उन्नति,
चाहे, वह न भले ही होवे,
अन्तिम ध्येय, चरम इति-गति।

१२८

रावण - वाद, विकास मार्ग का,
पथ - परिचायक प्रस्तर है,
रावण-वाद, प्रकृति तत्त्वों का,
सुन्दर ज्ञान अनश्वर है,

मानस-दिङ्मण्डल को विकसित
करता है भौतिक विज्ञान,
रावणत्व में सदा निहित है
अन्वेषण की अथक उड़ान,

रावणीय यत्नों के बिन किमि
खुलें प्रकृति के घूँघट-पट ?
इसीलिए आवश्यक है इस–
जग में निरलस रावण-हठ।

१२९

इसीलिए जग सदा रहेगा
मम अग्रज का निपट कृतज्ञ,
उनने प्रकृति-ज्ञान फैला कर,
जग की हरी भावना अज्ञ,
किन्तु हन्त ! वह अथकान्वेषण,
सीमोल्लंघन कर न सका,
प्रकृति-बद्ध हो गया परिश्रम,
और एक डग भर न सका,
भौतिकता के संचय में पड़,
वह विज्ञान हुआ भू-भार,
इसीलिए, हे आर्य, आपको,
करना पड़ा पयोनिधि पार ।

१३०

आर्य आपकी चरण-क्रिया से–
फैला आत्मज्ञान - आलोक,
यह सन्देश मिल गया जग को,
चरम मोक्ष का पुण्यश्लोक,
भौतिक-आत्मिक विज्ञानों का–
हुआ समन्वय मंगलमय,
वे पदार्थ - संकलन - वृत्तियाँ
मिटीं, हुआ है सर्वोदय,
छूटी प्राणों की वह फाँसी,
टूटी रज्जु प्रलोभन की,
नहीं रही अब राम-कृपा से
आशंका जन - दोहन की ।

१३१

देव, आपके प्रति प्रगटाऊँ
कैसे निज कृतज्ञतानन्द ?
आज आपकी पुण्य कृपा से
छूट गए सब भव-भय फन्द,

छन्दहीन, गतिहीन, बसुरा,
ताल रहित था जग-जीवन,
उसे आपने गति-मय, यति-मय,
सुस्वर किया, अहो श्रीमन्,

आप धन्य हैं; धन्य सुलक्ष्मण,
धन्या जनक सुता सीता,—
जिनने भीति-मुक्त कर दी है
वसुन्धरा रावण-भीता।

१३२

बीता रावण-युग आक्रान्तक,
बीत गईं भय की घड़ियाँ,
मंगल-करण राम-युग आया,
टूटीं वे बन्धन-कड़ियाँ,

सरण चिरन्तन, क्षण-आवर्त्तन,
गमन-आगमन नित नूतन,—
जीवन का व्यापार यही है
नित स्थापन, नित उन्मूलन

चला गया जो, भला गया वह,
जो आया,—अच्छा आया,
यों आने जाने ही के मिस,
प्रकटी है विभु की माया।

१३३

सन्धि - काल में उठ आती है,
सिंहावलोकन - मयी चाह,
भला, बुरा जो कुछ बीता है,
उसे सोच होता है दाह,
आह एक कढ़ ही आती है
गत दिवसों की संस्मृति से,
हो ही जाता है मनमोहित,
भली-बुरी गत संस्कृति से,
अतः विभीषण गत संस्मृति से,
हो मोहित, तो अचरज क्या ?
गत होकर जो प्राण न खींचे
तो संस्मरण-स्वभावज क्या ?

१३४

युगल-चरण तो आरोपित हैं
अमल राम-युग के क्षण में,—
किन्तु, नयन मुड़ कर उलझे हैं,
विगत - काल के दर्शन में,
बीत गया, जीवन का वह भी—
एक काल था, वह बीता,
खेद यही है कि उस काल में
नहीं हो सका मन-चीता,
यदि ऐसा हो सकता, तो फिर—
होती नहीं युद्ध-पीड़ा,
सहज-सहज ही इस नवयुग की
होने लगती नव-क्रीड़ा ।

१३५

उस युग में जीवन था, मद था,
था उत्साह, अमन्द, अभंग,
उस युग में थी कर्म-उग्रता,
था यौवन के मद का रंग,

प्रलयान्ता आशा थी उसमें,
उसमें थी सान्ता लीला,
हन्त, उस समय उठ न सकी थी
क्रिया अनन्ता गति-शीला,

कई निराशायें भी थी वाँ,
आशाएँ भी कई-कई,
मद-माती-सी कर्म-प्रेरणा
उठ आती थी नई-नई।

१३६

उस युग की असफलताओं के
ये पल सोते से जागे,
सभी सफलताएँ उस युग की
नाच रहीं दृग के आगे;

क्या-क्या भव्य मूर्तियाँ थीं वे,
जो अब काल-विलीन हुईं,
क्या ज्वलन्त प्रतिभा थी वह जो—
अब निष्प्रभ, श्रीहीन हुई,

सुसफलता - असफलताओं के—
पुंज, और गत-युग-वैभव,
अल्हड़ यौवन कहाँ ? कहाँ वह,
तेरा उच्छृंखल शैशव ?

१३७

तुम असफल थे ओ गत युग, तुम---
दारुण दुख थे, दाहक थे,
तुम आकुंचित थे, कुण्ठित थे,
असद्भाव - संग्राहक थे,
पर तुम मोहक थे, तुम में थी
निरलस् राजस् - कर्म्मठता,
तुम में दृढ़ता थी, साहस था,
बल था, अहंभाव-हठ था,
तुम में, चरम वेदना भी थी,
आशंका, पीड़ा भी थी,
पर, प्राणों से खेल खेलने--
की तुम में क्रीड़ा भी थी ।

१३८

अब यह आया है नवीन युग,
कैसा है ? क्या है इसमें ?
नव-निर्माण, विश्व-मंगल की,
संचित आशा है इसमें,
देकर अपने वक्षस्थल का,
रंजित, गाढ़, उष्ण शोणित,
इस नवयुग को रामचंद्र ने
स्थापित किया, किया पोषित,
आओ, नवयुग, उन्नत मस्तक--
हो हम स्वागत करते हैं,
तेरे नव आदेशों को हम
शिर आँखों पर धरते हैं ।

१३९

बन्धन ? हाँ बन्धन-भंजन का
बल दे, ओ नवयुग वत्सर,
हर ले यह कायरता, हर ले--
यह आलस्य, मोह, मत्सर,

आत्म-समर्पण की अनहद-ध्वनि,
उठे विश्व के अम्बर में,
परम-मुक्ति की जगें लालसा,
जग में, सकल चराचर में,

हो जाने दे भस्म युगों के
आत्म - दीनता के बन्धन,
कम्पित होने दे हृदयों में
मुक्ति - भावना - सुस्पन्दन ।

१४०

चिर जीवन की, रुचिर मुक्ति की,
नव-आशा मन में धारे,
आए हैं हम सब जग जन-गण,
हर्षित नव-युग के द्वारे,

गत संस्कार जनित आलस है,
लक्ष्य दूर है झिलमिल - सा,
मार्ग विकटताओं से पूरित,
अति शूलित है, पंकिल सा,

पर, तव भृकुटि-विलास-प्रणोदन,
आर्यं, हमें सम्बल देगा,
इस पथ में, हे देव, आपका,
नाम हमें मंगल देगा ।"

१४१

यों कह सिंहासन पर बैठे,
नृवर विभीषण लंकापति,
और उठे अपने आसन से
वानरपति, किष्किन्धापति,
वे बोले, "लंकेश्वर, मैं हूँ–
शुद्ध अनागर, वनवासी,
है सौन्दर्यहीन मम भाषा,
निपट असंस्कृत, अबला-सी,
यदि श्री राम गुणोपचार का,
कर न सकू मैं सफल प्रयत्न,
तो न भाव दोषी हैं मेरे,
अपितु शब्द हैं निपट अकृत्स्न ।

१४२

किया राम ने जो वह, वे ही–
कर सकते थे, इस जग में,
भूमि- भार - अपहरण - भाव है
मण्डित उनके प्रति- डग में,
फूल- फूल उठती है उनके
चरण- परस से वसुन्धरा,
उनकी पद- रज से रंजित है
सारी प्रकृति परा - अपरा,
यह अज्ञान तिमिर - मोचन तो,
है दशरथ - नन्दन की टेव,
राम नाम भर से होता है
दृग-उन्मीलन तो स्वयमेव ।

१४३

मुझ वानर को 'वा' विरहित कर,
दिखलाया जग का कौतुक,
हिय में भर दी ज्ञान-पिपासा,
जागी प्रश्न-वृत्ति उत्सुक,
वृक्षों के फल खाते-खाते,
चाट पड़ी अब श्रुति-फल की,
राम-कृपा से हिय-दर्पण में,
शुद्ध रूप आभा झलकी,
किन्तु, राम के लिए नहीं यह
कोई बड़ा अनोखा काम,
जड़ता में चेतनता भरना
है उनकी क्रीड़ा अविराम।

१४४

हाँ, अब होगा, पति, हमारी -
कठिन परीक्षा का आरम्भ,
क्योंकि राम सामीप्याश्रित यह
अब न रहेगा दृढ़ अवलम्ब,
उत्तर जन-पद चौदह वर्षों—
से टकटकी लगाए है,
राम-पुनः-आगमन-पन्थ में,
निज दृग सुमन बिछाए है,
आज राम की उत्तर-यात्रा
लंका से होगी आरम्भ;
अथवा आज दाक्षिणात्यों का
हृदय-भवन होगा निस्तम्भ।

१४५

आर्य राम की अनुपस्थिति में
हमें स्वधर्म निभाना है,
राम - निदर्शित पुण्य-मार्ग से
हो कर हम को जाना है,
यदि हम सब हैं राम-शिष्य तो,
सावधान हम रहें सदा,
जागरूक हम रहें निरन्तर,
अलस न होवें यदा–कदा,
राक्षस-पति, वानर-पति, नर-पति,
जग-पति राम, हमें बल दो,
जिससे, प्रभु, तव विकट तपस्या
भूमण्डल में सुसफल हो।

१४६

हे निर्बन्ध, बाँध कर रख लें
तुमको हम इस जन-पद में,
निस्सीमित को मचल-मचल हम
बाँधे छोटी-सी हद में,
बार-बार यों उठ आते हैं
विकल हृदय में भाव, प्रभो,
तुम जानो हो, देव, सभी कुछ,
तुम से नहीं दुराव, प्रभो,
आर्यावर्त्त वासियों के प्रति
होगा यह अन्याय निरा,
इसीलिए, 'रह जायें प्रभु,' यों–
कहते होती मूक गिरा।

१४७

क्या होगा उस समय यहाँ पर
जब श्रीराम-गमन होगा ?
सूनी - सूनी लंका होगी,
सूना दक्षिण वन - होगा,
किन्तु राम-लीला अविकल है,
अविचल, नित्य अकम्पित है,
जीवन - सूत्र हमारे सबके,
प्रभ - इच्छा - अवलम्बित हैं,
देव, पधारो, अवध-जनों के——
हृदयों में आनन्द भरो,
चौदह वर्षों का सांघातिक
यह वियोग का फन्द हरो ।"

१४८

राम चरण वन्दन करके जब,
बैठे श्री सुग्रीव कपीश,
उठी सभा में हर्ष - ध्वनि तब,
जय-जय रामचन्द्र, जगदीश,
हुई विसर्जित राजसभा वह,
करती रघुपति का गुण-गान,
राम-गमन की आशंका से
थे सबके मुखमण्डल म्लान,
उधर दुर्ग में केतु - विमण्डित
सज्जित पुष्पक वायु-विमान,
सूचित करता था कि राम की
यात्रा-घटिका पहुँची आन ।

१४९

वह देखो आसीन हुए हैं
पुष्पक में सिय - राम - लखन,
देखो, लंकेश्वर करते हैं
रघुपति को अन्तिम वंदन,

श्री लक्ष्मण से भेंट रहे हैं
धीर विभीषण विचलित से,
वह देखो, कुछ ढरक रहे हैं—
आंसू - मुक्ता विगलित से,

वह देखो, वह उठा भुमि से
राजहंस - सा पुष्पक - यान,
वह देखो, वह चला लंक से
मँडराता वित्तेश - विमान ।

१५०

चढ़-चल, चढ़-चल, अरी कल्पने,
सीता-पति के सँग-सँग तू,
सुन्दरि, गगन-चारिणी बन कर
निरख-परख अम्बर रँग तू,

उड़ी चली चल कोशलपुर तक,
बदती होड़ वायु-गति से,
सुन, हँस कहती हैं कुछ, सीता,
श्री उर्म्मिला-प्राण-पति से,

शन्य गगन में अमित हिय भरी
लहरा रहीं वचन-ध्वनियाँ,
देवर-भाभी के वचनों से—
बरस रहीं मधु-रस क़नियाँ ।

१५१

"देवर ?" "हाँ कल्याणि !" "कहो
क्या बात उठ रही है मन में ?
अब तो यह महदन्तर घटता
जाता है प्रति क्षण-क्षण में,"
सुन सीता के वचन सुलक्ष्मण,
इकटक उन्हें निहार रहे,
चिन्तन-नींद भरे- नयनों में
अकथित बात विचार रहे,
"क्या देखो हो मुझको, देवर,
यों तुम सोए-सोए से ?
सतत जागरण-थकित लगो हो
तुम तो खोये - खोये से ।

१५२

गुडाकेश, कुछ बोलो तो जी,
यों न निहारो ठगे-ठगे,
कहो, हो रहे हैं क्यों ये दृग
कुछ सोये, कुछ जगे-जगे ?
क्या हिय में आ बैठी कोई
सुघड़ नींद की ठकुरानी ?
क्या लंका के किसी झरोखे
लगन रह गई अरुझानी ?
अथवा क्या कोई वनबाला
कुछ टोना कर गई, कहो ?
किसकी यह संस्मृति नैनों में
अलस चाह भर गई, अहो ?"

१५३

"भाभी," यों श्री लक्ष्मण बोले,
विहँस मधुर वचनावलियाँ,
"भाभी, यदि ऐसी ही भोली
होतीं ये विदेह ललियाँ,
यदि, यों सहज छोड़ देतीं ये
रघुकुलजों का हिय-आसन,
तो क्यों आज लंक में होता
बन्धु विभीषण का शासन ?
बाँध दाशरथियों को रखतीं
हैं विदेह की नन्दिनियाँ,
बड़ी चतुर हो तुम मैथिलियाँ,
हो तुम सब मायाविनियाँ।

१५४

कैसा लंक झरोखा, भाभी ?
और कहाँ की वनबाला ?
क्यों भटके वह, जिसन पहनी--
श्री मिथिला की वरमाला ?"
"पर लालन, एकाधिकता तो
है रघुकुल की रीति, अहो,"
"यदि भाभी को सौत चाहिए,
तो अग्रज से कहूँ, कहो ?"
"अपनी चिन्ता करो, ललन हे,"
"पर, पथ दर्शक तो हैं वे,"
"पर उस शूर्पणता के मन के
चिर आकर्षक तो हैं ये।"

१५५

"होने को थी सौत तुम्हारी,"
"वह दे-रानी बन न सकी।"
"कैसे बनती? उस विचार
को जब जेठानी सह न सकी?

बहन-बहन सब मिल बैठी हैं
बन दे - रानी - जेठानी,
अब औरों की गुज़र कहाँ? क्यों—
है न ठीक, भाभी रानी?"

"तो यों कहो कि बहन ऊर्म्मिला
की स्मृति में ही हो डूबे,
अब समझी, हो इसीलिए यों—
उत्सुक से, ऊबे - ऊबे।

१५६

मैं समझी थी कि तुम हो गए
लालन, पूरे वैरागी,
समझी थी कि बन गए हो तुम—
निरे उकठ, नीरस, त्यागी।

देख तुम्हारी विकट साधना,
मुझे हो गया था भ्रम, जी,
पर, मन-मन फोड़ा करते थे—
तुम लड्डू, यह अब समझी,

धन्य भाग्य ऊर्म्मिला बहन के,
ऐसा ढोंगी पति पाया,
भीतर-भीतर रस, ऊपर से—
फैलाई यह यति-माया।

१५७

सच बोलो, क्या करते हो तुम
सदा ऊर्म्मिला का ही ध्यान ?
योग-साधना में भी क्या है,
सदा ऊर्म्मिला का प्रणिधान ?"
"भाभी, तनिक राम से पूछो,
क्या हो जाता है मन में,
कैसे 'सीते' 'सीते' करते,
विचरे थे वे वन-वन में,
मैं तो फिर भी छोटा ही हूँ,
मेरी कौन बिसात, अहो,"
"अजी, बता दो तुम्हीं, न सकुचो
देवर, मन की बात कहो।"

१५८

"मन की बात ? देवि, वह कबकी
पैठ गई है हिय-तल में,
भस्म हो चुके हैं विकारमय
सकल भाव ज्वलितानल में,
कथन - प्रेरणा - अन्तस्तल में,
निद्रित-सी, आलस-सी है
मन की बात, क्या कहूँ तुम से,
वह सचमुच नीरस-सी है,
जिसे रसज्ञ सुरस कहते हैं
वह रस सूख गया कबका,
अब है रहा एक रस केवल,
भाभी, अपने मतलब का।

१५६

नवरस से जो परे परम रस,
इन्द्रिय की गति जहाँ नहीं,
भाभी, आत्म-रमण की लीला
अब होती है वहीं कहीं,
दारुण दाह मिटा अन्तर का,
मन का संभ्रम दूर हटा,
यौवन-मदिरा उतर गई है,
सत्य-नेह हिय में प्रकटा,
अमल सलिल में मैं डूबा हूँ,
दरस - पिपासा मृता हुई,
तो क्या विस्मृत हुई ऊर्म्मिला ?
नहीं, सुरति-संस्कृता हुई ।

१६०

नहीं ऊर्म्मिला विस्मरणीया,
नाम-सुमिरिनी वह मेरी,
कैसे विस्मृत हो वह जिसकी,
मालाएँ मैंने फेरीं ?
उसका तो विस्मरण, देवि, है
आत्म-विमोहित हो जाना,
श्री ऊर्म्मिला-रूप-विस्मृति है
मोह-नींद में सो जाना,
मैं निद्रापति, जीत चुका हूँ—
आत्म-विमोहन की पीड़ा,
बरसों से हो रही देवि यों—
जागरूकतामय क्रीड़ा ।

१६१

कैसे हो ऊर्म्मिला-विस्मरण,
कैसे छूटे उसका ध्यान ?
उसका सत्य सनेह बना है
मम आत्मोन्नति का सोपान,
उसके सन्नेहाश्रय से ही
मैंने पाई मुक्ति भली,
उसके एक सहारे से ही
मम तप-साधन-बेलि फली,
देवि, ऊर्म्मिला ने ही दी है,
चिन्तन एकाग्रता यहाँ
उसके बिना भटकता फिरता
मन ना जाने कहाँ-कहाँ ?

१६२

मुझे परमपद की समीपता,
स्नेहमार्ग से मिली भली,
भाभी, अब वह द्वन्द्व-रूपिणी,
मन - संभ्रम - भावना टली,
दूर-पास का भेद मिट गया,
दर्शन - उत्सुक - दाह मिटा,
हिय में पिय रम गए लखन के,
आतुर नैन - प्रवाह मिटा,
छटा निखर आई जगती की,
उसका वक्र कुरूप मुआ,
जगत ऊर्म्मिला-मय सनेह-मय,
चिदानन्द घन रूप हुआ !"

१६३

"तो क्या दरस लालसा, लालन,
तुम्हें सताती तनिक नहीं ?"
"हाँ-नांहीं में दे सकता हूँ,
इसका उत्तर क्षणिक कहीं ?
स्वयं विदग्धा हो तुम, भाभी,
तुम कर चुकीं तत्व-दर्शन,
तुम सब कुछ जानो हो, कैसा--
होता है हिय-संघर्षण,
कैसे कहूँ कि रंच नहीं है
हिय में दरस-चाह अवशेष ?
किन्तु चाह में दाह नहीं है,
नहीं अशान्ति-भ्रान्ति का लेश ।

१६४

मिलन-चटपटी, लगन-अटपटी,
दरस-टकटकी है बाकी,
पर अब होने लगी लगन को,
सभी ठौर पिय की झांकी,
सत्य प्रेम की सुसफलता मय
यह निर्वैर-वृत्ति जागी,
दूर-पास सब जगह हो गया
लखन, ऊर्म्मिला-अनुरागी,
देवि, ऊर्म्मिला के सनेह ने
दी है मुझको शान्ति अमित,
उसने ही हिय मध्य किया है
'सोऽहं' अनहद नाद ध्वनित ।

१६५

जब निकला था घर से तब थी
विप्रयोग की तीव्र जलन,
होता रहता था संस्मृति के
संस्कारों से हृदय - दलन,
घिर-घिर आती थीं क्षण-क्षण में
मन-मन में सौ-सौ स्मृतियाँ,
याद बनी आ-आ जाती थीं
क्रीड़ा - ब्रीड़ा की कृतियाँ,
वह आतुरता मय हिय-कम्पन,
भाभी, अब प्रियमाण हुआ,
अब तो केवल शुद्ध प्रेम का—
ध्यान-योग मय ज्ञान हुआ ।"

१६६

"पर उस विगत-काल में भी है,
देवर, कितना आकर्षण ?
उसकी स्मृति से हो उठता है
अब भी मुझे रोम-हर्षण,
घर से निकले थे यौवन के
सुख-दुख को ले के सँग में,
अब फिर घर को चले रँगे से,
प्रौढ - भावना के रँग में,
वे पहाड़ सम चौदह वत्सर,
वे भी लंघित हुए, ललन,
खूब नयन भर-भर कर देखा—
काल - चक्र का चलन-कलन ।"

१६७

''निश्चय भाभी, स्मृति अतीत की,
संमोहक, आकर्षक है,
पुनः स्मरण उन गत दिवसों का,
निश्चय ही हिय-हर्षक है,

अब ! तब ! ओफ़्फ़ो! कितना अन्तर!
कितना घटना - पूरित काल ।
कितनी-कितनी कठिन परीक्षा !
कितने-कितने जग-जंजाल !

देवि, हृदय भी हम लोगों का
क्या विराट रंग-स्थल है ?
कौन कहेगा इसको, भाभी,
कि यह हमारा हृत्तल है ?

१६८

नहीं रहा यह हृदय, हृदय अब
है इतिहास - ग्रन्थ यह एक,
जिसके कम्पन - पृष्ठांकित है,
नर-श्रम कथा अनन्त, अनेक,

क्या पुराण, इतिहास बना है,
हम सबका गत हिय-कंपन,
प्रति-प्रति कम्पन में नवरस के
संघर्षण का है अंकन,

मानवता की प्रगति, परागति,
श्रान्ति, क्रान्ति सब अंकित है
हिय-इतिहास-ग्रन्थ का, भाभी,
पृष्ठ-पृष्ठ अति रंजित है ।

१६९

अति चित्रित है चित्त-चित्रपट,
झलक रहे हैं रंग कई,
चित्रलिखे-से लख पड़ते हैं
मन के भाव अनंग कई,
रेखांकित हैं भूमि-भार-हर
कृतियाँ ये सँग-संग कई,
कहीं सघन-वन, कहीं कुटी है,
कहीं तुंग गिरि-शृंग कई,
बाधाओं से आच्छादित हैं
रघुकुल-कमल-पतंग कहीं,
कहीं राम - सीता - लक्ष्मण के
हिय की प्रगट उमंग रही ।

१७०

नयनों के सम्मुख जब आता,
उन गत दिवसों का यह चित्र,
हे भाभी, तब हो जाती है
मेरे मन की दशा विचित्र,
भूल-भुलैया में फँसती हैं
मनोवृत्तियाँ लक्ष्मण की,
मनोमोहिनी, हृदय हारिणी,
हैं सब स्मृतियाँ गत क्षण की,
केवल इस अतीत की स्मृति पर
है अवलम्बित मानवता,
स्मरण-पुंज कर नर को प्रकटी
या माधव की माधवता ।

१७१

वह अनुभव शून्यता, देवि, वह–
वन-जीवन की प्रथम घड़ी,
उपालम्भ दे रही आज भी,
वह वन-पथ में खड़ी-खड़ी,

प्रथम दिवस जब तुम्हें श्रमित लख,
करुणा-सिन्धु हुए विचलित,
तब मेरा पाषाण-हृदय भी,
देवि, हो गया था विगलित,

हम दो भूलों को सँग में ले
निकले थे रघुवर ज्ञानी,
लौट रहे हैं आज संग ले
अनल परीक्षित दो प्राणी।

१७२

यौवन गया, प्रौढ़ता आई,
प्रश्न गया, उत्तर आया,
आँखें खुलीं, अँधेरा भागा,
हमने जीवन भर पाया,

यौवन की अन्वेषण-पीड़ा,
प्रखर दुपहरी का वह त्रास,
हर ले गया, देवि, जीवन के–
चौदह वर्षों का वनवास,

इस अपराह्न काल में, भाभी,
सजग शान्ति का आसव है,
जीवन के कृतकृत्य भाव का
इसमें संचित अनुभव है।

१७३

जीवन के अपराह्न काल में
दारुणता का शल्य नहीं
इसमें गति है, निरलसता है,
पर वह औच्छृंखल्य नहीं,

गति में भी थिरता है, यति है,
अब कृति में भी निष्कृति है,
रति में भी है अरति निरन्तर,
अब स्मृति में भी विस्मृति है,

राम कृपा से सहज उदासी
अमल वृत्तियाँ जागी हैं,
अब लक्ष्मण अनुरागी भी हैं
एवं पूर्ण विरागी हैं।

१७४

नहीं ऊर्म्मिला है अब 'मेरी',
वह—मैं एक स्वरूप हुआ
जैसे रघुपति का स्वरूप वह—
सीता-रूप अनूप हुआ,

सीता बिन यह राम-नाम ध्वनि
निपट अधूरी है जग में,
सीता-राम, पूर्ण-ध्वनि बन कर
प्रकटी रसना के मग में,

सीता-राम, ऊर्म्मिला-लक्ष्मण,
एक रूप बन गए सभी,
अपने को खोया जंगल में—
अच्छे हम वन गए सभी।

१७५

इसीलिए अब, देवि, नहीं है,
वह मिलनोत्कण्ठा का दाह,
पीतम छाए हैं अन्तर में,
रही न 'क्वासि? क्वासि?' की चाह,

सतत प्रयत्नों से पाया है
स्नेहोदधि का थाह-अथाह,
पैठ गया हूँ अतल-वितल लौं,
अब क्यों कढ़े वेदना आह?

यौवन सरिता मिली सिन्धु में
अब क्यों आवे उलट प्रवाह?
पूर्णं वैपूर्णग्वं स्वाहा !!
अब कैसा प्रवाह-उत्साह?

१७६

उस अशोक उपवन में तुमने,
वरदे, परम सिद्धि पाई,
इधर विजन में रामानुज ने
अपनी सुध-बुध बिसराई,

राम ? राम तो सदा एक रस,
पर, तप-साधन उनका भी,–
परिपक्वावस्था को पहुँचा,
है इस जंगल में, भाभी,"

"और, लखन, उनकी गति क्या है
जो रह गए अवधपुर में?
'एकोऽहं'–भावना जगी है,
क्या उन सबके भी उर में?"

१७७

"देवि, आग में नहीं तपे क्या,
बान्धवगण निज नगरी के?
वे जन भी क्या, देवि, नहीं हैं,
पथिक हमारी डगरी के?
आत्माहुति है नहीं अनोखी,
हम लोगों का ही सौभाग्य
अवधपुरी में भी प्रकटा है
यह अनुरागपूर्ण वैराग्य,
यज्ञ-हुताशन धधक रहा है
राम-लखन के घर में भी,
ज्वलिता है चौदह वर्षों से
वेदी अवध नगर में भी।

१७८

सतत तप रहे हैं यह धूनी,
चौदह वर्षों से वे भी,
क्यों न जगे फिर, देवि? एक-रस–
पूर्ण भावना उनमें भी?
वे भी सभी अवश्य हुए हैं
नित अनुरागी-वैरागी,
निश्चय ही उन सबके हिय में
है निर्भ्रान्त वृत्ति जागी,
इस तप-साधन से प्रकटे हैं
कई नरोत्तम अब जग में
पुरुषोत्तम ही पुरुषोत्तम अब,
तुम्हें मिलेंगे जग-मग में।

१७९

नर को नारायण कर देना,
यही राम की लीला है;
इसीलिए यह दैहिक बन्धन,
अब कुछ ढीला-ढीला है,

भरत-माण्डवी, रिपुसूदन-श्रुति-
कीर्त्ति, हमारी सब माएँ–
पुरुषोत्तम रूपिणी हो गईं
सकल अवध की ललनाएँ।

राम नेह-रत अवध-निवासी
राम-रूप हो गए भले,
एक तपस्या के झटके में
सब जग के जंजाल टले।"

१८०

"लक्ष्मण, हाँ, वास्तव में तुम अब
हो बन गए बड़े ज्ञानी,
खूब-खूब आती है, लालन,
तुम को गुत्थी सुलझानी,"

"यह प्रमाण पत्रिका, देवि, तुम,
दो मम अग्रज को जाके,
वे प्रसन्न हो तुमको देंगे
कुछ उपहार बड़े बाँके,"

"उन से तो उपहार बहुत से–
पाए, कुछ तुम भी तो दो,"
"क्या है मेरे पास ? देवि, है–
यह प्रणाम, लेना हो, लो।"

१८१

"नहीं विनोद, सत्य कहती हूँ,
तुम तो, ललन, बिना श्रम ही,–
करते हो तत्त्वार्थ-निरूपण,
अपने अग्रज के सम ही;"
"वत्सल कृपा तुम्हारी है यह,
जो तुम ऐसा कहती हो,
भाभी, मुझ पर तुम अनुकम्पा
सन्तत करती रहती हो,
है पैतृक सम्पदा तुम्हारी
यह तत्वार्थ निरूपण, देवि,
मैथिल - महाप्रसाद - राशि से
मैंने पाए कुछ कण, देवि।

१८२

वैदेही के पिता और पति,
ये दो मम पथ-दर्शक हैं,
राम सहायक हैं साधन के,
जनक विचार विमर्शक हैं,
देवि, तुम्हारे भर्त्ता, कर्त्ता,
ये दो ही दुखहर्त्ता हैं,
मैथिलि, तव पति, पिता, यही दो–
भवसागर उद्धर्त्ता हैं,
राम, जनक की पुण्य कृपा से
मैंने निज स्वरूप जाना,
नेत्रोन्मीलन किया उन्हीं ने,
तब अपने को पहचाना।"

१८३

"चाहे कुछ भी कहो लखन, पर–
ज्यों-ज्यों घटता है अन्तर,
ज्यों-ज्यों अवध निकट आती है,
त्यों - त्यों कँपता है अन्तर,
सास मिलेंगी, बहनें होंगी,
भरत मिलेंगे, ओ लालन,
उस क्षण हिय का कैसे होगा
निश्चल धीरज - व्रत - पालन ?
तनिक सम्हाले रखना, होऊँ–
कहीं न मैं बौरानी-सी,
कहीं न हो जाऊँ मैं, लालन,
खोई - सी, अरुझानी - सी।

१८४

मैं विचलित - सी हो जाती हूँ,
सोच - सोच वह मिलन-घड़ी,
देवर, उस घटिका में होगी,
हृदय - परीक्षा बड़ी कड़ी,
यदि धीरज से सहज सह सकूँ,
उस क्षण की ममता, माया,–
तब समझूँ मैं हुई अलिप्ता,
सच्ची धीर राम - जाया,
तुम नर, तव अग्रज नारायण,
निर्विकल्प हो तुम जिय में,
तुम क्या जानो क्या होता है,
देवर, नारी के हिय में ?"

१८५

"देवि, तुम्हारे नर-नारायण,
नारी से ही लालित हैं,
नारी - नेह - अश्रु से उनके,
अंग - अंग प्रक्षालित हैं,
नारी के ही हाड़ - माँस से
उनका यह अस्तित्व बना,
रग-रग में हो रहा प्रवाहित
नारी ही का रुधिर घना,
नारी उनकी पोषण - कर्त्री,
नारी नेह - नीर - भर्त्री,
नर - नारायण तप - साधन की
नारी ही बाधा - हर्त्री ।

१८६

फिर वे भला क्यों न समझेंगे,
नारी के हिय - भावों को,—
जिनने लगा दिया स्त्री के हित,
अपने जीवन - दावों को ?
हम नारी - सुत, नारी तो है—
हृदयवल्लभा जीवन की,
क्यों न समझ पाएंगे बातें
सब हम नारी के मन की ?
भाभी, खूब समझता हूँ मैं,
तव मृदु हृदय-विकम्पन को,
पोष्य पुत्र हूँ मैं सीता का,
समझूँ जननी के मन को ।"

१८७

"बलि - बलि जाऊँ, मेरे लालन,
यह सुन कर मैं धन्य हुई,
तुम को पाकर मम वत्सलता,
कब की, वत्स, अनन्य हुई,
पर तुम विलग न मानो, मेरे–
हिय में है कुछ ऐसी बात,
कि नर, नारियों के हृदयों की,
नहीं समझ पाते हैं, तात,
नारी - हृदय-परख, पुरुषों की,
है केवल मस्तिष्क - प्रसूति,
मानूँ हूँ मैं कि है कदाचित
उस में नहीं हृदय - अनुभूति।

१८८

हृदय - सिन्धु नारी का जैसे
उफन पड़े है, हहर - हहर,–
विकट ज्वार - भाटे की उस में
जैसे उठती तुंग लहर,–
जो कम्पन उस में होता है,
जैसी होती है तड़पन,–
जैसे रसरी तुड़ा-तुड़ा कर
वह अकुलाता है क्षण - क्षण,–
त्यों संभवतः नर हृदयों में
खर अनुभूति नहीं होती,
पुंभावना, कदाचित नर की
अपना रूप नहीं खोती।

१८९

इसीलिए कहती रहती हूँ,
देवर, मैं अपने जिय में,
नर क्या जाने क्या होता है,
नारी के कम्पित हिय में,
यह न्यूनता नहीं पुरुषों की,
यह तो है उन का भूषण,
नहीं मानती हूँ मैं इस को,
पुरुष जातियों का दूषण,
नर यदि है खर दोपहरी, तो,
नारी है शीतल छाया
नर - नारी दो रूप बना कर
प्रकटी है विभु की माया।"

१९०

"देवि, यदि न हों स्वीकृत मुझ को
वैदेही के ये सुविचार,
तो न समझना रंच इसे भी,
केवल मम मस्तिष्क - विकार,
तुमने बड़ी तत्त्व की बातें
कह दी हैं, भाभी, इस बार,
क्षमा करो यदि मैं न कर सकूँ
उन सब को सहसा स्वीकार,
है अवश्य ही नर-नारी के—
भिन्न रूप का भेद यहाँ,
पर, अक्षर, अव्यक्त, आदि में
नर-नारी का भेद कहाँ ?

१६१

आदि-अन्त तो भेद रहित है,
केवल मध्य भेदमय है,
इसीलिए इस मध्य-काल में,
भेद-विभेद, खेद-मय है;
भेद-खेद के परे पहुँचना,
यही समन्नुति है जन की,
नर-नारी हो, नारी-नर हो
यही सुगति है जीवन की,
नर-नारी दोनों में दोनों
झलक उठें जब बरबस-से,
तभी समझिए कि यह हुआ है
हृदय प्रपूर्ण एक-रस से।

१६२

विकसित पूर्ण पुरुष वह, जिस में,
हो नारी की परछाईं,
जो जग-जन की हृदय वेदना,
समझे नारी की नाईं,
जिस की सर्वभूत-हित-रति में
हो नारी-हिय का कम्पन,
जिस की आँखों में जग देखे
माता की छवि का अंकन,
देवि, नरोत्तम है वह, जिसमें
हो नर-नारी का मिश्रण,
ऐसे ही नर-वर भरते हैं
जग का स्रवित-वेदना-व्रण।

१९३

वह नर तो वानर है, जिस में—
नारीपन का अंश नहीं,
वह है उपल, नहीं हिय, जिसमें—
सह - संवेदन - दंश नहीं,
प्रतिविकसित नर में रहती है,
कुछ नारीपन की झाईं,
उसी तरह ज्यों विभु में बिम्बित,
प्रकृति-नटी की परछाईं,
पुरुष नहीं है टोली केवल,—
वानर, विपिन-चरों की, देवि,
अतः नहीं मस्तिष्क-मात्र से
है अनुभूति नरों की, देवि !

१९४

भरत सदृश योगेश्वर की तुम
योग - नोदना हो, भाभी,
विकट तपस्वी लक्ष्मण की तुम,
ज्ञान - बोधना हो भाभी,
पावक सम तुम परम पवित्रा,
अनल दीक्षिता, तेजमयी
सब कुछ देख चुकी हो तुम अब,
रही कौन - सी बात नयी ?
एक बार हो सहन कर चुकीं
तुम यह पुनर्मिलन - पीड़ा,
एक बार फिर और सही, यह—
प्राणों की आकुल क्रीड़ा।

१९५

निश्चय, वरदे, स्वजन-मिलन का,
होगा बड़ा विकट अवसर,
निश्चय, उस क्षण हृदय हमारे,
बरबस उमड़ेंगे, भर - भर,

निश्चय प्राणों में आकुलता,
चंचलता, होगी तड़पन,
निश्चय, भाभी, इन हृदयों में
मच जाएगा भीषण - रण,

पर तुम हो विदेह की बेटी,
पुत्रवधू हो दशरथ की,
तुम हो सहगामिनी राम की,
विकट साधना के पथ की।

१९६

तव तपस्विनी अनुजा जिस क्षण,
दृग में संचित नेह भरे,—
सम्मुख आ जाएगी, भाभी,
उस क्षण ईश सहाय करे,

यदि उस क्षण यह गलित न होवे
चौदह वर्षों का वैराग्य,
यदि रह सकूँ अचंचल उस क्षण,
समझूँगा मैं अपने भाग्य,

भाभी, प्रथम, सीय-दर्शन-क्षण
अग्रज की वह निश्चल मूर्ति,
मुझे ऊर्म्मिला-प्रथम-दरस-क्षण
निश्चय देगी बल की स्फूर्ति।

१६७

देवि, न समझो कि मय हृदय में,
तव हिय सम अनुभूति नहीं,
मत समझो कि नरों के हिय में,
नारी - हृदय - विभूति नहीं,
वही विकलता, वही विमलता,
वही सलिल-सा स्रोत यहाँ,
नारी-हिय-सम स्निग्ध भाव से,
हिय है ओत-प्रोत यहाँ,
देवि, यहाँ भी लगी हुई है,
कम्पित प्राणों में फाँसी,
नर के हिय में भी है सन्तत,
नारी के हिय की गाँसी ।

१६८

सीता के हिय का आन्दोलन,
लक्ष्मण अनुभव करता है,
और ऊर्म्मिला का हिय-कम्पन,
राम-हृदय में भरता है,
देवि, इधर दो नर-हृदयों में,
नारी का हिय कँपता है,
नारीपन की अग्नि-शिखा में,
नर-हिय निशि-दिन तपता है,
नर में नारी का न चिह्न तो,
मानव-प्रेम-धर्म क्या है ?
यदि नारी-पन न हो पुरुष में,
तो नर को नर क्यों चाहे ?

१९९

भाभी, तव नर-नारायण हैं,
स्वयं अर्द्धनारी - नटराज,
और अर्द्ध-नर-नटीश्वरी हो,
तुम-ऊर्म्मिला जगत में आज,
देवि, नहीं देखा क्या तुमने
अग्रज का वह नारी-रूप ?
उन की इस विशाल छाती में,
है नारी का हृदय अनूप,"
"दे···व··र" यों कहते ही कहते,
छलकीं सीता की आँखें,
और लखन के वचन-भृंग की
भींज गईं कोमल पांखें ।

२००

सखि, कल्पने, चला जाता है,
मन्थर गति से पुष्पक-यान,
उस पर से यह दीख पड़े है
धरती करती हुई पयान,
वह देखो, अब दीख रहा है,
कोसल जनपद का भू भाग,
जिसे देख कर आर्य राम का,
विचलित हुआ विदेह-विराग,
अब कुछ क्षण में ही पहुँचेगा
यान अयोध्या नगरी में,
और हर्ष - सागर उमड़ेगा
कोसलपुर की डगरी में ।

२०१

तुझ में यह सामर्थ्य कहाँ है
कि तू कर सके वह वर्णन ?
तेरे बस का नहीं, सखी री,
वह सम्मिलन रोम-हर्षण;

यही बहुत है कि तू आ सकी
सँग-सँग इस कोसलपुर तक,
बक मत अब, कर मिलन दरस तू
तन मन लोचन से छक-छक;

मिलन नहीं यह, अरी बावरी,
यह है पूर्ण आत्म-दर्शन,
कहाँ शक्ति है कि तू कर सके
इस विमुक्त रस का वर्षण ?

२०२

बरसों की वह प्यास-परीक्षा,
बरसों की वह हिय-तड़पन,–
बरसों की वेदना दिवानी,
बरसों का चिन्तन - कम्पन,

बरसों का वह सतत प्रतीक्षित
सम्मिलनोत्सुकतामय क्षण,
कौन कर सके चित्रित उसको
जब प्रतिपल होवे हिय-रण ?

नहीं कठिन कुछ चित्रित करना
विश्व-क्रान्तियों का चित्रण,
पर, कल्पने, असम्भव ही है
दिखलाना हिय का स्पन्दन ।

२०३

लखन-ऊर्म्मिला जब बिछुड़े थे
तब थे दो साधक पथ के,
खूब चले पथ में ये दोनों
बैठे रंच, न रंच थके;
अब जब मिले, सिद्ध थे दोनों
आरम्भिक चाञ्चल्य न था,
हृदय-मिलन-क्षण नयन अजल थे,
वहाँ हृदय चापल्य न था;
नयनों में अति नीरवता थी,
वाणी में था मौन परम,
हृदयों में अनुभूति-बोध था,
प्राणों में थी शान्ति चरम;

मन ही मन थे लखन निछावर एक ऊर्म्मिला की टक पे,
और ऊर्म्मिला न्यौछावर थी उनके एक चरण नख पे।

इति षष्ठ सर्ग

इति श्री ऊर्म्मिला समाप्त।

श्री ऊर्म्मिलाऽर्पणमस्तु

ॐ शान्तिः